# ज्ञानमणिः

## ( स्वयंप्रभा )



**ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज**

सम्पादक- डॉ. प्रेमप्रकाश लक्कड़

# महापुरुष का प्रसाद

॥ ॐ ॥

# ज्ञानमणिः

( स्वयंप्रभा )


*संकलकः–*

**ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराजः**


**त्वमेव माता च पिता त्वमेव,**
**त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।**
**त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,**
**त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।**


सम्पादक-

**डॉ. प्रेमप्रकाश लक्कड़**

प्रकाशक–
**राकेश कुमार, विनोद कुमार**
498/28 साउथ सिविल लाइन,
मुजफ्फरनगर, उ.प्र. – 251001
फोन नं. : 09359984709

**प्रथम संस्करण :** महाशिवरात्रि, 17 फरवरी 2015

सन्तावतार अनन्त श्री समलङ्कृत साङ्गत्रयी तत्त्वज्ञ, वात्सल्योदधिस्वरूप पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन ब्रह्मऋर्षि श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज का आविर्भाव स. १९७३ कार्तिक वदी एकादशी (रमा एकादशी) एवं ब्रह्मलीन स. २०६९ श्रावण शुक्ल द्वादशी को उन्हीं स्वेष्टदेव के पवित्रतम निर्वाणलब्ध पादारविन्दों में वैकुण्ठवासी अपने पूज्य माता-पिता (श्रीमती शकुन्तला देवी तथा लाला आनन्द प्रकाश जी) की पुण्यस्मृति प्रवाह रूप सुरसरिता में अवगाहित-श्रद्धार्द्र सिंघल परिवार की ओर से अचिन्त्य गुणगणमणि सम्पन्न चिन्तामणि रूपात्मक (ग्रन्थ) यह प्रसूनाञ्जलि समर्पित करते हुए विनयावनत हैं—

**त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये ।**
**गृहाण प्रीतिभावेन, प्रसीद परमेश्वर ॥**

**मूल्यम् :** प्रेम योग्यता च

मुद्रक–
**रेनबो प्रिंटर्स**
सिद्धगिरीबाग, वाराणसी ।

# प्रकाशकीय

ॐ

यह जो ज्ञानमणि (स्वयंप्रभा) ग्रन्थ भक्तों के हाथ में आने जा रहा है, उसके प्रेरक और करयिता श्रीमान् डॉ. प्रेमप्रकाश लक्कड़ जी है। जब मैं प्रेरक और करियता कहता हूँ तो तात्पर्य यह है कि प्रेरक और करियता दो नहीं होते यह सनातन वैदिक सिद्धान्त ही हैं।

महाराज श्री का चिन्तामणि नामक ग्रन्थ सात भागों में प्रकाशित हो चुका है, उसमें उनकी डायरी जिस रुप में थी यथावत प्रकाशित हुई है। और उनमें अनेक विषय जैसे ज्ञान, भक्ति, योग, उपासना और भी बहुत सी बात जैसे कुछ रोगों की औषधि आदि है।

लक्कड़ जी से विमर्श हुआ तो उन्होंने कहा कि इसमें ज्ञान, भक्ति, योग को अलग-अलग कर लिया जाये तो साधकों को आसानी हो जाये। और उन्होने ही इन सातों भाग को विभाजित करने का पूरा कार्य किया, उन्हीं के सद्प्रयास और कृपा का फल है कि ये पहला **'ज्ञानमणि'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है।

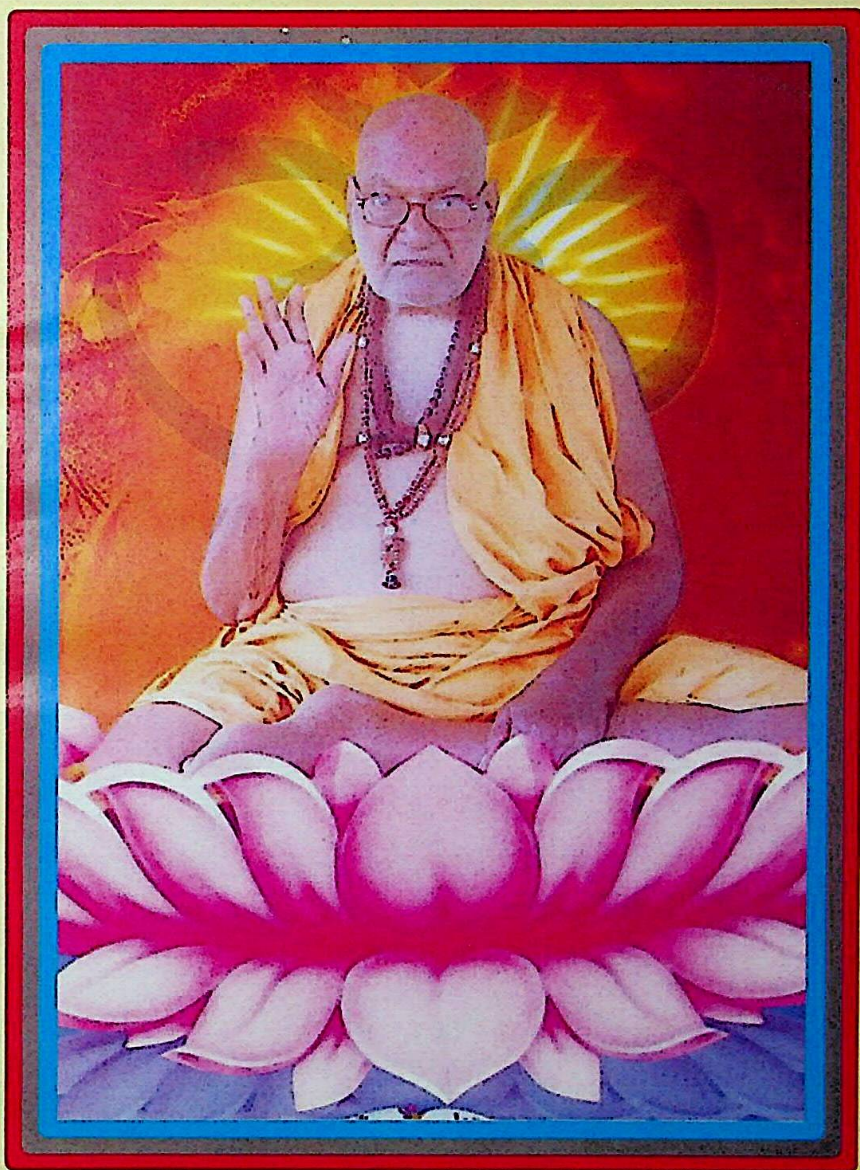
जहाँ तक महाराजश्री की बात है सरलता, विनम्रता उनके जीवन और उनकी शिक्षाओं के प्रेरक तत्त्व है, जिस सद्वस्तु के सार के सम्बन्ध में उनके वार्तालाप होते थे उसे वे अन्य सेवा में उतनी ही स्पष्टता से देखते थे, जितनी स्पष्टता से स्वयं में। वे तो इस वास्तविक स्वरूप को जानते है अपने आपसे भी और श्रोताओं के भी, वे इसी ओर संकेत भी करते थे, श्रोता प्रायः इसे देखने से वंचित रह जाता है क्योंकि वह समक्ष की वस्तु को अपरोक्ष देखने में अक्षम होता है। उसका सारा जानना उसकी इन्द्रियों से प्रेरित उसके मन के माध्यम से होता है। उसे यह सन्देह भी नहीं होता कि मन स्वयं एक इन्द्रिय मात्र है। मन का जो कि स्वभाव से ही 'यह' अथवा 'वह' होने का दूसरा नाम है। 'यह' अथवा 'वह' हुए बिना ही 'यहाँ' अथवा 'वहाँ' हुए बिना ही 'तब' या 'अब' हुए बिना ही काल रहित सत्ता की तरह रहते हुए अपनी इस सत्ता को पहचानकर उससे परे चला जाना होगा।

यह काल रहित सत्ता ही जीवन और चेतना दोनों का आधार है। काल, स्थान और कारण के रुप में चूँकि यह कारण निरपेक्ष, सर्वव्यापी, सनातन आदि कारण है, अतः उस दृष्टि से अनादि अन्त रहित नित्य विद्यमान रहने के रुप में यह सनातन है। अपने आदि कारण होने से यह परम मुक्त है। सर्वव्यापी होने से यह ज्ञान स्वरुप है और अविमुक्त रहकर प्रफुल्ल है। यही जीवन की तरह जीती, प्रेम करती है और जगत का एक से दूसरे रुप में हो रहा परिवर्तन इसके ही अन्तर्गत है। यह प्रत्येक के परम सानिध्य की निधि है, प्रत्येक मनुष्य यही है, परन्तु सभी अपने आपको उस रुप में नहीं जानते जैसे कि वे स्वरुपतः है और इसलिए अपनी देहों के नाम, रुपों और अपनी चेतना की अन्तर्वस्तुओं से अपना तादात्म्य कर बैठते हैं।

और तो इसमें क्या कहा जाये चूंकि इस पूर्ण ग्रन्थ का विषय यही है। शेष शुभ!

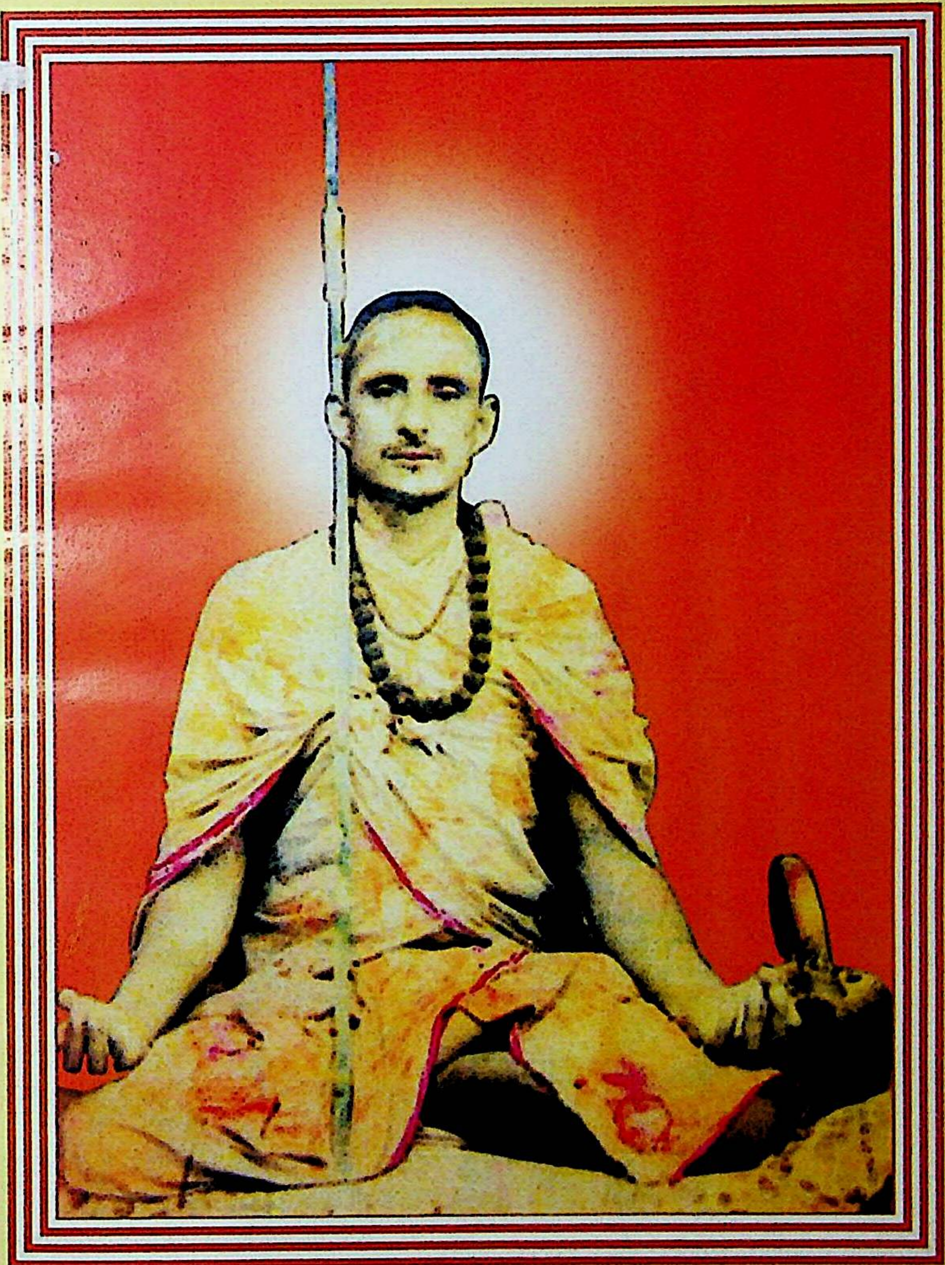
गुरुकृपाधनसम्पन्नः

पवन कुमार



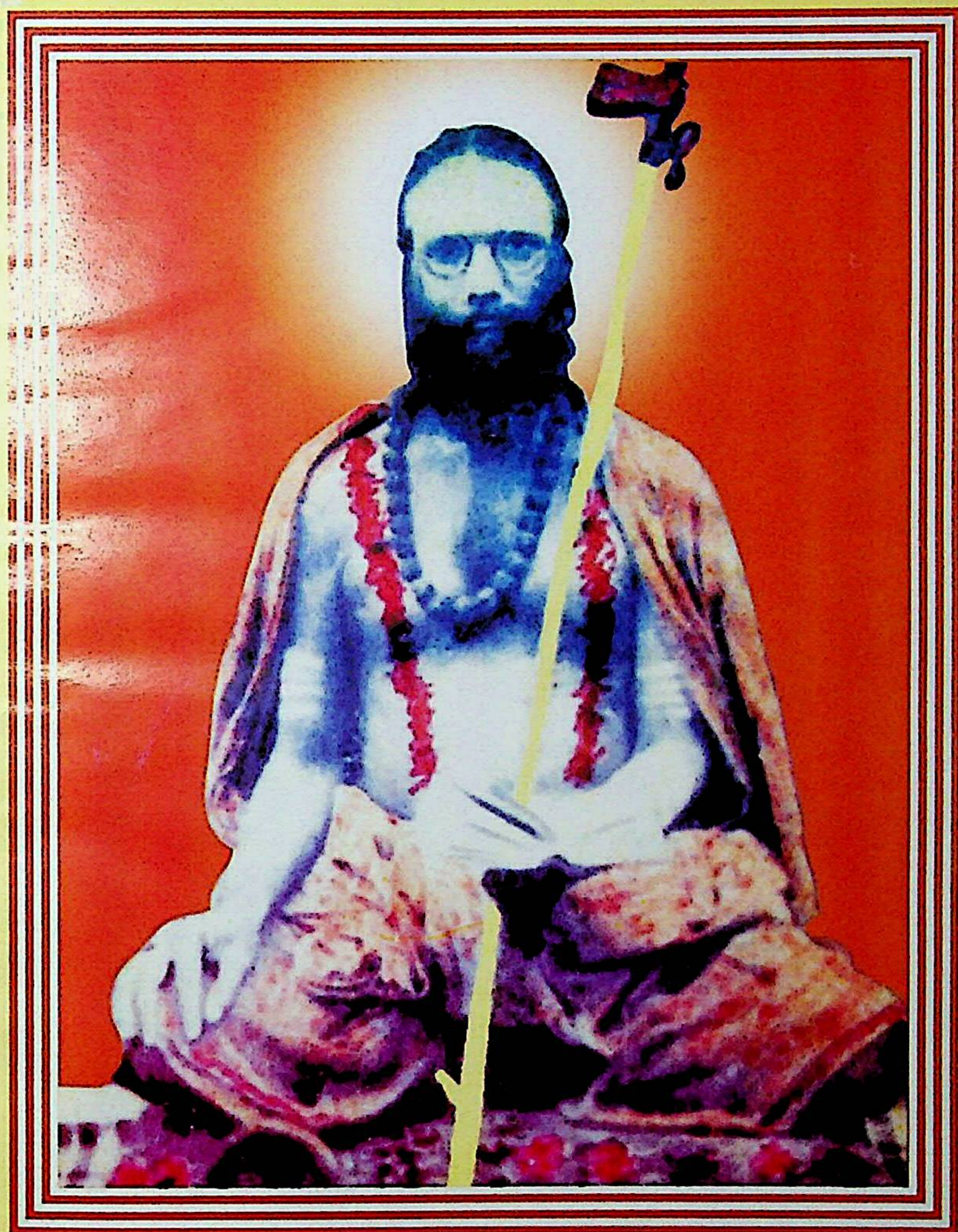
अखिल-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परात्पर परब्रह्म सद्गुरुदेव
ब्रह्मलीन ब्रह्मऋषि श्रीलश्येश्वर आश्रमजी महाराज



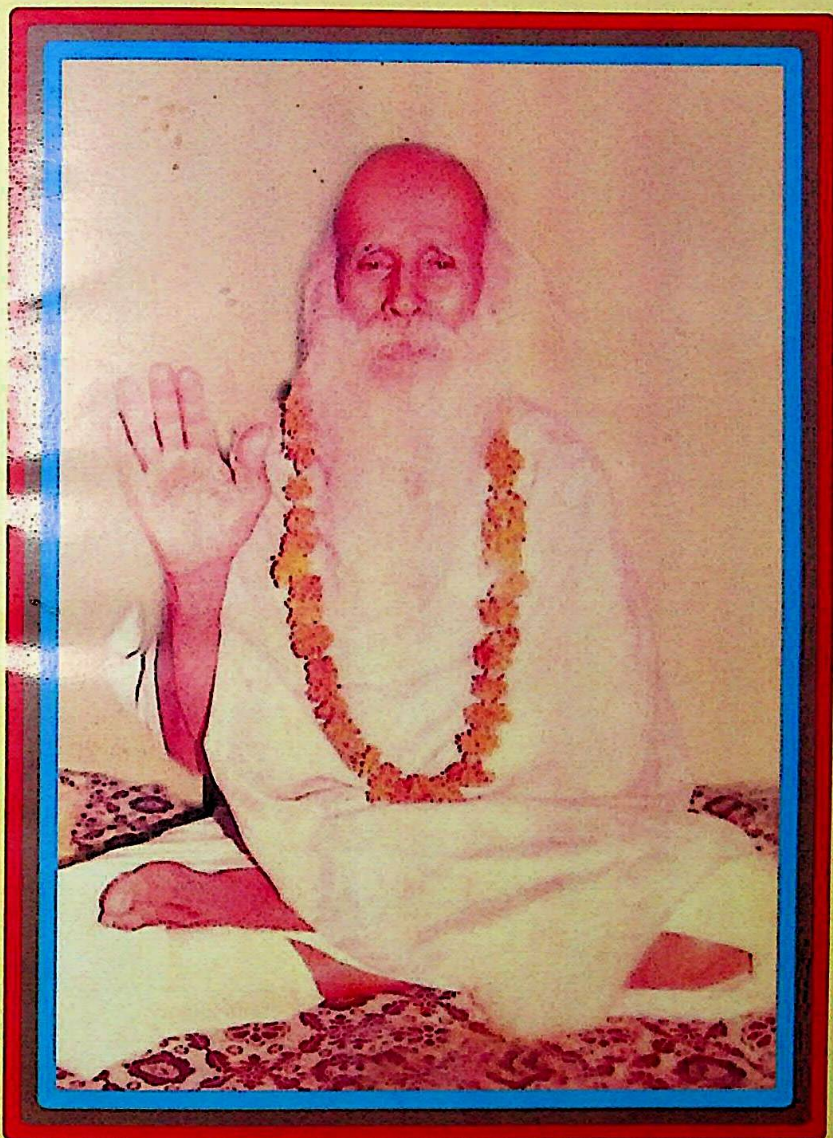


ब्रह्मलीन परम सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्रीशान्तबोध आश्रमजी महाराज





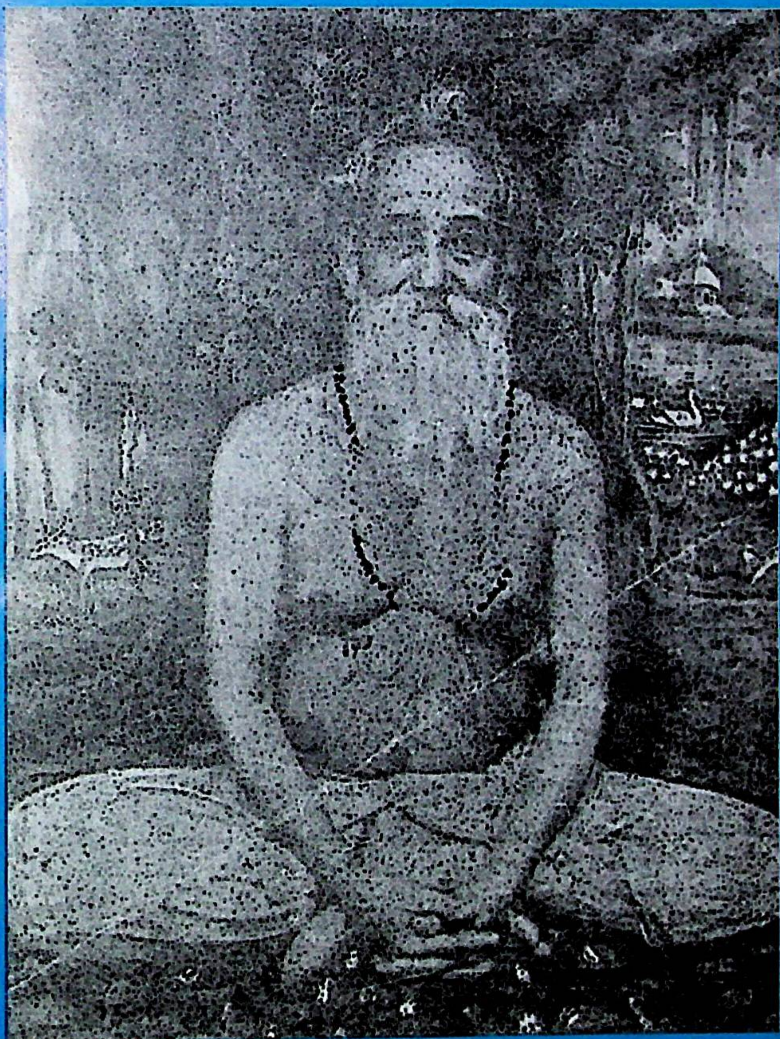
ब्रह्मलीन परात्पर सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्रीआनन्द आश्रमजी महाराज



ब्रह्मलीन स्वामी विश्वम्भर सहाय (स्वामी जी लुहसाना वाले)



## ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि लश्येक्षर आश्रम जी के प्रथम संन्यास गुरु



अनन्त श्री विभूषित

१००८ परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्री योगानन्द जी महाराज

ॐ

# पुत्रत्व की सफलता के लिए ही सारस्वत यज्ञ द्वारा मातृ-पितृतर्पणम्

महाराजश्री जी की कृपामृत सुरसरिता से ही परिपोषित-पल्लवित-पुष्पित-फलित यह वंशवल्लरी-

१. पवन कुमार-कुसुमलता,
२. राजेश कुमार-पूनमरानी,
३. राकेश कुमार-ऊषारानी
४. प्रदीप कुमार-मंजूरानी
५. विनोद कुमार-सुधारानी
६. शिवहरि-संगीतारानी
७. दिनेश कुमार-कवितारानी

महत्प्दरजोभिषिक्त सौभाग्यशाली सुजन

ब्रह्मलीन पिताश्री श्री लाला आनन्द प्रकाश जी

ब्रह्मलीन माताश्री श्रीमति शकुन्तलता देवी



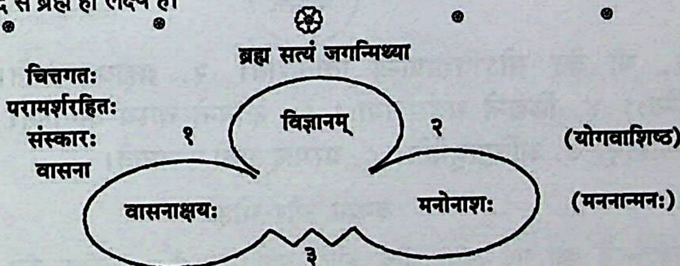
**तत्त्वमसि-जहल्लक्षणा। अहं शब्दः-अहङ्कारवाची। ब्रह्म शब्दः-साभासाज्ञानवाची। एकतायां जहात्यहं साभासाज्ञानं चैतन्ये ऐक्यं निराबाधम्। यथा नौः रौति। लौहं दहति- अत्र नावि रावोऽनुपपन्नः तत्स्थजनेषु लक्षणा। तप्तलौह दहनं लक्ष्ये अग्नौ।**

(संक्षिप्तशारीरकम् १.१६९)

## तत्त्वमसि अहं ब्रह्म

तत्-त्वम् असि-यहाँ जहत् लक्षणा है। अपने अर्थ का त्याग करके अन्यार्थ को प्रतिबोधित करने वाली लक्षणा शक्ति को जहल्लक्षणा कहते हैं। तत् = वह, त्वम् = तुम, असि = हो— उस देश में रहने वाले विप्रकृष्ट वह ब्रह्म इस देश में सन्निकट सम्प्राप्त तुम ही हो। अब वहाँ दूर यहाँ पास के बोधक तत्-त्वम् के हटाते ही ऐक्य हो गया। यही जहत् लक्षणा है। एतद् देशविशिष्ट व एतत् कालविशिष्ट देवदत्त, तत् देशविशिष्ट देवदत्त व तत् कालविशिष्ट देवदत्त जब एक ही है, तब इनको दूर करने वाली देश-काल की उपाधि से मुक्त करके जानें तो देवदत्त एक ही है।

अहम् शब्द अहङ्कार का वाची है और ब्रह्म शब्द साभासा ज्ञान का वाचन करता है। इन दोनों की एकता में अहम् अपने अहङ्कार को, ब्रह्म अपने साभासा ज्ञान को त्याग दे तो चैतन्य में तो ऐक्य ही है, निर्बाध एक ही तत्त्व है। जैसे- 'नौका शब्द करती है'-लोहा जला रहा है, आदि शब्द व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं, जो कि असङ्गत प्रतीत होते हैं, क्योंकि निर्जीव नौका शब्द करने में नितान्त असमर्थ है तथा लोहा भी दाहकता शक्ति शून्य होने से जलाने में समर्थ नहीं है। तो फिर उससे अर्थ का अनुभव कैसे होता है? यहाँ नौका में स्थित मनुष्यों के शब्द करने से तात्पर्य है, वैसे ही लोहे में अग्नि के संसर्ग से दाहकत्व है। जैसे यहाँ नौका व लोहा से नौकारूप यात्री व अयोगोलकगत अग्नि ही लक्ष्य है, ठीक वैसे ही तत्त्वमसि में भी तत् और त्वम् पद से ब्रह्म ही लक्ष्य है।




**समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदायिनः।**
**व्युत्थानसंस्कारनिरोधः मनोनाशः।।**
**शमादिशुद्धसंस्कारेण क्रोधाद्यनुत्पत्तिः-वासनाक्षयः।**
**रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः।**
**विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव।।** (वृ.भा.वार्तिक)

ब्रह्म सत्य है- जगत् मिथ्या है। ब्रह्म सत्य है, तदतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं। प्रातीतिक सत्ता वाला, अवभासित यह जगत् स्वप्न के समान मिथ्या ही है।

वासना का क्षय और मन का नाश ही विज्ञान (ब्रह्मज्ञान) में हेतु है।

वासना क्या है?

चित्त में परामर्शरहित संस्कारविशेष को वासना कहते हैं।

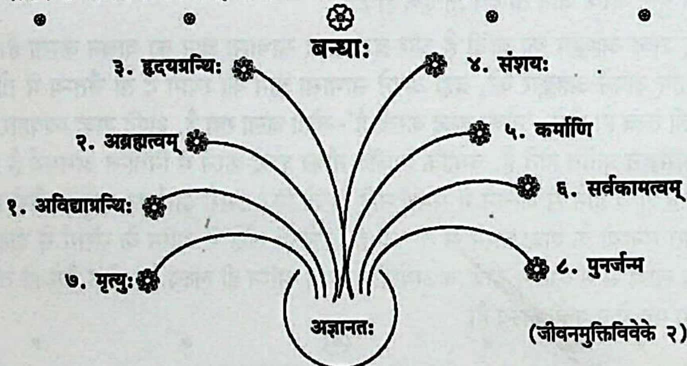
मन क्या है?

मनन करने की क्षमता वाला संकल्प-विकल्प युक्त मन है।

निरन्तर दीर्घ काल के अभ्यास से ये फलप्रदायक हो जाते हैं।

उत्थित संस्कारों के निरोध से ही मन की चञ्चलता का शमन होता है। शम आदि शुद्ध संस्कार से क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती, फलत: वासना का क्षय हो जाता है।

शत्रु में, मित्र में और अपनी देह में समान रूप से एकत्व भाव सम्पन्न विवेकी पुरुष को क्रोध कहाँ? वह तो अपने शरीर के अवयवों की तरह सभी में आत्मभाव रखता है।




(जीवनमुक्तिविवेके २)

**१. यो वेद सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति। २. ब्रह्मैव भवति। ३. भिद्यते हृदयग्रन्थिः। ४. छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। ५. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि। ६. सोऽश्नुते सर्वान् कामान्। ७. अतिमृत्युमेति। ८. यस्माद् भूयो न जायते।**

## बन्धन और मोक्ष

अज्ञानरूपी वृक्ष पर अविद्याग्रन्थि आदि आठ पुष्प हैं-१. अविद्याग्रन्थि, २. अब्रह्मत्व, ३. हृदयग्रन्थि, ४. संशय, ५. कर्म, ६. सर्वकामत्व, ७. मृत्यु, ८. पुनर्जन्म।

इन आठों के मूल में अज्ञान ही है। यह सब अज्ञान के अंकुर-वृक्ष-पुष्पादि हैं। उपर्युक्त बन्धनों का उच्छेत्ता ज्ञान ही है-

१. जो जानता है अर्थात् ज्ञानवान् है, वह अविद्या को विच्छिन्न कर देता है।



२. अब्रह्मत्व को तिरोहित करके ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।

३. हृदयग्रन्थि का भेदन हो जाता है अर्थात् खुल जाती है।

४. समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं।

५. सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं।

६. वह सभी कामनाओं को पूर्ण कर लेता है, तृप्त हो जाता है।

७. मृत्यु को जीत लेता है।

८. जिससे पुनः पुनः जन्म नहीं होता, मुक्त हो जाता है। श्रुतिगम्य विषय का कितना सुन्दर प्रतिपादन यहाँ चित्र द्वारा हुआ है।

• •  • •

## आश्चर्यवत्

**आविद्यकनानाविरुद्धधर्मवत्ता-१. सत्-असहद्वत्। २. चैतन्यं-जडवत्। ३. आनन्दं-दुःखिवत्। ४. निर्विकारं-सविकारमिव।५. नित्यम्-अनित्यमिव। ६. प्रकाशमानम्-अप्रकाशमानमिव। ७. ब्रह्माभिन्नमपि-भिन्नमिव। ८. मुक्तं-बद्धवत्। ९. अद्वैतं-द्वैत इव।**

(मधुसू. टी.गी.)

**पश्यति कश्चिद्-वेदान्तवाक्यजन्यायां सर्वसुकृतफलभूतायामन्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं समाधिपरिपाकेन साक्षात्करोति। त्रयमप्याश्चर्यमात्मा तज्ज्ञानं तज्ज्ञाता च।**

**देहादृष्टक्रियाकर्तृरागाध्यासार्थसप्तकाद् द्वारा संसारहेतुः स्यात्।**

## आश्चर्य और यथार्थता

अविद्यमान होने पर भी विविध विरुद्ध धर्मवत्ता की प्रतीतियाँ-

१. सत् में असत्यवत् प्रतीति। २. चैतन्य में जडवत् प्रतीति। ३. आनन्द में दुःखवत् प्रतीति। ४. निर्विकार में सविकारवत् प्रतीति। ५. नित्य में अनित्यवत् प्रतीति। ६. प्रकाशमान में अप्रकाशमानवत् प्रतीति। ७. ब्रह्माभिन्न में भी ब्रह्मभिन्नवत् प्रतीति। ८. मुक्त में बद्धवत् प्रतीति। ९. अद्वैत में द्वैतवत् प्रतीति।

ये सब असत् प्रतीतियाँ ज्ञानाभावापन्न अज्ञानी को बनी रहती हैं, किन्तु ज्ञानी इन्हें यथार्थ रूप में देखता है। वह तो वेदान्तवाक्यों को हृदयङ्गम करने से समुत्पन्न होने वाली व समस्त सुकृतों की फलभूता अन्तःकरण की सात्त्विकी वृत्ति में प्रतिफलित समाधि के परिपक्व होने से सत्य स्वरूपता का साक्षात्कार कर लेता है।

वैसे तो ये तीनों ही आश्चर्य हैं- आत्मा, आत्मज्ञान और आत्मज्ञान करने वाला ज्ञाता। एकत्व में त्रित्व की परिकल्पना करना कम आश्चर्य की बात नहीं है। जब वह एक है, अभेद्य है, अछेद्य है तो यह त्रिविध भेद कैसे?

कहते हैं- आत्मतत्त्व (ब्रह्मतत्व) में ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता रूप त्रिविध भेद यर्थाथतः नहीं है, मात्र आत्मबोध प्रक्रिया के अन्तर्गत ही ऐसी परिकल्पना है। आत्मबोध होते ही यह त्रितय विमलित हो जाता है, फिर तो ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

## संसार के हेतु

देह, अदृष्ट, क्रिया, कर्ता, राग, अध्यास और अर्थ— यह सात संसार के हेतु हैं, इन्हीं के द्वारा संसार की प्रक्रिया चल रही है।

**३. ब्रह्मनिष्ठयोगी निर्वासनः कृतमूलबन्धः प्राणं षट्चक्रभेदनरीत्या ऊर्ध्वं नयेत्। मणिपूरात् अनाहते तत अदानद्वारा विशुद्धे तत आज्ञाचक्रे नयेत् षण्मुखीमुद्रया। तत स्थिरलक्ष्येण सह सहस्रारे स्थीयेत, ततो ब्रह्मारन्ध्रं भित्वा शरीरं त्यजेत्।**

ब्रह्मनिष्ठ योगी वासनारहित हो मूलबन्ध करके (मूलाधार को अपनी एड़ी से पीड़ित कर) प्राणों को षट्चक्रभेदनपूर्वक ऊर्ध्व सहस्रार चक्र में ले जाये। यथा-मणिपूरचक्र(नाभिदेश) से अनाहत चक्र (हृदयदेश) में, वहाँ उदान द्वारा विशुद्धिचक्र (कण्ठदेश) में, वहाँ आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) में षण्मुखी मुद्रा द्वारा प्राणों को ले जाये तदुपरान्त स्थिर लक्ष्य के साथ प्राणों को सहस्रार चक्र में स्थापित करे; फिर ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके शरीर त्याग दे।

**ब्रह्मामृतं चरेद् भैक्ष्यम्**
**ध्यानं निर्विषयं मनः**
**देहो देवालयः प्रोक्तः**
**त्यजेदज्ञाननिर्माल्यम्**
**वसेदेकान्तिकेऽद्वैते**



**अद्वैतनिष्ठ तत्त्वदर्शी**

**अभेददर्शनं ज्ञानम्।**
**स्नानं मनोमलत्यागः।**
**स जीवः परमः शिवः।**
**सोऽहंभावेन पूजयेत्।**
**शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**

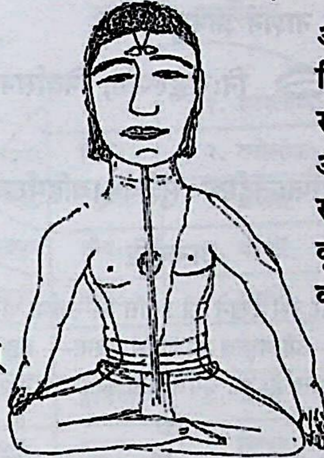
(स्कन्दोपनिषद्)

ब्रह्मामृतरूप भिक्षा के लिए भिक्षाटन करे। अभेद दर्शन ही ज्ञान पद वाच्य है, मन का निर्विषय होना ही ध्यान है, मन की मलिनता का परित्याग स्नान है। इन्द्रियों का निग्रह पवित्रता है।

देह को देवालय कहा गया है, इसके अन्दर जो जीव है, वह परम शिव के रूप में प्रतिष्ठित है, अज्ञानरूपी निर्माल्य को हटाकर 'सोऽहम्' भाव से (वह मैं हूँ, मैं वह है) पूजा करे और ऐकान्तिक अद्वैतनिष्ठ हो जाये।

## अद्वयतारकोपनिषत्

जितेन्द्रियः शमदमादि-षड्गुणपूर्णः गर्भजन्म-जरामरण-संसारमहद्भया-त्तारयतीति तारकम्



ॐ चित्स्वरूपोऽहम् इति सदा भावयन् अन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयन् तद्रूपो भवति।।

जीवेश्वरौ मायिकौ विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म। तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसन्धानम्,देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। सा तु मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रगामिनी, तन्मध्ये तडित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत्सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धा। तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति। हृदये ललाटे सुषुम्नायाम्। इति अन्तर्लक्ष्यम्।।

### तारक और ब्रह्मावलोकन

गर्भजन्म, जरा और मरणरूपी संसार के महाभयों से जो तार देता है, उसे तारक (ॐ) कहते हैं।

जितेन्द्रय होकर शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि षड्गुणों से पूर्ण हो 'मैं चित्स्वरूप हूँ— ऐसी निरन्तर भावना करते हुए अन्तर्दृष्टि से भ्रूमध्य से ऊपर सच्चिदानन्द तेज, कूटरूप परब्रह्म का अवलोकन करता हुआ योगी तद् (ब्रह्म) रूप ही हो जाता है

### अद्वय ब्रह्म

जीव-ईश्वर को मायायुक्त (मायाकृत) जान कर सर्व विशेष को नेति-नेति (यह नहीं है- यह नहीं है) की प्रक्रिया से छोड़ने पर जो शेष बचे, वह ही अद्वय ब्रह्म है। इसकी सिद्धि के लिए तीन लक्ष्यों (हृदय में, ललाट में, सुषुम्ना में) का अनुसन्धान करें। शरीर के मध्य ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना जो सूर्यरूपा है और पूर्णचन्द्र की आभा से युक्त मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जिसकी गति है, उसके मध्य में करोड़ों मेघ विद्युत् की कान्ति के समान कान्ति वाली मृणालतन्तु के सदृश सूक्ष्म कुण्डलिनी-शक्ति प्रसिद्ध है— उसको देखकर मन से ही मनुष्य सर्व-पाप-विनाशपूर्वक मुक्त हो जाता है।

**श्रुतितो युक्तितो वापि केवलात्मविभासनम्।**
**देहाद्यात्मावभासस्य नाशनं ज्ञानमुच्चते।।**

**अन्तर्दृष्टिः** **निःसङ्कल्पता, निर्वासनता।**

**आत्मतत्त्वम्– प्रत्यक्प्रवणप्रदीप्तान्तर्दृष्ट्या–सुज्ञेयम्। बहिर्मुखदृष्ट्यै–अवेद्यम्।** (त्रिपुरार. १६)

## अन्तर्दृष्टि

बाह्य संसार को सत्य मानकर उसे देखने की प्रवृत्ति का सर्वथा परित्याग करते हुए अपने ही अन्दर (हृदय में) सत्यानुसन्धान करना— आत्मतत्त्व का दर्शन करना— यह अन्तर्दृष्टि है। इसमें निःसंकल्पता और वासनाओं का सर्वथा अभाव रहता है। यह चर्मचक्षुओं का विषय नहीं है।

• • ✿ • •

**स्रवनहु देखि सुनै पुनि नैनहु। जिह्वा सूँघै नासिका बोल।।** (सुन्दरविलास)



**महावाक्यार्थपरोक्ष ज्ञान।**
**महावाक्यार्थापरोक्ष ज्ञान।**
**अन्तःकरण कमल की**
**निर्वातिकता सुगन्ध सूँघे।**
**उपनिषद् के ज्ञानरूप**
**मकरन्द का सोऽहम् बोले।**



**निर्विकल्पसमाधिःशुद्धचितिः ब्रह्मरूपिणी देशकालौ नास्ति प्रतीतिभक्षिका।**



**सुषुप्तिः अव्यक्तमपि जडशक्तिः**



**वस्तुदर्शनम् अनेकावभासाः सङ्कल्पविमर्शौ।**

(त्रिपुरारहस्यम् १६)

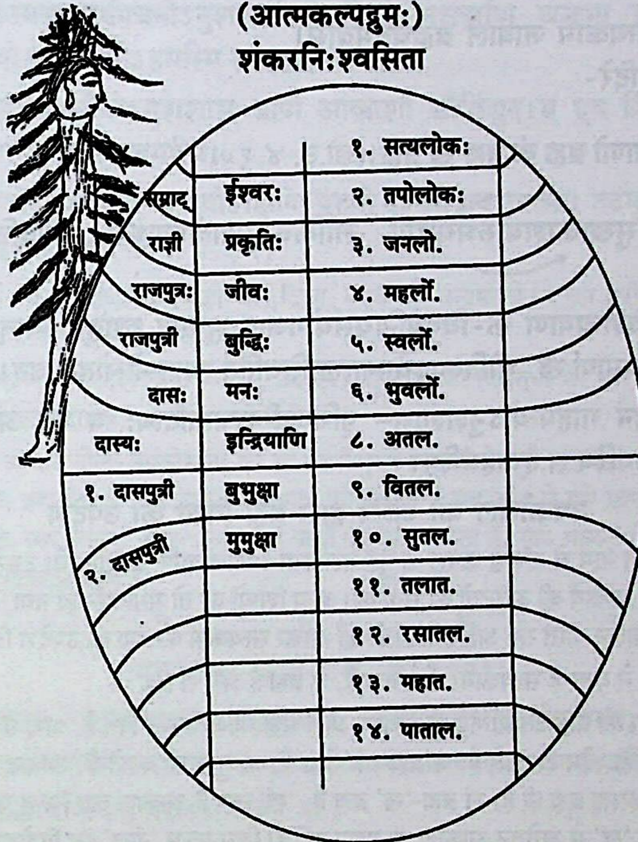
## निर्विकल्प समाधि, सुषुप्ति और वस्तुदर्शन

निर्विकल्प समाधि अखण्ड निर्वात दीपकलिका के सदृश है। शुद्धचैतन्य और ब्रह्म रूपिणी होने से वहाँ देश-काल की प्रतीति का सर्वथा अभाव है। सुषुप्ति तम से आच्छादित है, वहाँ अव्यक्त भी जडशक्ति जैसा ही हो जाता है। वस्तुदर्शन में अनेकानेक अवभास, संकल्प और विमर्श रहते हैं।



• • ✿ • •

(आत्मकल्पद्रुमः)
शंकरनिःश्वसिता




## चतुर्दश लोकादि

चित्र में ये जो चतुर्दश लोक अंकित हैं, ये सब शङ्कर के निश्वास से समुद्भूत हैं। इन लोक-लोकान्तरों का जो सम्राट् है, वह ईश्वर है, प्रकृति रानी है, जीव राजपुत्र, बुद्धि राजपुत्री, मन दास, इन्द्रियाँ दासियाँ, बुभुक्षा दासपुत्री, मुमुक्षा दासपुत्री है। यह सब चित्र में स्पष्ट ही है।



सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास।

**अग्नयः समूदिरे-**

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।(छा.उ. ४.१०.५)

(सुखाकाशयोरुभयोरपि लौकिकसुखाकाशाभ्यां व्यावृत्तिः)

(शांकरभा.)

खेन विशेष्यमाणं कं-विषयेन्द्रियसंयोगजात् सुखाद् व्यावृतं स्यात्। एवं केन-सुखेन विशेष्यमाणं खं, भौतिकादचेतनात्खान्निवर्तितं स्यात् नीलोत्पलवत्।

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास- पृथिव्यग्निरन्नमादित्यः य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।

## उपकोसल को अग्नि द्वारा ब्रह्म विद्या का उपदेश

उपकोसल नाम से प्रसिद्ध कमल के पुत्र सत्यकाम जाबाल ऋषि के शिष्य थे। उसने बारह वर्ष तक गुरुसुश्रूषापूर्वक आचार्य की अग्नियों की सेवा की। अन्य शिष्यों का तो समावर्तन हो गया, किन्तु वे आश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। अग्नि ने स्वयं वहाँ आकर सत्यकाम को ब्रह्म का उपदेश दिया।

अग्नियों ने कहा-हे सत्यकाम! प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है और खं ब्रह्म है।

यहाँ प्राण को ब्रह्म बताया गया है; क्योंकि प्राण से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्राण से ही जीवित रहते हैं और प्राण में ही लीन हो जाते हैं। कं ब्रह्म-'कं' ब्रह्म है, क सुख को कहते हैं, आनन्द का नाम 'क' है अर्थात् आनन्दरूपता ब्रह्म ही है। खं ब्रह्म-'ख' ब्रह्म है, 'खं' नाम है आकाश का। किन्तु यहाँ 'क' शब्द से लौकिक सुख व 'ख' से अचेतन आकाश का ग्रहण नहीं है। जिस प्रकार 'नील' इस विशेषण से युक्त कमल रक्त कमल आदि से विलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार 'ख' शब्द से विशेषित 'क' विषय और इन्द्रियों के सहयोग से होने वाले सुख से निवृत्त कर दिया जाता है, इस प्रकार नीलोत्पल के समान ही 'क'-सुख से विशेषित किया हुआ ख= आकाश भौतिक व अचेतन ख (आकाश) से निवृत्त कर दिया जाता है। अर्थात् आकाशस्थित सुख ब्रह्म है, अन्य लौकिक सुख नहीं तथा सुख के आश्रित रहने वाला आकाश ब्रह्म है, अन्य भौतिक आकाश नहीं है।

फिर उसे गार्हपत्य नाम अग्नि ने शिक्षा दी- पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य-ये मेरे ही स्वरूप हैं, आदित्य के अन्तर्गत जो यह पुरुष दिखायी देता है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।

**अथ हैनमत्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।**

**अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास-प्राण आकाशो द्यौर्विद्युत्।ए एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।**

**अथाचार्योऽनुशशास-य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा। तदमृतमभयमेतद् भामनी वामनी संयद्वाम।**(छा.उ. ४.१५)

अन्वाहार्य पचन-दक्षिणाग्नि ने कहा-जल,दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा-ये मेरे चार शरीर हैं, चन्द्रमा में जो पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।

आहवनीयाग्नि ने उपदेश किया—प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् ये मेरे चार रूप हैं, यह जो विद्युत् में पुरुष दिखायी देता है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।

तदनन्तर आचार्य बोले- उपकोसल! यह जो नेत्र में पुरुष दिखायी देता है, यह आत्मा है। यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है। यह संयद्वाम है- सम्पूर्ण शोभन पदार्थ सब ओर से इसे प्राप्त होते हैं। यही वामनी है; क्योंकि सही सम्पूर्ण वामों- पुण्य कर्म फलों का वहन करता है। यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकों में भासमान होता है।



**जन्माद्यस्य यतः(ब्र.सू. १/१/२)**

**अस्य जगतः- नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य, अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य, प्रतिनियत-देशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गा यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेर्भवन्ति तद् ब्रह्म।।**(शांकर भा.)

**शब्दवानाकाशः शब्दाकाशाभ्यां भिन्नस्तस्मिन्नाकाशे तिष्ठत्याकाशस्तं न वेद स आत्माऽहं कथं भोक्ता भवामि।** (दुर्वासा) (गोपालोत्तर ता.उ.)

**इह हि मनः तेष्वेवं हि मनुते तानिदं गृह्णाति।**

**विद्यामयो यः स कथं विषयी भवेत्।।**

**जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुः।**

**जिससे जगज्जन्मादि होते हैं, वह ब्रह्म है**

जड़-चेतनात्मक व नाना नामरूपों से व्यवहृत, अनेक प्रकार के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से युक्त, नियमित देशकालनिमित्तक क्रिया के फल का आश्रय, मन से भी अचिन्त्य रचना रूप (जिसकी अद्भुत रचना के किसी एक अंश पर भी विचार करने से बड़े-बड़े ज्ञानी व वैज्ञानिकों को आश्चर्यचकित होना पड़ता है और मन की गति क्षीण हो जाती है) इस विलक्षण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार जिस सर्वज्ञ-

सर्वशक्तिमान् से होती है वह परमात्मा ही ब्रह्म है।

## आत्मा भोक्ता नहीं हो सकता

शब्द गुण वाला आकाश है, किन्तु जो शब्द और आकाश से भिन्न है, उस महाकाश में जो चिदाकाश है, उसे कोई नहीं जानता, वह आत्मा मैं हूँ तो फिर मैं (आत्मा) कैसे भोक्ता बनूँगा। यह उपनिषद्-वाक्य है।

किन्तु यह मन ही सांसारिक विषय-भोगों का मनन करता है, वह ही भोक्ताभाव को प्राप्त हुआ इनको ग्रहण करता है। आत्मा तो ज्ञानमय है, वह कैसे विषयी हो सकता है। वह तो जन्म, जरा, मृत्यु से रहित स्थाणु है अर्थात् सबसे निर्लिप्त है।

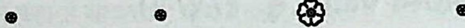


**दृश्यपदार्थाः सदा अन्योऽन्याभावपूर्वका एव भासन्ते। यद्वस्तु अन्यनिरपेक्षं भासते तत्सत्यम्।**(त्रिपुरारहस्ये १८)

**स्वभावसिद्धं ज्ञानम् । स्वयं प्रकाशचितिर्ज्ञानम्।**

## सत्य पदार्थ और ज्ञान-लक्षण

जितने भी दृश्य पदार्थ हैं, वे सभी सदा एक दूसरे के आश्रित होते हुए भासित होते हैं, किन्तु जो वस्तु किसी अन्य की अपेक्षा के बिना ही भासित-प्रकाशित है, वस्तुतः वह सत्य है।



**तास्त्रिविधाः-**

**१. अपराधवासना (अनास्वासवा.)**
**२. कामवासना**
**३. कर्मवासना**

**धीदोषाः**




**अपराधवासनामूलम् - शास्त्रविरूद्धतर्कमननम्**
**आगमनिगमे अश्रद्धा विपरीतधारणा।**




**ॐकारस्य भावनीयं चित्रम्।**
**(पातञ्जलयोगप्रदीपः)**

## बुद्धिदोष-वासना

असङ्गति से वासना का प्रस्फुरण होता है और यह अनन्त है, इसकी कोई सीमा नहीं। यह वासना अव्यवस्थित भी है- इसका नियन्त्रण दुष्कर है।

बुद्धि में दोष आ जाने पर वासना का उदय होने लगता है। यह तीन प्रकार की है—अपराधवासना, कामवासना और कर्मवासना। इसमें अपराधवासना का मूल शास्त्रविरुद्ध कुतर्कपूर्वक बुद्धि का मननरूप निश्चय है। इस तरह की बुद्धि आगम-निगम शास्त्रों में अश्रद्धा के द्वारा विपरीत धारणा को धारण करने वाली हो जाती है। इसे अनाश्वास वासना भी कहते हैं। कामनापरक कर्म करने की आशा और तत्परता ही कामवासना है। कर्मवासना में जड़ता रहती है।



## ॐकार का भावनामय चित्र

१. **'अकार'**— चेतन-तत्त्व-समष्टि स्थूल जगत् व व्यष्टि स्थूल शरीर। समष्टि स्थूल जगत् का अधिष्ठाता **'विराट्'** उपास्य तथा स्थूल शरीर का अभिमानी **'विश्व'** उपासक।

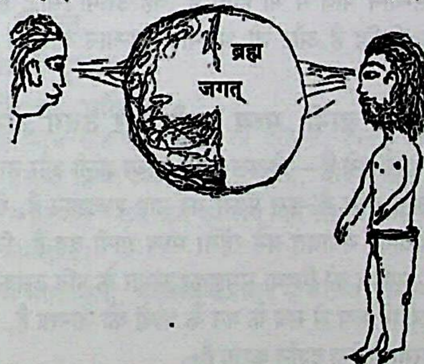
२. 'उकार'— चेतन-तत्त्व-समष्टि सूक्ष्म जगत् और व्यष्टि सूक्ष्म शरीर। समष्टि स्थूल जगत् का अधिष्ठाता **'हिरण्यगर्भ'** तथा सूक्ष्म शरीर का अभिमानी **'तैजस'**।

३. **'मकार'**-चेतन-तत्त्व, समष्टि कारण जगत् तथा व्यष्टि कारण शरीर। समष्टि कारण जगत् का अधिष्ठाता **'ईश्वर'** उपास्य व्यष्टि कारण शरीर का अभिमानी **'प्राज्ञ'** उपासक।

४. **'विराम'** - शुद्ध, निर्गुण, उपाधिरहित चेतन परमात्मतत्त्व **'शुद्ध चेतन'** (चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप)



## ज्ञानी



## ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में जगत्

विषय-वासनाओं से ग्रस्त, अपने स्वरूप की स्मृति से शून्य अज्ञानी की दृष्टि में यह सुख-दुःख-मोहस्वभावात्मक जगत् सत्य है और वह जन्म-मरणरूप भवाटवी में भटकता रहता है। ज्ञानी की दृष्टि में ज्ञानकाल में तो जगत् के मिथ्यात्व का बोध था, किन्तु आत्मसाक्षात्कार होने जाने पर जगत् नाम मिथ्या वस्तु का भी सर्वथा अभाव हो गया। उसकी दृष्टि में सब कुछ पूर्णतम ब्रह्म ही ब्रह्म है।



**सिद्धिः–देहाध्यासरहितचिद्रूपात्मनिश्चयः**

**१. उत्तमा–या व्यवहारेऽनुसन्धानभावेऽपि भवति।**

**२. मध्यमा–व्यवहाराभावे स्वभावसिद्धा।**

**३. कनिष्ठा–आत्मानुसन्धानकाले एव भवेत्** (त्रिपुरार. २)

**केवलज्ञानी– मन्दज्ञानी–समनस्कः।**

**मध्यज्ञानी–नष्टमानसः–अल्पव्यवहारः।**

**उत्तमज्ञानी–बहुमानसः।**

**आत्मस्वरूपबोधः व्यवहारेण न बाध्यते। सर्वव्यवहारो बोधाश्रयेण भवति, येन सर्वं प्रतीयते तदेव ज्ञानम्। सङ्कल्पेन ज्ञाने सर्वं भासते। विकल्पो–भ्रान्तिः।**

**व्यवहारविषयकं ज्ञानं बुद्धस्य प्रमा, अज्ञस्य भ्रमः।** (त्रिपुरार. २०)

### सिद्धि

देहाध्यास से रहित चिद्रूप आत्मनिश्चय ही सिद्धि है। इसके तीन भेद हैं— उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा।

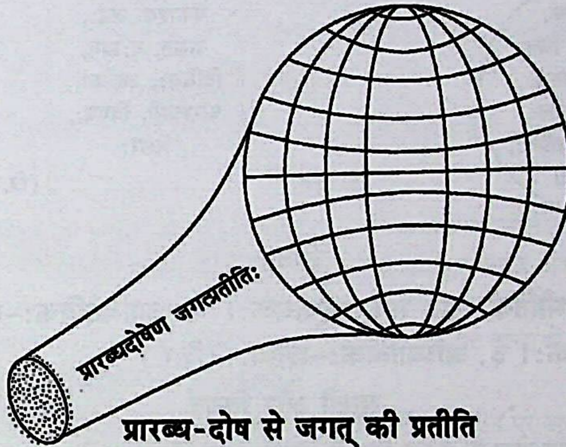
जो व्यवहार में अनुसन्धान भाव में भी होती है, वह उत्तमा सिद्धि है। व्यवहार के अभाव में जो स्वभावसिद्ध है, वह मध्यमा सिद्धि है और जो आत्माअनुसन्धान काल में ही होती है— वह कनिष्ठा सिद्धि है।

## केवल ज्ञानी, मध्य ज्ञानी और उत्तम ज्ञानी

ज्ञानी के तीन भेद दिखाये गये हैं— केवल ज्ञानी, मध्य ज्ञानी और उत्तम ज्ञानी। जिसमें परोक्ष ज्ञान है, 'जगत् असत्य है और ब्रह्म सत्य है'-इस प्रकार का मात्र शब्दज्ञान है, ऐसा ज्ञान मन्द ज्ञान ही कहा जायेगा, उसके मानसिक व्यवहार यथावत् बने रहेंगे। मध्य ज्ञानी वह है, जिसके संकल्प-विकल्पात्मक मानसिक दोष नष्ट हो गये है, संसार को मिथ्या समझकर संसार के प्रति उसका व्यवहार अल्प ही रहता है। उत्तम ज्ञानी वह है, जो अन्तर्यामी रूप से सब के मन के भावों को जानता है, जिसको सबके मन से अभेद है, सब में एक ही सूत्रात्मा परमात्मा का दर्शन करता है।

## आत्मस्वरूप बोध

वस्तुतः आत्मस्वरूप का बोध व्यवहार से बाधित नहीं होता है, क्योंकि समस्त व्यवहार बोध के आश्रय से होता है। अतः जिससे सब की सम्यक् प्रतीति होती है, वह ही ज्ञान है। संकल्पशक्ति से ज्ञान में सब कुछ भासित होता है, विकल्प तो भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला होता है। व्यवहारविषयक ज्ञान ज्ञानी के लिए प्रमा है— ज्ञान को और अधिक पुष्ट करता है, किन्तु अज्ञानी के लिए व्यावहारिक ज्ञान भ्रमकारक ही होता है।




## प्रारब्ध-दोष से जगत् की प्रतीति

माना कि व्यवहार आत्मास्वरूप के बोध में बाधक नहीं है, किन्तु व्यवहारविषयक ज्ञान में निष्ठा होना आत्मबोध में बाधक अवश्य हो सकता है, क्योंकि यदि प्रारब्ध के दोष पुञ्जीभूत हो जायें तो जो आत्मबोध में नानात्व का निरास है, वह धूमिल हो जायेगा और जगत् की प्रतीति पुष्ट होने लगेगी।

व्यावहारिकता से अन्दर छिपी हुई- मृतप्राय वासना के अङ्कुर उद्‌भूत होने लगेंगे, क्योंकि प्रारब्ध के दोषों से जगत् की प्रतीति होती है।

● ● ✿ ● ●

**जीवन्मुक्तः** | **विदेहः दृश्यते,**
**तत्परिचयो दुष्करः,**
**तस्य क्रियाः अक्रियाः।**

जीवन्मुक्तावस्था का देहाध्यास-राहित्य दिखायी तो देता है, किन्तु उसका परिचय प्राप्त करना अत्यन्त ही दुष्कर है, क्योंकि उसकी क्रिया अक्रिया ही होती है, जीवन्मुक्त प्राणी का कुछ भी करना न करने के ही समान है।'कुर्वन्नपि न लिप्यते'- उसे कर्म का लेप नहीं लगता। जब वह क्रिया का कर्ता ही नहीं है तो वह क्रियाफल का भोक्ता भी नहीं है।

सत्संग से भक्ति, भक्ति से भगवत्कृपा, भगवत्कृपाप्रसाद से वैराग्य, वैराग्य से विवेक और विवेक से आत्मोपलब्धि होती है।

● ● ✿ ● ●

साक्षी

सर्वावभासकः
सर्वाधिष्ठानम् चित्,
परमानन्दः स्वतन्त्रः,
अविषयः, अनन्तः,
निर्विशेषः, परमप्रियः,
रसो, भूमा

विवर्तः

प्रकाश्यः, जडः,
असत्, दुःखम्,
विविधः, आश्रितः,
परिणामी, विषयः,
नश्वरः

(त्रि.र.)

## विवर्तः

१. आधिभौतिकः–इदं सर्वं–उद्बोधकः। २. आधिदैविकः–शास्ता, प्रेरकः, पोषकः, नियामकः। ३. आध्यात्मिकः–शिष्यः। (त्रि.र.)

## साक्षी और विवर्त

साक्षीमात्र हृदय होता है। न वह कर्ता है और न भोक्ता ही। वह सभी का अवभासक है, सभी का अधिष्ठान-सर्वाधार है, चैतन्य है, परमानन्दघन है, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, अविषय है— इन्द्रियातीत है, अनन्त है, निर्विशेष है- सर्वोपाधिरहित है, परम प्रिय है, रसस्वरूप है, भूमा है— सहजसुखराशि है।

विवर्त विकार है, अन्य के द्वारा प्रकाशित है, जड़ है, असत् है, दुःखस्वरूप है, नाना-रूपों वाला- विविध भेदयुक्त है, आश्रित है, परिवर्तनशील है, विषयरूप और नश्वर है।

इस विवर्त के तीन भेद किये जा सकते हैं— आधिभौतिक विवर्त, आधिदैविक विवर्त और आध्यात्मिक विवर्त।

आधिभौतिक विवर्त- यह जो जगत् प्रपञ्च है, इसका उद्बोधक है, अतः इसकी सत्ता का सत्य मान लेना आधिभौतिक विवर्त है।

यह शास्ता है, प्रेरक है, पोषक और नियामक है- ऐसा मान लिया जाना आधिदैविक विवर्त है। यह शिष्य है, यह प्रशिष्य है— ऐसा भाव हो जाना ही आध्यात्मिक विवर्त है।

## अहं ब्रह्म अस्मि

**विशेषणानां सम्बन्धो यतो न प्रत्यगात्मनि।**

**लक्ष्यलक्षणता तस्मात् प्रतीच्यध्यवसीयते।।१४२७।।**

**अनन्यापेक्षिप्रत्यक्त्वमहंरूपेण लक्ष्यते।**

**तथैव ब्रह्मरूपेण प्रतीचोऽप्यद्वयात्मता।।१४२८।।**(वृ.उ.अ.वा.१४)

**अनात्माब्रह्मताहेतौ प्रत्यग्ध्वानते निवर्तिते।**

**पदार्थ एक एव स्यात् ब्रह्माहं पदयोः परः।।१४३०।।**

### मैं ब्रह्म हूँ

वस्तुतः प्रत्यगात्मा (शुद्ध चैतन्य) में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से 'नीलोत्पल' की तरह विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध न होकर लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध है। इसलिए (विरूद्ध अंशों का त्याग करने पर ) शुद्ध चैतन्य ही शेष रह जाता है। अहम् और ब्रह्म पदार्थों के अन्योन्य भेद का व्यावर्तन होने से अहम्पदवाच्य ब्रह्मपदवाच्य से भिन्न नहीं है और ब्रह्म पद वाच्य अहं पद वाच्य से भिन्न नहीं है, इस लिए अहम् ब्रह्म ही है- यह लक्षित होता है। अहं ब्रह्मास्मि।

अनात्मा अर्थात् प्रत्यक् आत्मा में जो अज्ञानान्धकार है, उसकी निवृत्ति होने पर अनात्मा ब्रह्मरूप हो जाता है। अहं और ब्रह्म में पदार्थ एक ही है, अहं और ब्रह्म पद भिन्न हैं।



### राजयोगसंहितायां–ज्ञानभूमयः

**१. ज्ञानदा–ज्ञातव्यं ज्ञातमित्यनुभूतिः।**

**२. संन्यासदा– त्याज्यं त्यक्तं मया।**

**३. योगदा– प्राप्ता शक्तिरनुभवो लब्धः।**

**४. लीलोन्मुक्तिः–सर्वमायाविलासो न तत्र मेऽभिलाषः।**

**५. सत्यदा– सद्ब्रह्मानुभवः।**

**६. आनन्ददा–पूर्णानन्दानुभुतिः।**

**७. परात्परा–अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दं ब्रह्मास्मि।**

### ज्ञान-भूमियाँ

राजयोगसंहिता में सात ज्ञान-भूमियाँ वर्णित हैं— ज्ञानदा, संन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्यदा, आनन्ददा और परात्परा। ज्ञानदा नामक ज्ञानभूमि में ज्ञात और ज्ञातव्य दोनों की अनुभूति रहती है, संन्यासदा में जो त्याज्य था, वह मैंने त्याग दिया, यह भाव पुष्ट रहता है। योगदा प्राप्तशक्ति अनुभव से

लब्ध है, यह सब महामाया का विलासमात्र है, इसमें मेरी यत्किञ्चित् भी अभिलाषा नहीं हैं (यह सब माया का खेल है- इससे मेरा मेल नहीं) लीलोन्मुक्ति में इस भाव की परिपुष्टि है। सत्यस्वरूप ब्रह्म का अनुभव- यह सत्यदा की स्थिति है और मैं अद्वितीय, विकारशून्य सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ- यह सुदृढ़ ब्रह्मनिष्ठा ही परात्परा नामक ज्ञानभूमि है।



**यस्मात्सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति।** (शाण्डिल्योप.)

**यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा।**

**ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति–१, सकलं–निष्कलम्, सकलनिष्कलम्। २. दत्तात्रेयादिरूपम्-निष्क्रियं निरञ्जनं, सर्वगतं,सुसूक्ष्मम्, अनिर्देश्यम्। ३. मूलप्रकृति–मायावान्।**

**आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्मास्मीति ध्यायेन्विमुक्तये।** (अन्नपूर्णोप. ५)

**शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप।** (श्रवणो दशरथाय) (वाल्मीकिरा. असो. ६४)

### आत्मा क्या है?

जो सब से अभिव्याप्त है, सभी को अपने स्वरूप में आत्मासात् कर ले, सभी को समेट ले अर्थात् जिससे सर्वप्राप्ति होती है, जिससे सब कुछ ग्रहण किया जाता है, जिससे सर्वभक्षण होता है, उसको आत्मा कहते हैं। जो विश्व का सृजनकर्ता है, विश्व का भरण-पोषणकर्ता और विश्व का संहारकर्ता है, जो जगत् की तीनों अवस्था का साक्षी है, वह आत्मा है।

### ब्रह्म के तीन रूप

परब्रह्म परमात्मा के तीन रूप होते हैं— सकल ब्रह्म, निष्कल ब्रह्म और सकल-निष्कल ब्रह्म। चलना-फिरना ब्रह्म सकल ब्रह्म है दत्तात्रेय आदि के रूप में। निष्क्रिय, निरञ्जन, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म, अनिर्देश्य ब्रह्म निष्कल ब्रह्म है। मूल प्रकृति से युक्त ब्रह्म सकल-निष्कल ब्रह्म है।

### मुक्तिप्रद ध्यान

अपनी आत्मा को ऐसा मानकर कि सच्चिदानन्द, अनन्त तथा सर्वव्यापक ब्रह्म मैं हूँ- इस प्रकार साधक विमुक्ति हेतु ध्यान करे।



### पञ्चभ्रमाः–अन्नपूर्णोपनिषदि

**१-जीवेश्वरौ भिन्नरूपौ। २. आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा। ३. शरीरत्रय-संयुक्तजीवः सङ्गी। ४. जगत्कारणरूपस्य विकारित्वम् । ५. कारणाद् भिन्नजगतः सत्यत्वम्। तेषां निवर्तकाः पञ्च दृष्टान्ताः।**

## पाँच भ्रम

१. जीव और ईश्वर भिन्न रूप हैं। २. कर्तृत्व का भाव (गुण) आत्मा में है और वास्तविक है। ३. तीन शरीरों से युक्त जीव सङ्गी है। ४. जगत् निर्माणकर्ता का रूप विकारी है। ५. कारण से भिन्न जगत् सत्य है।

**१. बिम्बप्रतिबिम्बदर्शनम् । २. स्फटिकलोहितदर्शनम् । ३. घटमठाकाश-दर्शनम् । ४. रज्जुसर्पदर्शनम् । ५. कटकरुचकदर्शनम् ।**

## पाँच भ्रमों के निवर्तक पाँच दृष्टान्त

१. ईश्वर और जीव भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप दर्शन है।

२. जैसे स्फटिक में लोहित रंग की किसी अन्य वस्तु की प्रभा दिखायी देने लगती है, वैसे ही कर्तृत्व आत्मा का गुण न होते हुए भी आत्मा में प्रतीत होने लगता है, जो कि अवास्तविक है।

३. सर्वव्यापक आकाश घटाकाश और मठाकाश में एक ही है, उसका वैविध्य मान लिया जाता है, वैसे ही जीव का यह त्रैविध्य औपाधिक है।

४. जगन्निर्माता को विकारी मानना रज्जु में सर्पदर्शन जैसा है, जो कि मिथ्या प्रतीति है, परमात्मा तो निरवयव और निर्विकारी ही है।

५. कनक और कुण्डल एक ही हैं, भिन्न नहीं, वैसे परमात्मा और जीव का ऐक्य है।

• • ✿ • •

**निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।**
**वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते।।**
**इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत् ।**
**लक्ष्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रत्यक्त्वं सम्भवेत्स्वयम् ।।**
**ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ।।** (तेजोबिन्दूपनिषत् )

## समाधि और सिद्धि

यम नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानपूर्वक निर्विकार वृत्ति एवं मैं ब्रह्म ही हूँ—इस ब्रह्माकाराकारित वृत्ति के फलस्वरूप अन्य समस्त वृत्तियों का विस्मरण ही समाधि है। समाधि की इस प्रारम्भिक अवस्था में एक आनन्द की प्रतीति होती है, जो कि अकृत्रिम आनन्द है। इसका तब तक अभ्यास किया जाय, जिस क्षण (समय) तक लक्ष्यप्राप्ति-अद्वय सिद्धि नहीं हो जाती । फिर वहाँ आनन्द की अनुभूति नहीं होती। अपितु वह आनन्दमय हो जाता है, इसके बाद साधन की आवश्यकता नहीं रहती, साधन-विनिर्मुक्त होता हुआ योगिराज सिद्ध हो जाता है।

• • ✿ • •

**न निजं निजवद् भाति अन्तःकरणजृम्भणात्।**

**अन्तःकरणनाशेन संविन्मात्रस्थितो हरिः।।**(स्कन्दोपनिषत्)

**विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः।**

**तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात्।।**(महोपनिषत्)

## अन्तःकरण का चाञ्चल्य आत्मसाक्षात्कार में बाधक

अन्तःकरण-मन, बुद्धि,चित्त और अहंकार की विकारयुक्त हलचल से अपना भी अपना प्रतीत नहीं होता। (जैसे कि कीचड़ से युक्त जल में अपना प्रतिबिम्ब दिखायी नहीं देता।) अन्तःकरण के शान्त होने पर संवित्-ज्ञानरूप हरि ही स्थित रहते हैं अर्थात् अपने स्वरूप का दर्शन होने लगता है।

## मन से जगत् की उत्पत्ति

ब्रह्मारूप मन की कल्पना से जगत् प्रपञ्च उत्पन्न होता है। जब तक मन में जगत् कल्पित है, तभी तक जगत् की स्थिति है, मन के संकल्प का नाश होते ही इस जगत् प्रपञ्च भी नाश हो जाता है।

• • ❁ • •

**चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम्।**

**संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत्।।**(म.उ. ८१)

## महान् संवित्

विषयों से निर्मुक्त पूर्ण ज्योतिस्वरूप, समस्त संवेदनों से पूर्णतया मुक्त, चित्स्वरूप तथा महान् संवित् (ज्ञान) मात्र मैं हूँ। महर्षि ऋभु कहते हैं कि हे ब्राह्मण। इस प्रकार सारे संकल्पों को पूर्णतः शान्त करके और समस्त एषणाओं का परित्याग कर निर्विकल्प पद में जाकर आत्मस्थ हो जाओ।

**ईश्वरस्य महामाया तदाज्ञावशवर्तिनी। तत्सङ्कल्पानुसारिणी। विविधानन्तमहामायाशक्तिसंसेवितानन्तमहामायाजालजननमन्दिरा। महाविष्णोः कीडाशरीररूपिणी।**

(त्रिपाद्विभूति ३.४)

## ईश्वर की महामाया

ईश्वर की महामाया ईश्वर के संकल्प के अनुसार कार्य करने वाली, विविध प्रकार की अनन्त महाशक्तियों से संसेवित, अनन्त महामायाजाल की उत्पत्तिस्थान और महाविष्णु की लीला-शरीर-रूपिणी है। वह अनिर्वचनीया और अगोचर है। जो भगवान् विष्णु का भजन करते हैं, वे इस महामाया के मोहपाश से मुक्तप्राय रहते हैं।

• • ❁ • •

**मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।**

**ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।**(देव्यथर्वशीर्षोपनि.)

## भगवती दुर्गा

जगज्जननी पराम्बा समस्त मन्त्रों में 'मातृका'-मूलाधार में रहने वाली देवी हैं, शब्दों में अर्थ (ज्ञान) रूप से रहने वाली हैं, ज्ञानों में 'चिन्मयातीता' है और शून्यों में 'शून्य-साक्षिणी' हैं।

**यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत्।**

**स एव जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः।।** (कठरूद्रोपनि.)

## जगत्प्रकाशक परमात्मा

जो जगत् का प्रकाशक है, नित्य प्रकाश के रूप में अपने द्वारा ही प्रकाशक है, वही जगत् का साक्षी है और निर्मल आकृति वाला सबका आत्मा है।

**तद् ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्।**

**विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन।।**

जो साधक उस द्वन्द्वरहित, निर्गुण, सत्यस्वरूप और विज्ञानघन ब्रह्मानन्द की 'यह मेरा ही स्वरूप है'-इस प्रकार जान लेता है, उसे कहीं भी भय नहीं रहता।

## यतिनिर्वाणम्

**१. अनशनम्। २. अपां प्रवेशम्। ३. वीराध्वानम्। ४. महाप्रस्थानम् ५. वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्।**

## यति-निर्वाण

नश्वर शरीर के आधि-व्याधि से ग्रस्त होने पर यदि संन्यासी प्राणोत्सर्ग करना चाहे तो वह अनशन करे— अन्न जल त्याग दे, जल में प्रवेश कर जाय, वीरों के मार्ग का अनुसरण करे— परोपकार में शरीर अर्पित कर दे, योग के माध्यम से शरीर का परित्याग कर दे अथवा ज्ञान-वृद्धों के आश्रय में पहुँच जाये।

## चैतन्यं सप्तविधं भिद्यते व्यवहारतः

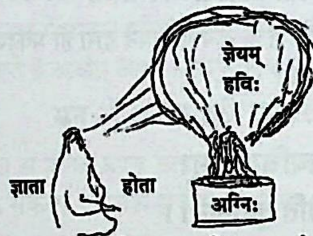
**शुद्धम्–मायोपाधिविनिर्मुक्तम्। २. ईशः–मायासम्बन्धतः। ३. जीवः–अविद्यावशः। ४. प्रमाता–अन्तःकरणसम्बन्धात्। ५. प्रमाणम्–वृत्तिसम्बन्धात्। ६. प्रमेयम्-अज्ञातम्। ७. फलम्–ज्ञातं चैतन्यम्।** (कठरुद्रोपनि.)

## व्यवहारभेद से सप्तविध चैतन्य

एक ही परमात्मतत्त्व व्यवहारतः सात प्रकार के भेदों में विभक्त हो जाता है। ये सप्तविध तत्त्व कहे गये हैं- १. शुद्ध- मायाकृत उपाधियों से अत्यन्त मुक्त ब्रह्म शुद्ध चैतन्य कहलाता है। २. ईश- माया के

सम्बन्ध से वह ईश है। ३. जीव-अविद्या के वशीभूत वही जीव है। ४. प्रमाता-अन्तःकरण के सम्बन्ध से वही प्रमाता-ज्ञाता कहलाता है। ५. प्रमाण-उस अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध से वह प्रमाण संज्ञा को प्राप्त होता है। ६. प्रमेय-वह चैतन्य जब तक अज्ञात है, तब तक प्रमेय कोटि में आता है। ७. फल-वही (चैतन्य) ज्ञात हो जाने पर फल कहलाता है।

अतएव बुद्धिमान् पुरुष अपने आपको 'मैं' समस्त उपाधियों से मुक्त हूँ—इस प्रकार चिन्तन करे। इस प्रकार जो तत्त्वतः जानता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करने योग्य हो जाता है।




**ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयानामभेदभावनं** (भावकोपनिषद्)

**श्रीचक्रपूजनम्** । (योगशिखोपनिषद् ५)

## श्रीचक्रपूजन

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय-इन तीनों में अभेद की भावना (अभेददर्शन) ही श्रीचक्रपूजन है। वहाँ ज्ञाता होता है, ज्ञान अग्नि है और ज्ञेय हवि है। होतारूप ज्ञाता, ज्ञान-रूप अग्नि और हविरूप ज्ञेय—जब तीनों समाहित हो जाते हैं, तब एक ही अव्यक्त, अद्वय तत्त्व हो जाता है। ज्ञाता ज्ञानाग्नि को ही हवि बनाकर होम कर देता है, तब ब्रह्मैवाहम् शेष बचता है।

**अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।** (श्रीमद्भाग. ४.२८.६२)

## जीव और ईश्वर में अभेद

मित्र! जो मैं ईश्वर हूँ, वही तुम जीव हो। तुम मुझसे भिन्न नहीं हो। तुम विचारपूर्वक देखो, मैं भी वही हूँ जो तुम हो। ज्ञानी पुरुष हम दोनों में कभी थोड़ा सा भी अन्तर नहीं देखते। श्रीमद्भागवत महापुराण के पुरञ्जन उपाख्यान के अन्तर्गत अविज्ञात पुरुष (परमात्मा) के द्वारा नाना योनियों में भ्रमण करने वाले अपने मित्र पुरञ्जन (जीव) के प्रति स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए उक्त वाक्य कहे गये हैं।

**'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'।** (तैत्तिरीयोपनि. २.७)

## परमात्मा रसस्वरूप है

परमात्मा ने अपने को स्वयं ही इस जड-चेतनात्मक जगत् के रूप में बनाया है, इस लिए उनका नाम सुकृत् है—वे अपने आप बने हुए हैं।

वे परमात्मा रसस्वरूप हैं। वे ही वास्तविक आनन्द हैं; क्योंकि जन्म-मृत्यु-रूप घोर दुःख का अनुभव करने वाला यह जीवात्मा इस रसस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करते ही आनन्द युक्त हो जाता है। जब आनन्दस्वरूप एकमात्र परमात्मा ही है, तब दूसरा कौन आनन्द दे सकता है?

**मृत्कुम्भबालुकारन्ध्रः पिधानरचनार्थिना।**
**दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त चूर्णीकृतो मया।।**

(तत्त्वज्ञानान्निर्वेद: चन्द्रालोक. टी.६)

मिट्टी के घड़े के रेत के छेद (प्राचीन काल मापक यन्त्र) को बन्द करने—कालचक्र की स्वाभाविक गति को बन्द करने— कालचक्र की स्वाभाविक गति को अवरूद्ध करने की प्रक्रिया में उलझा हुआ- शरीर पोषण में प्रवृत्त हुआ मैंने हाय! अपने शिर के बालों का (संन्यासीवेशसूचक) ऐसा जूड़ा बना रखा है, जो दक्षिणावर्त शंख जैसा दिखायी देता है। ऐसा कह कर कोई जटाजूटयुक्त साधु अपने ही वेश की खिल्ली उड़ा रहा है। अर्थात् उसे सत्यासत्य विवेकजन्य तत्त्वज्ञान से निर्वेद हो रहा है।

• •  • •

### बोधः

**१. साधनचतुष्टयाः। २. श्रवणादित्रयः। ३. मुक्तिद्वये। ४. चिद्भासस्याविद्यादयः सप्तावस्थाः ५. प्रस्थानत्रय्याम्।**

**आंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।**
**अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु।।(चि.सु. १.८)**
**आब्रह्मस्तम्बपर्यतं तत्कृते सृष्टिरविवेकात्।। २.४७।**
**विविक्तबोधात्सृष्टिनिवृत्तिः।। ३, ६३। (सांख्यसू.)**
**अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः।**
**स्वात्माज्ञानं कारणं बन्धनस्य स्वात्मज्ञानात्तन्निवृत्तिश्च मोक्षः।।**

(संक्षेपशारीरकम्)

**१. विश्वप्रभातः मम मदपूर्णनयनोन्मीलनम्, तुर्यसमाधेः मम मस्तिष्कजागृतिरस्य सृष्टिः। एषामसंख्यब्रह्माण्डानां रचनाकारणं ममात्यन्तकौतुकीहृदयस्य क्रीडायै प्रचलनम्। विश्वं मम हृदयनायकस्य रङ्गभूमिः।**

२. मौनधारणया हरिताः सरिता वृक्षाः मम प्राणसञ्चलनेन सुचलन्ति, मम च स्मितेनैव तेषु मञ्जुलानि कुसुमानि। मम मनोविहङ्गः तेषां कोपलेषु अत्र तत्र कूजन् - उत्पतन् विहरति- भाति वीचिषु शशिकिरणेव।

३. ममानन्तप्रेम प्रकृत्युरसि प्रस्फुरति। प्रति कणेषु तस्याः मृदुपयोधरेभ्यः मधुर-दुग्धस्यानवरतं बिन्दवः पतन्ति, विश्वशिशुः तस्या वात्सल्यमयाङ्के ॐ ॐ कुर्वन् तद्विगलति, अहं च करोमि प्रकृतिशृङ्गारम्।

४. गिरीणां पाषाणमयहृदयेषु अपि मम करुणा निर्झररूपेण निर्झरितं भूत्वा शीतलतरंगिणीसरितारूपेण क्रीडन्त्यः जगतः संतप्तहृदयं हिमपीयूषवारिणा शान्तं कुर्वन्ति, परं संसारदृष्टिषु अहमस्मि अति कठोरः।

५. अहमस्म्यनन्तसिन्धुः। नामरूपात्मकजगतो विभिन्नानि सर्ववस्तूनि सन्ति मे तरलतरंगाः। मम तटं अस्ति नास्तिशब्दैर्निर्मुक्तमस्ति, अपि च नित्योदितरविरिव न कदाचित् ममोदयो नास्तं न च जन्म न मृत्युः लौकिकी मतिः किमपि कथयतु। अहं परापरदृष्ट्याः परः उच्चतमः स्वमहिम्नि स्थितिः।

६. मम काष्ठमौनदृढता हिमालयरूपेण शून्येन सह संवदीति, तस्य शृङ्गेषु लग्नं मम आसनम्। इयमेव विश्वरहस्यस्य मूलाधारशक्तिःस्वस्नेहपूर्णमञ्जुलकराभ्यां प्रापयति मह्यं विजयायाः चषकानि अहं च प्रभ्रमामि निजानन्दे।

७. अहं श्मशानं मनोरमां रंगभूमिं करोमि, रुदिति च जगति सत्यदर्शकेभ्यः दर्शयामि महाप्रज्वलितचितागनौ जीवनम्, मधुरसृष्टेः मोहनाभिनयं, प्रिय-प्रियतमाया मधुरं मिलनं, रौद्रे च शृङ्गारं, वीभत्से वीररसं, करुणायां हास्यम्। संसारदृष्टिर्मामति भयानकं पश्यति, परं चाहं परमशान्तः। जनाः यस्मादशिवात्सदा त्रस्ता दूरं पलायन्ते स एवाहं परमशिवः सदाशिवः ॐॐॐ।

## जगत् का मिथ्यात्व

अवयवी अपने अवयवगत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है। अंशी अर्थात् अवयवी होने से अन्य अवयवियों की तरह ही गुण आदि में यह दिशा-मार्ग समझ लेना चाहिए।

अर्थात् विवादास्पद पट (अंशी) अपने अंशगत तन्तुगत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, वह तन्तु ही है पट नहीं। ऐसे ही यह व्यवस्था गुण, क्रिया आदि में है। गुणवान् अपने गुणों में नहीं है, अपितु गुण गुणवान् में हैं। क्रियावान् क्रिया में नहीं है, अपितु क्रिया क्रियावान् में है। इसी तरह ईश्वर जगत् में नहीं, अपितु जगत् ईश्वर में है। अतः जगत् मिथ्या है।

## ब्रह्म से स्तम्बपर्यन्त जगत्-सृष्टि

प्रकृति और पुरुष के अविवेक से ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त जगत् की सृष्टि हुई है तथा प्रकृति और पुरुष के विवेक से सृष्टि की निवृत्ति हो जाती है।

प्रकृति और पुरुष के परस्पर अध्यास से अन्धे और पंगु की तरह सृष्टि की उत्पत्ति हुई। पुरुष में कर्तृत्व नहीं और प्रकृति में चेतना नहीं है, अतः इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही सृष्टि हुई। पुरुष जब देख लेता है, उसे बोध हो जाता है कि कर्तृत्व गुणों अर्थात् प्रकृति का कार्य है, मेरा नहीं, तो वह मुक्त हो जाता है।

## अज्ञान ही बन्धन का कारण है

अल्परूप बन्धन में प्रत्यगात्मा है, जिससे शुद्ध चैतन्य मूर्ति बद्ध है। वस्तुतः आत्मा का अज्ञान ही बन्धन का कारण है। आत्मज्ञान होने पर बन्धन से निवृत्ति हो जाती है और मोक्ष हो जाता है।

## शिवोऽहं–विराट् शिव

मेरे मदपूर्ण नेत्रों का खुलना ही विश्व का प्रभात है। तुरीय समाधि से मेरे मस्तिष्क की जागृति ही इस जगत् की सृष्टि है। इन असंख्य ब्रह्माण्डों की रचना का कारण मेरी अत्यन्त कौतुकी हृदयलीला का होना है, यह विश्व मेरे हृदयरूपी नायक की रंगभूमि है।

मौन धारण किये हुए ये हरित वृक्ष मेरे प्राण सञ्चलन से चलते हैं-बढ़ते हैं, मेरे मन्द हास्य से उनमें मञ्जुल पुष्प विकसित होते हैं, मेरा मन विहंग (पक्षी) यहाँ-वहाँ कूजता,खेलता और उड़ता हुआ विहार करता है, जिस प्रकार नदी की तरङ्गों में चन्द्रमा की किरणें खेलती हैं।

मेरा अनन्त प्रेम प्रकृति के हृदय में प्रस्फुरित होता है, प्रत्येक कणों में उसके पयोधरों से अनवरत मधुर दुग्ध बिन्दु गिरते हैं, उसकी वात्सल्यमयी गोद में विश्व शिशु ॐ-ॐ करता उसका पान करता है और मैं उस प्रकृति का शृङ्गार करता हूँ।

पर्वतों के पाषाणमय हृदयों में भी मेरी करुणा निर्झर रूप से निर्झरित होती हुई शीतल तरंगों वाली सरिता के रूप से खेलता हुआ संसार स्वकीय संतप्त हृदय को शीतल अमृतमय जल से शान्त करता है फिर भी संसार की दृष्टि में मैं हूँ अति कठोर।

मैं हूँ अनन्त सागर। नाम-रूपात्मक जगत् की विभिन्न समस्त वस्तुएँ मेरी तरल तरंगे हैं। मेरा तट है अथवा नहीं,-अस्ति-नास्ति शब्दों से निर्मुक्त है। रवि जैसा मेरा उदय और अस्त भी नहीं होता और न ही जन्म-मृत्यु होते हैं, लौकिक बुद्धियाँ कुछ भी कहें, किन्तु मैं पर-अपर दृष्टि से परे हूँ, उच्चतम हूँ और अपनी महिमा में स्थित हूँ।

मेरे काष्ठमौन की दृढ़ता हिमालयरूप शून्य के साथ बोलती है, उसी के ऊँचे शिखरों पर मेरा आसन लगा है। यही विश्वरहस्य की मूल आधार शक्ति अपने स्नेहपूर्ण मञ्जुल करकमलों से विजया के चषकों का पान कराती है और मैं निजानन्द में परिभ्रमण करता हूँ।

मैं श्मशान-भूमि को मनोरम रंग-भूमि बनाता हूँ। रोते हुए जगत् में सत्य के दर्शकों को दिखाता हूँ।

महाप्रज्वलित चिता की अग्नि में जीवन, मधुर सृष्टि के मोहन का अभिनय, प्रिय और प्रियतमा का मधुर मिलन, रौद्र में शृंङ्गार, बीभत्स में वीर रस, करुणा में हास्य। संसार की दृष्टि मुझे भयानक देखती है, पर मैं हूँ परम शान्त। मनुष्य जिस अशिव से सदा त्रस्त दूर भागते हैं, (शिव को चाहते हैं) वही मैं परम शिव, सदाशिव हूँ।



**सम्बन्धे सर्वदृश्यानां मध्ये द्रष्टुर्हि यद्वपुः।**
**द्रष्टुदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम् ।।(योगवा. ३.९.६७)**
**दुर्घटत्वमविद्यायाः भूषणम् ।**
**अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम् ।**
**अचेतनमजडं चेति तन्मयो भव सर्वदा।।**
**कर्ता कषायपाकेन परिपक्वमतिः स्थितिः।**
**चेतस्यस्याद्य विमले स्वतत्त्वं प्रतिबिम्बति।।(लघुयोगवा.नि. ९.९६)**
**स्वरूपे निर्मले सत्ये निमेषमपि विस्मृते।**
**दृश्यमुल्लासमायाति प्राविषीव पयोधराः।।**
**अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसतौ तथा।**
**यदसंसक्तं च स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते।।**
**या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः।**
**साक्ष्यवस्थाव्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते।।(लघुयोगवा.)**

## योगवासिष्ठ का विशिष्ट ज्ञान

सभी दृश्यों के सम्बन्ध में मध्यस्थिति जो साक्षीरूप सत्ता है, वह ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से शून्य परमात्मा है।

अघटित घटनाओं को घटाना ही अविद्या का भूषण है अर्थात् अघटित घटना घटाने में जो परम प्रवीणता है, वह अविद्या (माया) का अलङ्करण-आभूषण है। इन अलङ्करणों से महामाया सदा सज्जित रहती है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का साक्षी और इन तीनों से ही भिन्न जो तेरा सनातन स्वरूप है, जिसे न चेतन कह सकते हैं और न जड़ ही कह सकते हैं अर्थात् अनिर्वचनीय है, तुम तन्मय हो जाओ, तद्रूपता को प्राप्त हो जाओ।

राग-द्वेषादिरूप कषाय के परिपाक से (नष्ट हो जाने से) साधक की परिपक्व (परिष्कृत) बुद्धि व चित्त शुद्धि हो जाती है। फिर विमल अन्तःकरण में परमात्मतत्त्व प्रतिबिम्बित हो जाता है।

जब साधक का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और स्वतत्त्व प्रतिबिम्बित होने लगता है, तब दृश्य (ध्येय) उल्लसित हो जाता है, जैसे वर्षा ऋतु में बादल पुञ्जीभूत हो जाते हैं।

जब साधक 'अहं' भाव और 'अनहं' भाव- 'मैं हूँ और मैं नहीं हूँ- इन दोनों भावों को छोड़ कर सत्-असत् का त्याग कर चुका होता है, तब स्वच्छ व निर्लेप तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। उसी को तुरीयावस्था कहते हैं।

**नैव जाग्रन्न च स्वप्नः सङ्कल्पानामसम्भवात्**
**सुषुप्तभावो नाप्येतद् अभावाज्जडतास्थितेः।।**
**शान्तं सम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत्।**
**विलीनतुर्यमित्याहुः अबुद्धास्थिरं स्थितम्।।** (लघुयोगवा.नि. १४)
**प्रवाहपतितं कुर्वन् निरिच्छास्तिष्ठ शान्तधीः।**
**देहदुःखं विदुर्व्याधिं आध्याख्यं वासनामयम्।**
**मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात् तत्त्वज्ञानपरिक्षये।।**
**एते चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः।**
**असन्तःसर्व एवाहो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः।।**(योगवा नि. ७८.३९)
**महाचिदेकैवास्तीह महासत्तेति योच्यते।**
**निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी।।**
**अचेत्यं यदिदं चित्त्वं तत्तस्या रूपमक्षतम्।**
**तृणीकृत्य जगत्सर्वं पीताखिलजगद्रसम्।**
**अनन्तोङ्कामरं सौम्यं मनः पश्यामि ते प्रिये।।**(योगवाशि. न. ८१.२)

साक्षी अवस्थाओं के व्यवहार में जो स्वच्छ, शान्त तथा समतायुक्त जीवन्मुक्त अवस्था है, उसे चतुर्थी कलना (अवस्था) कहते हैं।

तुरीय चैतन्य में संकल्पों के असम्भव होने से जाग्रत् और स्वप्न नहीं रहते, ये दोनों ही अवस्थाएँ समाप्त हो चुकी होती हैं और जड़ता स्थिति के अभाव से सुषुप्ति भी नहीं रहती।

ज्ञानियों के लिए यह यथास्थित जगत् तुर्य तत्त्व में विलीन हो जाता है, ऐसा कहा गया है और अज्ञों के लिए यह जगत् जैसा है, वैसा ही दिखायी देता है।

संसार का जैसा प्रवाह है, उसे वैसा ही करते (समझते) हुए तू इच्छा शून्य होकर शान्तिबुद्धि हो जा।

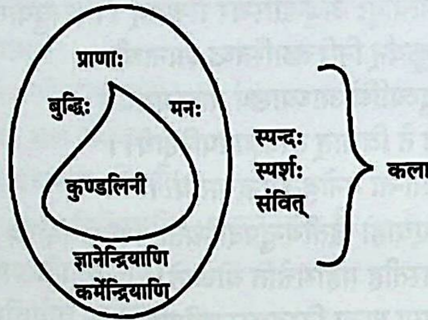
देह के दुःखों को व्याधि कहते हैं और वासनामय दुःखों को आधि कहते हैं, ये दोनों ही मूर्खता के मूल हैं, अज्ञान के कारण है- ऐसा जानो, तत्त्वज्ञान से इनका नाश हो जाता है।

ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि चेतन के विलास पर्यन्त ही हैं, ये न होते हुए भी अविद्या के दोष से दिखायी देते हैं, जैसे नेत्र के विकार से एक ही चन्द्रमा दो दिखायी देता है।

वास्तव में एक महान् चेतन परमात्मा ही इस संसार में सत्यरूप से विराजमान है; उसको महासत्ता भी कहते हैं। यह निष्कलङ्क, समरूप, विशुद्ध और अहङ्काररहित है।

उसका जो अचिन्त्य चेतन स्वभाव है, वह सदा अक्षत रहता है, वह अपने परमानन्द स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता।

आत्मतत्त्व में परिनिष्ठित चूडाला को अपूर्व शोभासम्पन्न देखकर उसके पति राजा शिखिध्वज ने कहा- चेतनस्वरूप को जान कर जिसने संसार को तृणवत् समझ लिया है तथा सम्पूर्ण जगत् रूप रस के पान से जो तृप्त है (जैसे कि तुमने अमृत का सार पी लिया है) जिसने अलभ्य अनन्त परमात्मा की प्राप्ति कर ली है। हे देवि! ऐसा मैं तुम्हारा सौम्य मन देखता हूँ।




**अग्निसोमौ मिथः कार्य-कारणे च व्यवस्थितौ।**
**पर्यायेण समौ चैतौ प्रजीयते परस्परम् ।।(योग० ८१)**
**सर्वं तूष्णात्मकं सूर्यः शीतसोमस्तयोर्जगत् ।।**
**चिद्रूपजडरूपाभ्यां आरब्धेयं जगत्स्थितिः।**
**प्रकाशमनलं सूर्यं चिद्रूपं विद्धि राघव।।**
**चित्सूर्ये निर्मले दृष्टे राम नश्येद् भवोदयम् ।**
**चितश्चेत्लोन्मुखत्वेन लाभः सैव च संसृतिः।।**
**उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम् ।**
**ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव राघव।।(योगवा. नि. ८३.१३)**
**अहो नु विषमं मौर्ख्यं तदनात्मज्ञतात्मकम् ।**
**यावत्प्रमाणं जीवोऽयं संशाम्यत्यपरिस्फुरन् ।**
**तावत्प्रमाणमेवैनं मुक्तं मुक्तमवेहि वै।। (,, ,, पू. ८२.१२७)**

## पूर्ण प्रवाह

जिस प्रकार वायु पुष्प से गन्ध खींच कर घ्राणेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध कर देता है, उसी प्रकार योगी स्पन्द, स्पर्श, संवित् कला के माध्यम से कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के ऊपर उठकर विमल मन-बुद्धि-चित्त अहंकाररूप अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, कुण्डलिनी के साथ देह में बँधी हुई लता के समान

समस्त नाड़ियों को प्राणायाम द्वारा ऊपर उठाकर प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर देता है और आकाशगामी सिद्धों का दर्शन करते हुए समस्त सिद्धियों को प्राप्त करता हुआ चितिपूर्ण आकाश में समाहित हो जाता है।

अग्नि और चन्द्र दोनों एक साथ कार्यकारण में व्यवस्थित हैं और पर्यायरूप से दोनों समान हैं। दोनों की परस्पर सम्मिलित सत्ता है, जीते है और जीवन प्रदान करते हैं। उष्ण प्रकृति प्राणवायु अग्निस्वरूप है तथा शीतल प्रकृति अपान वायु चन्द्रस्वरूप है, छाया और घाम की तरह दोनों ही समरूप से रहते हैं। सर्वतृष्णात्मक सूर्य है और शीतलता से परिपूर्ण चन्द्रमा है। सूर्य तृष्णा है और सोम उस तृष्णा को पूर्ण करने वाली आशा है। इन दोनों से ही जगत् की स्थिति है।

चित् और जड़ रूप से ही इस सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ हुआ है। प्रकाश, अग्नि और सूर्य को तुम हे राम! चित् रूप समझो। निर्मल चित् रूप सूर्य के देख लेने पर इस भवोदय का विनाश हो जाता है। यदि चित्त प्रकाश की ओर उन्मुख नहीं होता है, तो अविद्या जन्म से ग्रस्त यह जीवन-मरणरूप संसार को ही लाभ समझेगा।

हे राम! गुरु द्वारा उपदेश प्राप्त करने का क्रम केवल शास्त्रमर्यादा का पालन है, ज्ञान-प्राप्ति का कारण तो शिष्य की विश्वासयुक्त विशुद्ध प्रज्ञा ही है।

अहो! यह कैसी अज्ञान भरी मूर्खता है, इसी मूर्खता के कारण ही जीव ने अपनी विषम स्थिति कर ली है; सत्यस्वरूप होते हुए भी असत्य रूप बन बैठा है।

जितने प्रमाण में जीव मन-इन्द्रियों का संयम करके परिस्फुरित होता है अर्थात् ऊपर उठता है, उतने ही प्रमाण में वह संसार के दोषों से क्रमश मुक्त होता चला जाता है।

**सवासनं मनो ज्ञेयं ज्ञानं निर्वासनं मनः।**
**ज्ञानेन ज्ञेयमभ्येति पुनर्जीवो न जायते।।** (योगवा. पू. ८७)

**वासनामात्रसारत्वादज्ञस्य सफलाः क्रियाः।**
**सर्वा एवाफला ज्ञस्य वासनामात्रसंक्षयात्।।**
**कालातिवाहनायैव विनोदायोदिताः क्रियाः।।**(योगवा.नि.पू. ८७)
**अनुपादेयवाक्यस्य वक्तुः पृष्टस्य लीलया।**
**व्रजन्त्यफलतां वाचः तमसीवाक्षसंविदः।।**
**चित्तं सर्वमिति प्राहुः तत्त्यागे निर्वृतिः परा।**
**सर्वनाशो हि चित्तस्य संसृतिक्षय उच्चते।।**
**हेतुत्वाभावतो ब्रह्म कार्यत्वाभावतस्तथा।**
**अद्वैतेनातिगन्तात्मा न च कार्यं न कारणम्।।**(योगवा.नि. ९५.१२)

**'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमपरम्' नेह नानास्ति किञ्चन। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'-श्रुतयः। कूटस्थस्य परिणामयोगात् सर्वप्रपञ्चातिगन्तात्मा शुद्धं ब्रह्म न कारणं नापि कार्यम्।** (टी.)

**कारणाभावतः कार्यं न कस्यचिदिदं जगत् ।**
**भ्रमद्विद्धि तत् ।।**
**पदार्थाभावसंसिद्धौ वेदनाभाव आगतः ।**
**तदभावे त्वहङ्कारहानिः शुद्धोऽवशिष्यते।।(योगवा. नि. १९)**
**अतः शुद्धो विमुक्तोऽसि कैवोक्तिर्बन्धमोक्षयोः ।**
**चित्तं नास्त्येव दृश्यत्वात् कदाचित्किञ्चन क्वचित् ।**

जब तक मन में वासना रहती है, तब तक मन-मन रहता है (वासनायुक्त मन को मन जानना चाहिए) वासनाओं के समाप्त होते ही वह मन ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। ज्ञान के द्वारा जीव ज्ञेय परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त होता है, फिर उसका जन्म नहीं होता। अतः मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है।

अज्ञानी के सभी कर्म सफल होते हैं, क्योंकि कर्मों की सफलता में प्रयोजक वासनाएँ उसमें हुई हैं, परन्तु जो ज्ञान-सम्पन्न हैं उनके सभी कर्म निष्फल हैं, क्योंकि उनकी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। वासनाओं का क्षय होने पर कर्मफल भी नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानी की क्रियाएँ काल के अति बाह्य (समय व्यतीत करने के लिए) और मात्र विनोद के लिए होती हैं। उनकी क्रियाओं में वासना का सर्वदा अभाव रहता है।

जिसके वचनों में श्रोता की श्रद्धा नहीं होती और जिससे कौतूहल से प्रश्न किया जाता है, प्रश्नकर्ता ही जब अपने प्रश्न को उपादेय नहीं मान रहा तो ऐसे अनुपादेय वाक्य से वक्ता की वाणी निष्फल हो जाती है अर्थात् अश्रद्धालु श्रोता के सामने कुछ कहना निरर्थक हो जाता है, जैसे अन्धकार में नेत्र-ज्ञान व्यर्थ हो जाता है।

चित्त ही सब कुछ है, इसके (मैं-मेरा) त्याग में ही परनिवृत्ति है। इस चित्त का सर्वथा नाश ही संसार का भी नाश है— ऐसा तत्त्वज्ञों ने कहा है।

शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही, क्योंकि निर्विकार होने से कार्यत्व और कारणत्व का अभाव है। यह ब्रह्म अपूर्व है, अपर है। इसमें नानात्व किञ्चित् भी नहीं है- अद्वय है। यह परम पुरुष है, असङ्ग है। कूटस्थ परिमाण के अयोग से सर्वप्रपञ्च का अतिगन्ता आत्मा शुद्ध ब्रह्म है। वह न कारण और न कार्य ही है।

यह जगत् किसी का भी कार्य नहीं है, क्योंकि कारणस्वरूप न रहने से जो कार्य रूप दिखायी देता है, वह केवल भ्रम से ही है। किसी का कार्य नहीं है, तब अनायास समस्त पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने पर फिर ज्ञान किसका और जब ज्ञान का ही अभाव सिद्ध हो गया तब अहङ्कार का भी कोई कारण नहीं रहता, इसलिए तुम शुद्धयुक्त ही हो, फिर बन्धन और मोक्ष की क्या बात है।

चित्त नाम का पदार्थ किसी काल में, कहीं भी नहीं है। यह जो चित्त सा प्रतीत हो रहा है, वह अविनाशी ब्रह्म ही है।

**यच्चेदं चित्तवद् भाति तद् ब्रह्माभिधमव्ययम् ।।**
**अतोऽज्ञानात्मकं यत्तत् जगदेव न विद्यते।**
**तत्राहं त्वं तदित्यादि कल्पिताः कलनाः कुतः।।** (,, ,, ९८)
**यदिदं कचति तद् ब्रह्म स्वयमात्मात्मनात्मनि।**
**कृतं तस्यैव तेनैव चित्तमित्यादि नामकम् ।।**
**ब्रह्मणः सर्वरूपस्य शान्तस्यात्तस्य यत्समम् ।**
**स्वत एवात्मकचनं सर्गप्रलयरूपधृक्।।**
**मूर्खबुद्धं जगद्भाति यत्तद् ब्रह्मेव वेद्म्यहम्।** (शिखिध्वजः)

सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपञ्च अज्ञानात्मक है इसलिए उसका अस्तित्व ही नहीं; क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञान से बोध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्म में अहं, त्वं, तत् इत्यादि कल्पनाएँ कैसे रह सकती है, जो कुछ भी यह प्रकट जगत् है, वह कुछ है ही नहीं।

जो कुछ भी दिखायी देता है, वह ब्रह्म है। यह स्वयं अपनी आत्मा में ही है, वह सब भासनात्मक ब्रह्म ही है दूसरा नहीं। चित्त इत्यादि नामक असत्य पदार्थ उसके ही है और उससे ही बने हैं।

सर्ग-प्रलय-रूप धारण करने वाला यह सब भासमान समस्त जगत् परम शान्त, अजन्मा, सम और सर्वरूप अनादि परमात्मरूप है।

शिखिध्वज कहता है कि मूर्खों की बुद्धि में यह जगत् दिखायी देता है; किन्तु यह जो कुछ भी है वह सब ब्रह्म है, ऐसा मैं जान गया हूँ।



चूडाला-

**सौम्यार्णवोदरावर्तपरिस्पन्दवदास्व भोः।**
**यथास्थितव्यवहृति मौनी शान्तमना मुनिः।।** (योगवा. ६.पू.८९)
**आत्मतत्त्वैकघनया ततया ब्रह्मसत्तया।**
**जगत्सर्वमिति व्याप्तं समुद्र इव वारिणा।** (,, ,, १००)
**कच्चिदस्मिन्पदे स्फारे शुद्धे विततनिर्मले।**
**सुतल्पे निर्विकल्पानां सुखं विश्रान्तवानसि।।**
**मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते।**
**कषायपाके निवृते सर्वेन्द्रियगणस्य च।।**
**यान्ति चेतसि विश्रान्तिं विमला देशिकोक्तयः।।**
**एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारि वाम्बुधिः।**
**तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारीव वीचिभिः।।**

**सस्पन्दा चित्-जगत्। निःस्पन्दा-तुर्यातीता। वाचा वस्तुं न पार्यते।**
**शास्त्रसज्जनसम्पर्कसततताभ्यासयोगतः।**
**कालेनामलतां प्राप्ते चेतसीन्दाविवोदिता।।('' '' १०१)**

चूडाला कहती है- हे सौम्य! जिस तरह समुद्र में तरंग आदि वास्तव में जलमात्र ही है, उसी तरह ब्रह्म में संसार और संसार के पदार्थ परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है, वहाँ वाणी की गति नहीं है, मन की गति नहीं है। अतः मननशील ज्ञानी, मौनी और शान्त हो जाता है।

जैसे जल से समुद्र परिपूर्ण है, वैसे ही सच्चिदानन्द परमात्मतत्व ब्रह्मसत्ता से यह सारा संसार परिपूर्ण है, अभिव्याप्त है।

कुम्भरूपिणी चूडाला ने राजा शिखिध्वज से कहा—राजन्! जो अत्यन्त प्रकाशवान् शुद्ध, विस्तृत एवं निर्मल है तथा जो निर्विकल्प समाधि में स्थित रहने वाले योगियों के लिए सुन्दर शय्या के समान है, उस आत्मपद में आपको आनन्दपूर्वक विश्रान्ति प्राप्त हो चुकी है न?

जब भोगेच्छाओं का परित्याग कर देने से मन पूर्णतः शान्त हो जाता है और सम्पूर्ण इन्द्रियों के भोगरूप दोषों की निवृत्ति हो जाती है, तब चित्त में उपदेशक की विमल उक्तियाँ स्थित हो जाती हैं।

जैसे सागर जल रूप से एक है, उसी तरह यह सम्पूर्ण जगत् चिन्मात्र स्वरूप होने के कारण एक ही वस्तु है। जैसे तरंगें शुद्ध जल को ही उछालती हैं, वैसे ही बुद्धि-वृत्तियाँ उसी चिन्मात्र को स्पन्दित करती हैं।

निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास और सत्पुरुषों के संग से जब समय पाकर चित्त शुद्ध हो जाता है, तब चित्त में चन्द्रोदय की तरह एकमात्र चेतन परमाात्मा के स्वरूप का अनुभव होता है।



शिखिध्वजः-

**ज्ञस्य सर्वत्र वै स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित्।**
**अवाञ्छनत्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम्।।** (यो.वा.नि.पु. १०७)
**शरीरशकटानां हि कर्षणे परमात्मना।**
**मनः प्राणोदयौ क्लृप्तौ रूपं जीवत्वमेव तत् ।।**
**मनोरथमुपारूह्य वहत्प्राणतुरंगकः।।(,, ,, ६.३२)**
**सर्वगाचिच्चेतनतो जीवीभूय मनः स्थिता।**
**चेतसि प्रतिबिम्बति।।**
**ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वं तत्त्वतो न विरूध्यते।**
**भिद्यते।।**
**तरङ्गकणकल्लोलजलौघ इव वारिणः।।**
**देशकालक्रियासत्तानियत्याद्याश्च शक्तयः।**

**चिदात्मिका एव चितः सत्तवात्सम्पतिताः स्वतः।।**
**यथा वीच्याद्यभिधार्हं स्थितमम्बु तरंगकम्।**
**असम्भवत्तरङ्गस्य चिद्विलासमहाम्बुधेः।।(यो.वा.नि. पु. ३३)**
**चित्तं सर्वमिति प्राहुः तत्त्यक्त्वा पुत्र राजसे।**
**निजमहङ्कारं विदुः।।**

इन्द्र के स्वर्ग में चलने के लिए कहने पर आत्मनिष्ठ शिखिध्वज ने कहा—मैं तो सभी देशों को स्वर्ग मानता हूँ, (ज्ञानी को सभी जगह स्वर्ग है) क्योंकि मैं जिस परमात्मा को स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। अतः मेरे लिए कहीं पर भी एकदेशीय स्वर्ग नहीं है। मेरे मन में किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, मैं सर्वत्र आनन्द से परिपूर्ण रहता हूँ।

परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी को खींचने के लिए मनःशक्ति और प्राणशक्ति—ये दो सुदृढ़ बैल बनाये हैं। (परमात्मा से ही वह जीव जीवन धारण करता है।) यह जीव का रूप है। मनोरथ को आरोहित कर प्राणतुरंग (घोड़े) इसको ले जाते हैं।

सर्वशक्ति रूप होने पर भी चेतन जीवात्मा अज्ञानवश स्वयं अपने मन में ऐसा मान बैठता है कि मैं चेतन नहीं हूँ, जबकि जीवात्मा और परमात्मा में भेद है ही नहीं। तत्वतः ब्रह्म का सर्वशक्तित्व वास्तव में ब्रह्म से विभक्त नहीं रहता, जैसे तरंग, कण, कल्लोल और प्रवाह जल से विभक्त नहीं रहते।

स्पन्दनयुक्त चित् जगत् है और स्पन्दरहित चित् तुर्यातीता स्थिति है, जिसे वाणी से नहीं कहा जा सकता।

देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चेतन की सत्ता से ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं। जैसे वीचि (लहर) आदि संज्ञा के योग्य स्थित जल ही तो है; क्योंकि जल बिना तरंग का होना असम्भव है, वैसे ही सकल प्रपञ्च महाम्बुधि का चिद्विलास है।

चित्त ही सब कुछ है- ऐसा कहा जाता है, इस लिए उस को (जीवभाव) को त्याग कर हे पुत्र! परम तत्त्व में सुशोभित हो जाओ। स्वकीय अहंकार को जानो। (क्योंकि अहंकार नामक चित्त और संसार के दोषों की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष सदा शान्त और प्रसन्न रहता है।)



(योवा.नि.पृ. ११३)

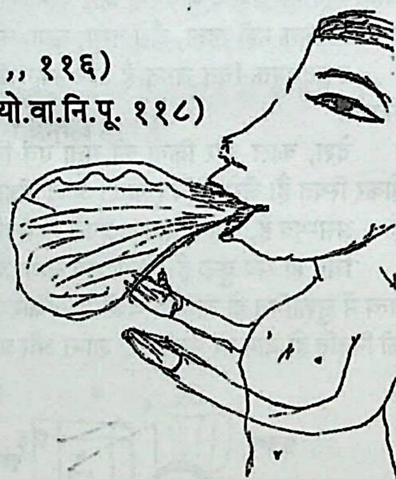
**परमाद् ब्रह्मणः पूर्वं मनः प्रथममुत्थितम्। मननात्मकमाभोगि तत्स्थमेव स्थितिं गतम्। पुष्पकोश इवामोदः।(यो.वा.नि. पु. ११४)**

श्री वशिष्ठ श्रीराम को मिथ्या पुरुष के सम्बन्ध में बताते हैं- एक मायायन्त्रमय पुरुष है। उसके मन में आया कि आकाश मेरा है मैं इसकी रक्षा करूँगा। उसकी रक्षा हेतु एक घर का निमार्ण किया, उस घर के अन्दर उसने यह आस्था बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और मैंने इसकी रक्षा की है, उस गृहाकाश से वह सन्तुष्ट हो गया। कुछ काल बाद वह घर नष्ट हो गया, मिथ्यापुरुष को बहुत शोक हुआ। फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्यापुरूष ने आकाश की रक्षा हेतु एक कूप का निर्माण किया वह भी नष्ट हो गया, फिर उसने कुम्भ (घड़ा) का निर्माण किया, कालक्रमानुसार वह भी नष्ट हो गया, फिर कुण्ड का निर्माण किया, वह भी नष्ट हो गया तो एक बड़े से घर का निर्माण किया, मध्य के कक्ष में आकाश की रक्षा करने लगा। उसके भी नष्ट हो जाने पर एक मेघाकार कुसूल (कोठा) बनाया और आकाश की रक्षा में निरत हो सन्तुष्ट हो गया।

इस प्रकार मिथ्यापुरुष का यह कभी समाप्त न होने वाला काल बीतता जाता है। गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियों से आकाश को आत्मबुद्धि से पकड़कर वह मिथ्यापुरुष गमनागमन की आसक्ति से विवश होकर एक दुःख से दूसरे अतिकठिन दुःख में आता-जाता है।

जो आत्मा है, वह आकाश से भी बड़ा है। जैसे घट के विनष्ट होने पर घटाकाश नष्ट नहीं होता, वैसे ही देह के नष्ट हो जाने पर निर्लेप जीवात्मा का विनाश नहीं होता। लेकिन उस मिथ्यापुरुष को यह तत्त्व समझ नहीं आता।

**भावाभावविरूद्धोऽपि विचित्रोऽपि महानपि।**
**नानन्दाय न खेदाय सतां संसृतिविभ्रमः।।(,, ,, ११६)**
**सुखदुःखदशा मोहो मनस्येवास्ति नात्मनि। (यो.वा.नि.पू. ११८)**
**सङ्कल्पान्मुखतां याताः सत्यश्चिन्मात्रसंविदः।**
**आपस्तरङ्गत्वमिव यान्ति भूमिप जीवताम्।।**
**ते जीवा संसरन्तीह संसारे पूर्वमुत्थिते।**
**सन्निवेशांशवैचित्र्यं यथा हेम्नोऽङ्गदादिता।**
**आत्मनस्तत्तद्रूपा तथैव जगदादिता।।**



सृष्टि के आदि में परब्रह्म से यह संकल्प-विकल्पात्मक समष्टि मन उत्पन्न हुआ। उस परब्रह्म में स्थित हुआ ही अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओं को निमित्त बनकर आजतक विद्यमान है। जैसे कि फूलों में सुगन्ध रहती है।

भाव(अस्ति) और अभाव (नास्ति) के विरूद्ध होने और महान् विचित्र होने पर भी यह जगत् विभ्रम सत्य के अनुसन्धाताओं के लिए न आनन्द का विषय है और न ही खेद का, वे तो संसार में समभाव से रहते हैं।

सुख-दु:ख की दशा और मोह आदि विकार मन में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। अपने संकल्प से सच्चिदानन्द ब्रह्म ही नाना प्रकार के आकारों में प्रकट होता है। जैसे तल अनेक तरंगों के रूप में प्रतीत होता है। वैसे ही ब्रह्म ही जीवता को प्राप्त हो जाता है। वे जीव यहाँ पूर्व उत्थित संसार में अविद्यावश संसरण करते हैं।

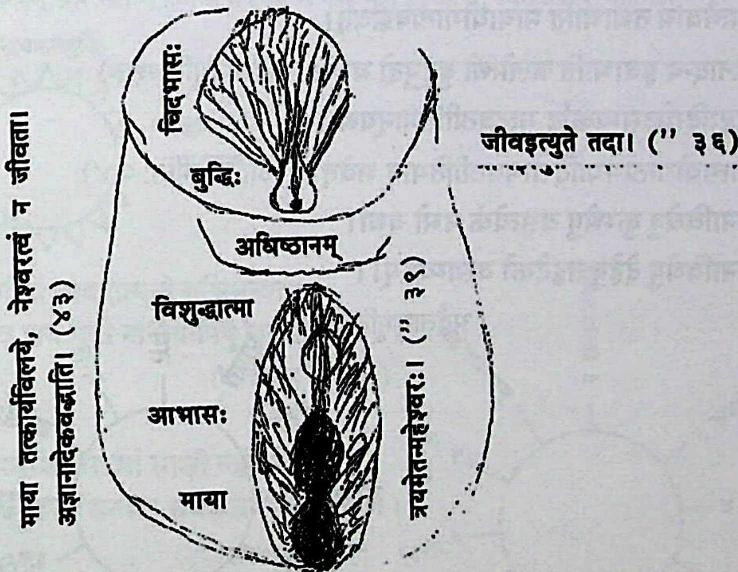
जैसे स्वर्ण ही अङ्गदादि आभूषण रूप में दिखायी देता है, वैसे ही आत्मा (ब्रह्म) ही तत्तत् रूपों में परिणत हो जाता है, है वस्तुतः सब ब्रह्म ही। इस प्रकार ब्रह्म सन्निविष्टि जगत् में वैचित्र्य की प्रक्रिया प्रवाहित है।

महा अगस्त्यरूप आत्मा का स्मरण करो, जिन्होंने कालरूपी समुद्र को पी लिया था।

• • ✿ • •

**चिदमृतसुखराशौ चित्तफेनं विलीनं क्षयमधिगत एव वृत्तिचञ्चत्तरङ्गः।**
**स्तिमितसुखसमुद्रो निर्विचेष्टः सुपूर्ण कथमिह मम दुःखं सर्वदैकोऽहमस्मि।।**

(स्वात्मप्रकाशिका २८)



## ब्रह्मप्रमोदार्णव

चित्त रूप अमृत सुख समुद्र की प्राप्ति होने पर अर्थात् ब्रह्मप्रमोदार्णव में समाहित हो जाने पर चित्तरूपी फेन (झाग) विलीन हो जाता है तथा नाना प्रकार की चञ्चल वृत्ति रूप तरंगें (वासनाएँ) नष्ट हो जाती हैं उस समय आत्मारूपी सुख समुद्र निश्चेष्ट तथा परिपूर्ण हो जाता है। फिर 'मैं हूँ'-मुझे दुःख हो रहा है-ये सब प्रतीति समाप्त होकर मैं सर्वदा एक ही हूँ- ऐसा स्वात्मप्रकाश होने लगता है।

जब एक अज्ञान का ही मान होता है, तब वह जीव है और सम्पूर्ण अज्ञानों का अवभास होने पर ईश्वर कहलाता है। दोनों ही माया की उपाधि हैं। माया और माया के कार्य विलीन होन पर न ईश्वर रहता है और न जीव ही।

एक ही अधिष्ठान (शुद्ध चैतन्य) है। बुद्धि के विविध प्रस्फुरणों से, सबमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि-भेद से चिदाभास में भी भेद हो जाता है।

विशुद्धात्मा श्वेत वस्त्र की तरह है; किन्तु माया ने तरह-तरह की चित्रकारी करके अनेक आभास उत्पन्न कर दिये। माया, आभास और विशुद्धात्मा ये तीनों ही इस जगत् प्रपञ्च के महेश्वर हैं।

**आत्मैवायं तथाभाति मायायोगात्प्रपञ्चवत्।**

**जलादन्य इवाभाति जलोत्थो बुद्बुदो यथा।** (अद्वैतानुभूतिः १३)

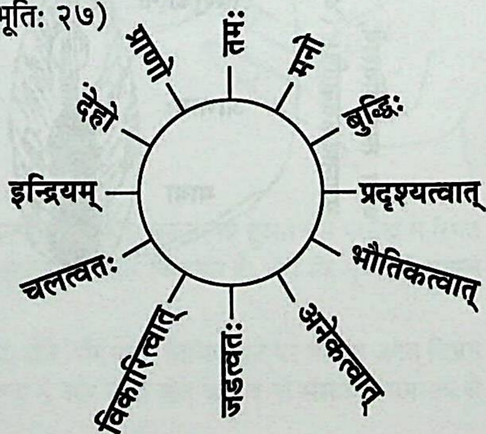
**पिष्टादिर्गुलसम्पर्काद् गुलवत्प्रीतिमान्यथा।**

**आत्मयोगात्प्रमेयादिरात्मवत्प्रीतिमान् भवेत्।।** (अद्वैतानुभूतिः २४)

**नानाविधेषु कुम्भेषु वसत्येकं नभो यथा।**

**नानाविधेषु देहेषु तद्वदेको वसाम्यहम्।।**

(अद्वैतानुभूतिः २७)



## माया के सम्पर्क से आत्मा का पार्थक्य

आत्मा ही माया के योग से जगत् प्रपञ्च-सा दिखाई देता है। जबकि वह एक है, जैसे एक ही जल में, जल से ही उत्थित बुद्‌बुद (फेन), और तरंगे पृथक्-पृथक् दिखायी देती हैं।

## सम्पर्क गुण

रस विशेष (गुलकन्द आदि) के सम्पर्क से पिसी हुई अन्य वस्तुएँ भी उसी के स्वाद की हो जाती हैं। उसी तरह चेतन (आत्मा) के संयोग से प्रमाण-प्रमेय आदि भी प्रेमास्पद प्रतीत होते हैं।

## विविध शरीरों में एक ही आत्मा

विविध कुम्भों में जैसे एक ही आकाश का निवास है, इसी तरह अनेकानेक शरीरों में एक ही मैं निवास करता हूँ।

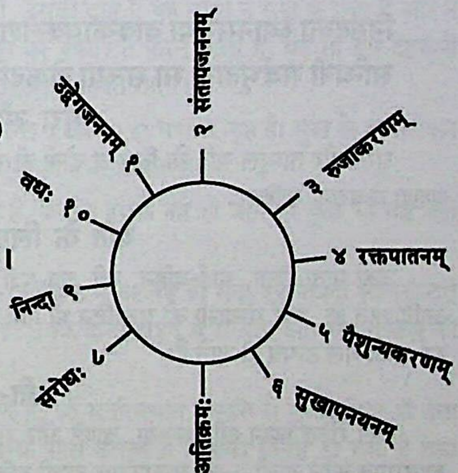
## ये मैं नही हूँ

न मैं बुद्धि हूँ, न मन हूँ, न तम हूँ, न प्राण हूँ, न शरीर हूँ और न इन्द्रिय हूँ। दृश्य, भौतिक, अनेक, जड़, विकारी और चलत्व होने से मैं इनमें से कोई नहीं हूँ। अपितु स्वयं प्रकाश आत्मा हूँ।




देहत्रयमिदं यावदात्मत्वेनाभिमन्यते।
तावदेव ह्ययं मूढो नानायोनिषु जायते।।
(अद्वैतानुभू. ४३)

यथात्मबुद्धिचाराणां साक्षी तद्वत्परेष्वपि।
अशेषबुद्धिसाक्षित्वात् सर्वज्ञश्चास्मि सर्वगः।।
(उपदेशसाहस्त्री ७.२)




(यतिधर्मसंग्रहे)

## भासक

भासि-अवभासक (प्रकाशक) चैतन्य से ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार आदि प्रकाशित होते हैं।

## अज्ञानी जीव

तीन प्रकार के शरीरों-कारण शरीर, सूक्ष्मशरीर व स्थूल शरीर को जब तक आत्मा मानता है, तब तक ही यह अज्ञानी जीव नाना योनियों में जाता-आता है।

## साक्षी

जैसे मैं अपने मन-बुद्धि आदि का साक्षी (द्रष्टा) हूँ, वैसे ही दूसरों के मन-बुद्धि आदि का द्रष्टा हूँ। समस्त बुद्धियों का साक्षी होने से मैं सर्वगत और सर्वज्ञ हूँ।

## हिंसा

उद्वेग, सन्ताप, रोग, रक्तपात, पैशुन्य, सुखहानि, मर्यादा का अतिक्रमण, संरोध, निन्दा और वध आदि के मूल में हिंसा ही है, अतः उक्त सभी हिंसा के अन्तर्गत गृहीत है।



**द्वावेतौ समवीर्यौ तु सुरा ताम्बूलमेव च।**
**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ताम्बूलं वर्जयेद्यतिः।।** (वायुपु. यतिध.सं.)
**पिता माता स्वसा भ्राता सुता जाया सुतस्तथा।**
**ज्ञातिबन्धुसुहृद्वर्गो दुहिता तत्सुतादयः।।**
**यस्मिन् देशे वसन्त्येते न तत्र दिवसं वसेत्।**
**द्वेषः शोको भवेत्तत्र रागहर्षादयो मलाः।।** (अत्रिरिति य.ध.सं.)
**निरुदका ध्यानसन्ध्या वाक्कायक्लेशवर्जिता।**
**सन्धिनी सर्वभूतानां सा सन्ध्या ह्येकदण्डिनाम्।।** (विष्णुरितिय.ध.स.)

## सुरा और ताम्बूल

सुरा और ताम्बूल यति के लिए ये दोनों ही समान हैं। अतः विशेष प्रयत्नपूर्वक यति को ताम्बूल-भक्षण से बचना चाहिए।

## यति के लिए वर्जित स्थान

जहाँ माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री, पुत्र-पुत्री, ज्ञाति बन्धु, सुहृद् वर्ग, दुहिता और उसके पुत्री-पुत्र आदि रहते हों, वहाँ संन्यासी को एक दिन भी नहीं ठहरना चाहिए; क्योंकि वहाँ रहने से राग-द्वेष, शोक, हर्ष आदि मल उत्पन्न हो जाते हैं।

## यति-सन्ध्या

जल रहित ध्यान और सन्ध्या, वाणी और शरीर के क्लेश से वर्जित और समस्त भूतों को जोड़ने आत्मसात् करने वाली—वह सन्ध्या एक दण्डी यतियों के लिए विहित है।

**ज्ञस्येयं भोगमोक्षार्थं स्वशरीरमहापुरी।**
**सुखायैव न दुःखाय स्वालोकार्थं प्रकाशिता।। (योगवाशिष्ठे ४.२३.२)**
**सकलाक्षजनादृश्यसुखप्रेक्षापरामुखः।**
**ध्याननाम्नि सुखं नित्यं तिष्ठत्यन्तःपुरान्तरे।। (योगवाशिष्ठे ४.२३.२८)**
**स्थितया संस्थितं सर्वं किञ्चिन्नष्टं न नष्टया। (योगवाशिष्ठे ४.२३.३०)**
**द्वे कान्ते तिष्ठतः सम्यक् पार्श्वयोः समतैकते। (योगवाशिष्ठे ४.२३.३७)**
**रमते रामया मैत्र्या नित्यं हृदयसंस्थितः। (योगवाशिष्ठे ४.२३.३६)**
**चिरं पूरितसर्वाशः सर्वसम्पत्तिसुन्दरः (योगवाशिष्ठे ४.२३.३९)**
**संशान्तसर्वसन्देहो गलिताखिलकौतुकः।**
**संक्षीणकल्पनादेहो ज्ञः सम्राडिव राजते।। (योगवाशिष्ठे ४.२३.४७)**
**परमाणौ परमाणौ चिदाकाशः स्वकोटरे।**
**जगल्लक्ष्मीसहस्त्राणि धत्ते कृत्वाथ पश्यति।। (योगवाशिष्ठे ४.२३.४९)**
**विततता हृदयस्य महामते हरिहराब्जजलक्षशतैरपि।**
**तुलनमेति न मुक्तिमतो यतः प्रविततास्ति निरुत्तमवस्तुनः।।**
**(योगवाशिष्ठे ४.२३.५०)**

## देह नगरी

अपना शरीर भोग और मोक्ष देने वाली एक महापुरी है। विवेकी (ज्ञानी) पुरुष इस नगरी में रहता हुआ न सुख का अनुभव करता है और न दुःख का ही, उसकी दृष्टि में यह नगरी न सुख के लिए है और न दुःख के लिए। यह पुरी तो उसके लिए स्वात्मप्रकाश को प्रकाशित करने वाली है। वह तो इस देहरूपी नगरी में राज्य करता हुआ सदा निश्चिन्त एवं अपने आत्मा में स्थित रहता है।

किन्तु अज्ञानी के लिए यह शरीररूपी नगरी अनन्त दुःखों का ही भण्डार-गृह है। सुख के अवलोकन से पराङ्मुख हो इस अन्तःपुर के मध्य ध्यान में सदा सुखपूर्वक बैठा रहता है।

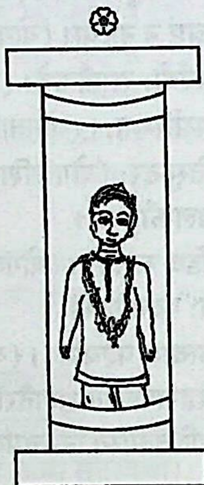
इस नगरी (शरीर) के रहने पर सब कुछ रहता है, जबकि इसके नष्ट हो जाने पर कुछ भी नष्ट नहीं होता।

विवेकी पुरुष इस शरीर-नगरी में रहकर हृदय-पुण्डरीक में आरूढ़ हो सदा शान्तिप्रदा लोकसुन्दरी मैत्रीरूपिणी अपनी प्रिया के साथ नित्य रमण करता है। उसके दोनों पार्श्व में सत्यता और समता नाम की दो कान्ताएँ सम्यक् रूप से विराजमान रहती हैं।

जिसके सारे मनोरथ चिरकाल से परिपूर्ण हो गये हैं, जो सर्वात्मभाव सम्पत्ति से सुन्दर दिखायी देता है। जिसके सारे सन्देह निवृत्त हो गये हैं, भोग-सम्बन्धी सारी उत्सुकता जिसकी विनष्ट हो गयी है तथा काल्पनिक शरीर क्षीण हो गया है, वह ज्ञानी पुरुष सम्राट् के समान विराजमान होता है।

-चैतन्य घन परमात्मा अपने अन्दर कल्पित आकाश में प्रत्येक परमाणु में सहस्त्रों लोकों की रचना करके उन्हें धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है।

-हे महामते! इस मुक्त पुरुष के हृदय की विशालता की तुलना हजारों हरि-हर और ब्रह्मा से भी नहीं हो सकती। ये ही सर्वोत्तम वस्तु की वास्तविक महिमा है।



**संस्थिता भावयन्तीव चिद्रूपैव परात्पदात्।**

**भिन्नमाकारमात्मीयं चित्स्तम्भे शालभञ्जिका।।** (योगवाशि. ३.२.२६)

चेतनरूपी स्तम्भ में अपने को परपद से भिन्न आकार में अपनी सत्ता को मानती हुई शालभञ्जिका (पुरुषाकृति) स्थित है। जब कि वह स्वयं चित् रूप ही है। वह चिदाकाश स्वरूप ही है। अर्थात् जिस उपादान से जिसकी उत्पत्ति होती है, वह तद्रूप ही होता है। शालवृक्षीय काष्ठ में चित्रित आकृति भी तो शाल काष्ठ ही है। ये जगत् चेतन से निर्मित है, किन्तु जीव उस चेतन से स्वयं को पृथक् मान बैठा है।

**मृत्योर्मृत्यवपरिज्ञानादज्ञस्य मरणं तमः।**

**ज्ञानाद् ध्वान्तनिवृत्तिस्तु मरणं स्याद्विपश्चिताम्।।** (वृ.भा.वा.१.४.१६७३)

## मृत्यु

मृत्यु की भी मृत्यु सम्भव है, इस बात को भूला हुआ अज्ञानी का मरण ज्ञानान्धकार ही है। ज्ञानियों की दृष्टि में ज्ञानरूप प्रकाश से अज्ञानान्धकार की निवृत्ति ही मृत्यु है।

ज्ञानरूपी प्रकाश से अन्धकाररूपी मृत्यु की मृत्यु होती है, इस वृत्ति से आरूढ़ दृगात्मा सिंह के समान रहता है, उसे मृत्यु का भय नहीं है।

अविद्या तु स्थिताप्यत्र द्वैतदुःखाद्यनुद्भवात्।
स्वभावं न तिरोधत्ते स्वप्रभानन्दमद्वयम्।। (सुषुप्तौ) (अनुभूति प्र. १८.३९)
'हृदयस्याग्रं प्रद्योतते'। (उपनिषद्)
स एव कर्मजो बुद्धे प्रकाशो जायते मृतौ। (अनुभू.प्र. ११८.१५)
जगद्भ्रमं जीवभेदवासनां देहधारणम्।
चतुष्टयं निराकुर्याद् अभिध्यानादिभिः क्रमात्।।
अभितो ब्रह्मरूपत्वध्यानाद्याति जगद्भ्रमः।
ब्रह्मत्वे योजिते स्वस्य जीवभावोऽपि गच्छति।।
अद्वये भाविते तत्त्वे वासना विनिवर्तते।
आरब्धान्ते देहहानिः मायैवं क्षीयतेऽखिला। (अनुभू. प्र. १२)
निस्तत्त्वं व्यवहारार्हं अनृतं बालयक्षवत्। (अनुभू. प्र. १.४)
परमात्मन उत्पन्नो जगदात्मैव नेतरत्।। (अनुभू. प्र. २०)
सन्निवेशोपाधितोऽयं तथा कुम्भादिविभ्रमः। (अनुभू. प्र. २२)
अर्थक्रियानृतेऽप्यस्ति स्थाणौ चौरभयेक्षणात्। (अनुभू.प्र. १.२८)

## अविद्या और आत्मानुभूति

आत्मानुभूति होने परद यद्यपि अविद्या रहती है, किन्तु द्वैतजन्य दुःख शोकादि का अनुभव न होने के कारण अविद्या आत्मा के स्वयं प्रकाश अद्वयानन्द स्वभाव को तिरोहित (ढकने) करने में असमर्थ रहती है। सुषुप्ति अवस्था में आनन्द स्वभाव स्थित रहता है।

हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है। मृत्यु हो जाने पर भी कर्मजन्य बुद्धि का प्रकाश तिरोहित नहीं होता, अपितु बना रहता है।

## ध्यान द्वारा जगत् भ्रम आदि का निराकरण

जगत् भ्रम, ईश्वर-जीव भेद, वासना और देहधारण—इन चारों का सम्यक् ध्यान के द्वारा क्रमशः निराकरण करना चाहिए। जो भी कुछ है—वह सब ब्रह्म, चारों ओर ब्रह्म ही ब्रह्म है- ऐसा ध्यान करने से जगद्-ब्रह्म तिरोहित हो जाता है और यह जगत् है- ऐसा समझने से जगत् का भ्रम बना ही रहता है। स्वयं को ब्रह्म से योजित कर देने से जीवभाव भी चला जाता है और अद्वय तत्त्व में स्थित होते ही वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। ध्यान की अन्तिम स्थिति में पहुँचते ही- अद्वय भाव के उदित होते ही देहाध्यास विनष्ट हो जाता है और यह सम्पूर्ण माया क्षीण हो जाती है।

## जगत् एक भ्रम है

यह संसार सारहीन है, मात्र बाह्य व्यवहार के लिए ही है, नितान्त असत्य है- बालक की क्रीड़ा के समान है।

यह जगत् परमात्मा से ही समुद्भूत है, अतः यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च आत्मा ही है, इससे अतिरिक्त नहीं है। एक ही सर्वव्यापक परमात्मा तत्तत् उपाधियों से सन्निविष्ट होने के कारण पृथक्-पृथक् दिखायी देता है। जैसे एक ही महा आकाश कुम्भादि उपाधियों के भेद से घटाकाश, मठाकाशादि रूप में विभक्त हो जाता है।

अर्थ-क्रिया के असत्य होने पर भी अन्धकार में स्थाणु (पाषाण-खण्ड या वृक्षादि का सूखा ठूँठ) को देखने से यह प्रतीति हो जाती है कि यह चोर है और भय उत्पन्न हो जाता है। अतः अज्ञानी के लिए यह संसार सत्य प्रतीत होता है। जब कि जगत् एक भ्रम है।

• • ❁ • •

## अभेदध्यानम्

मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं ब्रह्मविद्यां विभावयेत्।
तत्प्रभापटलव्याप्तं स्वशरीरं विचिन्तयेत्।
अहं देवि न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्।
त्वमेवाहमहं त्वं च संविन्मात्रवपुस्तव।।
ततो देहस्य सन्नाहं सम्यङ्न्यासं समाचरेत्।
एवं वर्णमयं होमं कृत्वा दिव्यतनुर्नरः।।
न्यस्य मन्त्री यथान्यायं देहे विश्वस्य मातरम्।। देवो भूत्वा यजेद् देवान्।

## अभेद ध्यान

मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त ब्रह्मविद्या की विभावना करे, ब्रह्मविद्या के प्रभा पटल से अभिव्याप्त अपने शरीर का चिन्तन करे। ऐसा चिन्तन करे कि ब्रह्मविद्या के दिव्य प्रकाश से मेरा शरीर अभिभूत हो गया है। ऐसा भाव सुदृढ़ हो जाये कि मैं देवी स्वरूप हूँ, कोई अन्य नहीं। मुझमें दुःख-शोक का लेश भी नहीं है, मैं ब्रह्म ही हूँ, सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, नित्य शुद्ध स्वभाव वाला हूँ, तुम ही मै हूँ, मैं ही तुम हो। यह तुम्हारा ज्ञानमय शरीर है। तदन्तर मैं शरीर नहीं हूँ; इस भाव से शरीर, सम्यक् न्यास करे, इस प्रकार दिव्य शरीरधारी साधक वर्णमय होम करके मन्त्र जापक शरीर में सविधि मन्त्र-न्यासपूर्वक विश्व की माता को स्थापित करके उनका दिव्य उपचारों से समर्चन करे।

शास्त्र का निर्देश है कि देव होकर ही देवता का यजन करना चाहिए।

जीवोऽहङ्कारोपहितः चक्रवद् भ्राम्यते सदा।
मायोपहित ईशानो जन्मसु प्रेरयेदमुम्।।

उपाधिद्वयहीनं तु ब्रह्म-

जगत्स्याद् व्यक्तमव्यक्तं सृष्टिसंहारयोः क्रमात्।

**बिभर्ति द्वयमीशानः चिदात्मा तु विमुक्तिभाक्।।**

**सर्वनिर्वाहिका माया ब्रह्मण्यारोपितं त्रयम्।।** (अनुभूति प्र. १२)

## जीव, ईश्वर, माया और ब्रह्म

यह जीव अहंकार से उपहित होकर चक्र के समान निरन्तर घूमता रहता है और माया से उपहित ईश्वर जीव को जन्म लेने के लिए प्रेरित करता है। ब्रह्म इन दोनों उपाधियों से हीन है। सृष्टिकाल में यह जगत् व्यक्त रहता है और संहार में अव्यक्त रूप से रहता है, इस सृष्टि-संहार-क्रम को ईश्वर ही धारण करता है, चिदात्मा तो माया और माया के कार्यों—सृष्टि, संहार आदि से सर्वथा विनिर्मुक्त है। वस्तुतः सृष्टि आदि कार्यों की निर्वाहिका माया ही है, किन्तु ये तीनों ही (जीव-ईश्वर और माया) ब्रह्म में ही आरोपित हैं।



**पाशाश्चतुर्विधाः मलो[१] माया[२] कर्म[३] तत्त्वनिरोधः[४]।**

**१. ज्ञानक्रियाशक्त्योश्छादको दोषः। २. रागादिहेतुः। ३. पुण्यपापे ४. अज्ञानम्।**

**विरक्तः कर्त्रकर्तारौ विचिन्त्यात्स्वस्य विग्रहे।**

**चिच्छायावानहङ्कारः कर्ता चिद् भाति केवला।।** (अनुभूति प्र. १२)

**चिच्छायागतभोक्तृत्वं साक्षिण्यारोप्यते भ्रमात्।**

**अदृष्टः प्रतिबन्धो यो निवर्त्य भजनेन तम्।**

**दृष्टो यः प्रतिबन्धस्तं विचारेण जयेत्पुनः।।** (अनुभूति प्र. १२)

## चार प्रकार के पाश

चार प्रकार के पाश हैं, जो जीव को बाँधे रहते हैं- मल, माया, कर्म और तत्त्वनिरोध। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को आच्छादित करने वाला दोष ही मल नाम से कहा जाता है। राग-द्वेषादि का हेतु माया है। पाप-पुण्य रूप कर्म हैं और अज्ञान तत्त्व-प्राप्ति में निरोधक है।

## कर्ता और कर्तृत्व से विरक्ति

कर्ता और कर्तृत्व से विरक्त हो अपने विग्रह के विषय में चिन्तन करे। अर्थात् आत्मचिन्तन करने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि चित् की छाया से युक्त अहंकार है, जो कर्ता भाव को जागृत करता है; जबकि भासमान केवल चित् ही है। चित् छाया गत ही भोक्तृत्व है, साक्षी में तो भ्रमवश (अज्ञान से) आरोपित कर लिया जाता है।

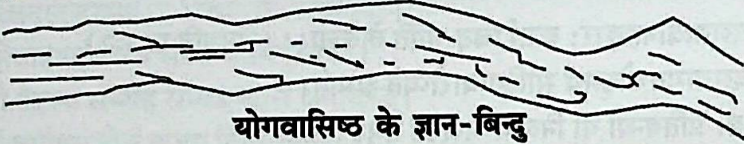
## प्रतिबन्धक

जो अदृष्ट प्रतिबन्धक है, उसको भजन से हटाये और जो दृष्ट प्रतिबन्धक है, उसको विचार के द्वारा जीते। अर्थात् जो प्रतिबन्धक तत्त्व दिखायी नहीं दे रहे, उन पर तो भजन के द्वारा और दिखायी दे रहे, उन्हें विचारों द्वारा परास्त करना चाहिए।



आरूढस्य विवेकाश्वम्
तीव्रवैराग्यखड्गिनः।
तितिक्षावर्मयुक्तस्य
प्रतियोगी न दृश्यते।।
(सर्व.सि.सा.स. ९०)

चिन्ताचक्रे चिरं बद्धं कुक्रियाचारचञ्चुरम्।
चेतो भ्रमति सामुद्रे गर्तावर्ते तृणं यथा।। (योगवा. ५.६६.३३)
मनसि क्षुब्धतां याते चित्त्वस्याङ्ककिमागतम्।
तरङ्गःजलसन्ताने वैपरीत्यं किमम्बुधेः।। (योगवा. ५.६७.६)



## योगवासिष्ठ के ज्ञान-बिन्दु

चिर काल से चिन्ता-चक्र में बँधा हुआ तथा पापकर्मों के आचरण में संलग्न, चित्त-समुद्र के गम्भीर आवर्त में पड़कर चक्कर काटते हुए तृण की भाँति यह जीव संसार में भटकता रहता है।

मन के क्षुब्ध होने पर यहाँ मन का तात्पर्य देह से है अर्थात् भले ही देह दुःख से क्षुब्ध हो जाय, उससे आत्मा को कौन-सी क्षति पहुँचती है? जल में तरंग उठने से क्या समुद्र में कोई वैपरीत्य आ जाता है?

सरिताओं का जल कमलों को अपनी गोद में धारण किये रहता है; फिर भी वे कमल उस जल से कोई सम्बन्ध न रखकर निर्लेप बने रहते हैं, उसी प्रकार इस जगत् में शरीर का भी आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कहाँ निरहङ्कार, चित्त शान्ति, उदारता और धीरता और कहाँ वासना के आवेश से मिथ्या अहंकार-कुकल्पना से संयुक्त होना।

अहङ्कार के अंकुर से ही संसाररूपी विषवृक्ष की मञ्जरी, शाखा-प्रशाखा बढ़ी हैं। अर्थात् संसाररूपी वृक्ष का बीज अहंकार ही है, जब तक अहंकार है। तब तक दुःख है।

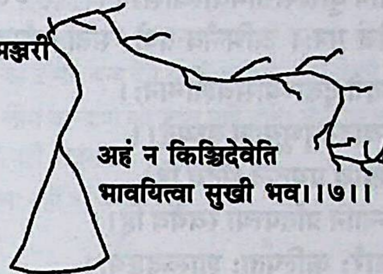
अहं असत् वृत्ति है, इसलिए 'अहं' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। मैं नहीं हूँ- ऐसा मानकर सुखी होओ।

• •  • •

अप्वुसङ्गोह्यमानानि पद्मानि सरिदम्भसाम्।
कानि नाम भवन्तीह शरीराणि तथात्मनः।। (,, ,, ६७१)

**क्व नाम निरहङ्कारचित्सत्त्वोदारधीरता।**
**क्व मिथ्यावासनावेशाद् अहङ्कारकुकल्पना।। (४.३१.५)**

**अहङ्काराङ्कुरादेव संसारविषमञ्जरी**
**समदेतीयमातता।।६।।**



**अहं न किञ्चिदेवेति**
**भावयित्वा सुखी भव।।७।।**

## योगवासिष्ठ के ज्ञानबिन्दु

बुद्धिमान् पुरुष को अपने अन्त:करण में असत् जगत् में प्रतीयमान मृत्यु, हति, संहृति (संहार) आदि का सत्य रूप से चिन्तन नहीं करना चाहिए क्योंकि सत्यरूप से इनका चिन्तन अनेकानेक दोषों का उत्पादक है। दृढ़ निश्चय से युक्त चित्त जिस वस्तु की बार-बार भावना करता है, वह उसी के आकार का हो जाता है, जैसे-अग्नि के सम्पर्क में आने से लोहे का गोला आग बन जाता है। अर्थात् मन दृढ़ निश्चयपूर्वक जिस पदार्थ से साथ लग जाता है, वह वैसा ही हो जाता है।

यह मन ही पुरुषरूप है, इसे शुभ मार्ग में नियोजित करके मन के ऊपर विजय प्राप्त करे। संसार की सारी विभूतियाँ एकमात्र मन को जीतने से ही प्राप्त हो जाती है।

अत: जो अतुच्छ है, आयासरहित उपाधिरहित भ्रम है- यत्नपूर्वक उसका अनुसन्धान करे, जिससे सत्यसत्ता की प्राप्ति हो सके।

मन से कर्म की उत्पत्ति होती है और मन की उत्पत्ति में भी कर्म ही बीज (कारण) है। इन दोनों की सत्ता एक दूसरे से भिन्न नहीं है, जैसे-फूल और सुगन्ध की सत्ता परस्पर भिन्न नहीं होती।

दृढ़ अभ्यास के कारण मन जैसे भाव को ग्रहण करता है, तदन्तर उसी के स्वाद का अनुभव करके शीघ्र बन्धन में पड़ जाता है। अपनी-अपनी प्रतीति के द्वारा ही दृढ़ता पूर्वक भिन्नता को प्राप्त हुए मनुष्यों के मन सदा ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं।



**विदितवतान्तः असति जगति मृतिहतिसहृतिः**
**सत्यताख्या नैव भावनीया या दोषभावनी। (योगवा. ४.१९)**
**दृढनिश्चयवच्चेतो यद्भावति भूरिशः।**
**तत्तां यात्यनलाश्लेषात् अयःपिण्डोऽग्नितामिव।**
**मनो हि पुरुषो नाम तं नियोज्य शुभे पथि।**

तज्जयैकान्तसाध्या हि सर्वा जगति भूतयः
यदतुच्छमनायासं अनुपाधिगतभ्रमम्।
यत्नात्तदनुसन्धानं कुरु सत्तामवास्यसि।। (,, ,, २०)

मनसः कर्म। कर्मबीजं मनः। अभिन्नैव तयोः सत्ता यथाकुसुमगन्धयोः। (योगवा. ४.२१)

यादृशं भावमादत्ते दृढाभ्यासवशान्मनः।
ततस्तमेव चास्वादमनुभूयाशु बध्यते।।
धर्मार्थकाममोक्षार्थं प्रयतन्ते सदैव हि।
मनांसि दृढभिन्नानि प्रतिपत्त्या स्वयैव हि।।
चित्राश्चित्रसाकारैः कल्पिताः शास्त्रदृष्टयः।
सर्वासामेव रीतीनां मनो नामाकरः परः।। (योगवा. ४.३०)

मनः (योगवा. ४.२१.३३)

न निम्बेक्षू कटुस्वादू शीतोष्णौ नेन्दुपावकौ।
यद्यथापरमाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत्।। (योगवाा. ४.२१.३३)
यस्त्वकृत्रिम आनन्दस्तदर्थं प्रयतैर्नरैः।
मनस्तन्मयतां नेयं येनासौ समवाप्यते।।
अपवित्रमसद्रूपं मोहनं भयकारणम्।
दृश्यमाभासमाभोगि बान्धमाभावयानघ।।
मायैषा ह्यविद्यैषा वासनैषा भयावहा।
संविदस्तन्मयत्वं यत् तत्कर्मेति विदुर्बुधाः।
संसारमदिरा सेयं अविद्येत्युच्यते बुधैः।।
अनयोपहतो लोकः कल्याणं नाधिगच्छति।
भास्वरं तापकालोकं पटलान्धेक्षणौ यथा।।

शास्त्र की दृष्टि से मन के सम्बन्ध में चित्र-विचित्र विविध आकारों में कल्पना की गयी है। किन्तु समस्त रीतियों से यह निश्चित होता है कि तत्तत् आकारों का कारक मन ही है। वह जैसा देखता है, वैसे ही आकार का हो जाता है।

न नीम कटुस्वाद वाला है, न इक्षु मीठा है, न अग्नि उष्ण है और न ही चन्द्रमा शीतल है। जैसा-जैसा जिसके मन में अभ्यास के कारण निश्चित हो जाता है, वैसा-वैसा उसको उपलब्ध होता है।

जो अकृत्रिम है, आनन्दघन है, उसके लिए प्रयत्न करने वाले मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने मन को तन्मय बना दें, जिससे उसकी प्राप्ति हो सके।

यह मन का संसार अपवित्र है, असत् है, मोहरूप है, भय का कारण है, आभासरूप है, मायामय है और सभी बन्धनों का हेतु है।

यह दृश्य माया है, अविद्यारूप है, इसकी वासना (भावना) भय देनेवाली है। जगत् के साथ संवित् की तन्मयता है। मन की जो दृश्यमयता है, उसी को विद्वान् बन्धन में डालने वाला कर्म कहते हैं। वही विद्वानों के द्वारा मदिरा के समान संसार की उन्मत्त बना देने वाली अविद्या कही जाती है।

इस अविद्या-माया से उपहत हुए लोग कल्याण को प्राप्त नहीं होते। जैसे पटल नामक रोग से अन्धा हुआ पुरुष सूर्य के दीप्तिवान् प्रकाश को नहीं देखता।

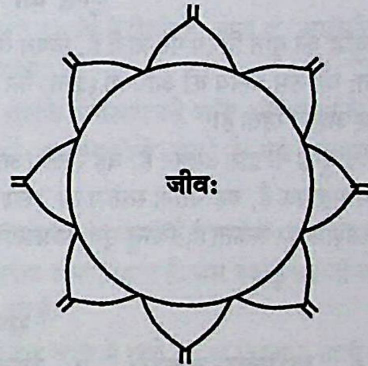
इसी तरह मन के आवरण से आत्मा नहीं भासित होता।



**मोहासङ्गास्पदो मृत्युः ग्रहातिग्रहलक्षणः।**
**अधिभूताधियज्ञादि परिच्छेदफलात्मकः।।** (वृ.भा.वा. ३.२.३)

**गृहातिग्रहरूपेण ग्रस्तोऽयम्।**

| ८ ग्रहाः | ८ अतिग्रहाः |
|---|---|
| १. प्राणः | अपानः |
| २. वाक् | नाम |
| ३. जिह्वा | रसः |
| ४. चक्षुः | रूपम् |
| ५. श्रोत्रम् | शब्दः |
| ६. मनः | कामः |
| ७. हस्तौ | कर्म |
| ८. त्वक् | स्पर्शः |




## मोह और आसक्ति ही जीव की मृत्यु है

ग्रह-अतिग्रह लक्षण समन्वित मोह और आसक्ति ही मृत्यु है। यहाँ प्राण आदि ग्रह हैं और अपानादि अतिग्रह हैं, जिनके द्वारा यह जीव ग्रस्त है। प्राण ग्रह अतिग्रह अपान की ओर खींचता है, वाक् इन्द्रियरूप ग्रह नाम-वाणी अतिग्रह की ओर जीव को खींचती है, जिह्वा नामक ग्रह स्वादिष्ट रस रूप अतिग्रह की ओर जीव को खींचती है। जीव चक्षु के द्वारा रूप से ग्रसित है, श्रोत्र के द्वारा शब्दों की ओर जीव खिंचता है, मन से काम की ओर दौड़ लगाता है। हाथ के द्वारा तत्तत् कर्मों को करता है, त्वचा के द्वारा सुखद स्पर्श को लालायित रहता है। इस तरह से यह जीव आठ ग्रह और आठ अतिग्रहों से ग्रस्त रहता है।

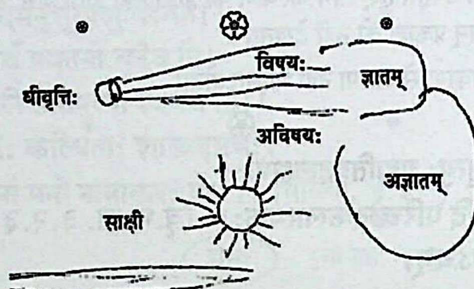


**पुरुषशब्दनिरुक्त्या तत्त्वयोरेकता भवेत्।**

**पुरिशेते-जीवः। सर्वं पूरयतीति-ब्रह्म।।** (अनुभूतिप्र. २९)

## तत्-त्वं पद की एकता, जीव और ब्रह्म

पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति से ही 'तत्' और 'त्वं' पद की एकता हो जाती है; क्योंकि जो पुर (शरीर) में शयन करता है, वह जीव है और जो सबकी पूर्ति करता है, वह ब्रह्म है।




## बुद्धि की वृत्ति और साक्षी

बुद्धि की वृत्ति विषय पर जाती है, विषय के आकार में परिणत हो जाने पर विषय का ज्ञान हो जाता है। अत: वह उस विषय को अधिगत (ज्ञात) कर लेती है, किन्तु जो बुद्धि का विषय ही नहीं है, वह बुद्धि के लिए अज्ञात रहता है।

जो बुद्धि के द्वारा अज्ञात है, वह साक्षी (आत्मा) के द्वारा ज्ञात होता है। बुद्धि तो मात्र अज्ञान को नष्ट करने में सहायक है, वह चेतना स्वरूप का प्रकाशन नहीं कर सकती। (जैसे दीपक अन्धकार में किसी वस्तु को प्रकाशित कर सकता है, किन्तु सूर्य को प्रकाशित नहीं.कर सकता)

## सप्तभूमिका

**१. शुभेच्छा-अकारः, २. विचारणा-उकारः, ३. तनुमानसी-मकारः-ॐ मुमुक्षुः। ४. सत्त्वापत्तिः-अर्धमात्रा, ब्रह्मविद्। ५. असंसक्तिः-ब्रह्मविद्वरः। ६. पदार्थाभाविनी-ब्रह्मविद्वरीयान्। ७. तुर्यगा-ब्रह्मविद्वरिष्ठः।**

## ज्ञान की सात भूमिकाएँ

ज्ञान की सात भूमिकाएँ कही गयी हैं- शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसी, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा।

**शुभेच्छा**- यह ओङ्कार का प्रथम अक्षर अकार स्वरूप है। वैराग्यपूर्वक मोक्ष की इच्छा ही 'शुभेच्छा' है।

**विचारणा**- इसमें ओङ्कार का द्वितीय अक्षर उकार सन्निहित है। मोक्ष की इच्छा से सत्पुरुषों का संग, सच्छास्त्रों का अध्ययन-मनन, सत्-असत् व नित्य-अनित्य वस्तु का विवेचन 'विचारणा' के अन्तर्गत

आता है।

**तनुमानसी-** यह ओङ्कार का तृतीय अक्षर मकारयुक्त है। मोक्ष की इच्छा से शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रिय के विषयों से अनासक्त होकर संसार में विचरना 'तनुमानसा' है। इसमें साधक का मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्व को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

**१. वैराग्यपूर्वमिच्छा, २. सदाचारप्रवृत्तिः, ३. इन्द्रियार्थेषु रक्तता तनुत्वम्-भेदाभेदयुतम्-जाग्रतिः। ४. शुद्धे सत्त्वात्मनि स्थितिः-स्वप्नवल्लोकं पश्यति।**
**५. असंसर्गफलारूढसत्त्वचमत्कारा-शान्ताशेषविशेषांशः।**
**६. आभ्यन्तरब्रापदार्थानाम-भावनम्-अन्तर्मुखतया नित्यं निद्रालुरिव दृश्यते।**
**७. स्वभावैकनिष्ठता-गाढसुप्तिः क्षीणमननः।**

**सत्त्वापत्ति-** यह अर्धमात्रा है, पूर्व भूमिकाओं के क्रमशः अभ्यास के द्वारा अत्यन्त विरक्त हो जाने के अनन्तर सत्य स्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' है। इस अवस्था में ज्ञानयोगी ब्रह्मविद् हो जाता है।

**असंसक्ति-** परम वैराग्य और परम उपरति के कारण समाधि में स्थित हो जाना ही 'असंसक्ति' नाम की पाँचवी भूमिका है। उस ज्ञानयोगी को ब्रह्मविद्वर कहा जाता है।

**पदार्थाभाविनी-** इस भूमिका में पहुँचने पर नित्य समाधि के कारण उसे शरीर और संसार के समस्त पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसलिए इस भूमिका को 'पदार्थाभाविनी' कहते हैं। ऐसे आत्मज्ञानी को 'ब्रह्मविद् वरीयान्' कहा जाता है।

**तुर्यगा-** छठी भूमिका के पश्चात् यह सातवीं भूमिका स्वतः हो जाती है। दूसरों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करने पर भी भेदरूप संसार की सत्ता-स्फूर्ति का सर्वथा अभाव रहता है। बस श्वासें चलती रहती हैं। इस भूमिका में पहुँचे महात्मापुरुष को 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

यह तुर्यावस्था (तुर्यगा भूमिका) जीवन्मुक्त पुरुष में इस शरीर में रहते हुए ही विद्यमान रहती है, इस देह का अन्त होनेपर विदेह युक्ति का विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है। अतः भूमिकाओं में उसकी गणना नहीं है।

प्रथम भूमिका में वैराग्यपूर्वक मोक्ष की इच्छा, द्वितीय में सदाचार में प्रवृत्ति, तृतीय में इन्द्रिय की विषयों के प्रति अनासक्ति है। ये तीनों भूमिकाएँ भेद और अभेद से युक्त और जाग्रत् अवस्था की हैं। चौथी भूमिका में शुद्ध आत्मा में सत्त्व (सत्य स्वरूप परमात्मा) की स्थिति है। वह संसार को स्वप्नवत् देखता है। पाँचवी भूमिका- अत्यन्त असंग रूप फल पर आरुढ़ सत्त्व चमत्कृत हो जाता है और विशेषांश में अशेष शान्ता है, छठी भूमिका में आभ्यन्तर और बाह्य पदार्थों का सर्वथा अभाव रहता है, अन्तर्मुखी दृष्टि से वह संसार को नित्य निद्रालु की तरह देखता है। सातवीं भूमिका में- आत्मभाव में स्वाभाविक निष्ठा होती है, यह गाढ़ सुषुप्ति की अवस्था है जहाँ मनन-चिन्तन सब क्षीण हो जाता है।

### तप प्रधान नारी-यज्ञ प्रधान पुरुष

मनुष्यों का धर्म यज्ञ प्रधान है। इसलिए पुरुष को यज्ञप्रधान कहा गया है। वेदोक्तवर्ण के अनुसार जितने भी पुरुष के कर्तव्य हैं, उनका निष्ठापूर्वक परिपालन ही भगवान् का यजन है, इसलिए पुरुष को जीवनपर्यन्त यजनरूप स्वकीय धर्म का आचरण करना चाहिए।

नारी का धर्म तपप्रधान है। नारी के द्वारा विधिपूर्वक अपने धर्म (कर्तव्य) का परिपालन करना एक तपस्या ही है। नारी का तपोमय जीवन है। पति, पुत्रादि से हरा भरा घर किसी तपोवन से कम नहीं है। नारी की विलक्षण तपस्या के बल पर ही कुटुम्ब फूलता-फलता है, अतः नारी तपप्रधान है।



**यावत्सर्वं न सन्त्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते।**
**सर्ववस्तुपरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते।।** (अन्नपूर्णोपनिषद १/४५)

**स्वप्रकाशचिदभिन्नं सुखं पुमर्थः। जीवन्मुक्तानां स्वानुभवसिद्धम्।** (अद्वैतसिद्धिः४)

**त्रिषु वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणः ब्रह्मभूयाय भवति।**

(परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्)

### मनो द्विविधं

**शुद्धं-कामविवर्जितम्, अशुद्धं-कामसङ्कल्पम्।** (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)

### आत्मा

जब तक सब कुछ छोड़ नहीं दिया जाता, तब तक आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मा क्या है? कहते हैं कि समस्त वस्तुओं का परित्याग हो जाने पर जो शेष रह जाता है, वह आत्मा है।

### अलौकिक सुख

स्व प्रकाशस्वरूप चिद् से अभिन्न सुख ही पुमर्थ (पुरुषार्थ) है। यह अलौकिक सुख जीवन्मुक्तों के स्वकीय अनुभव से सिद्ध है।

### परमहंस संन्यासी का भिक्षाचरण

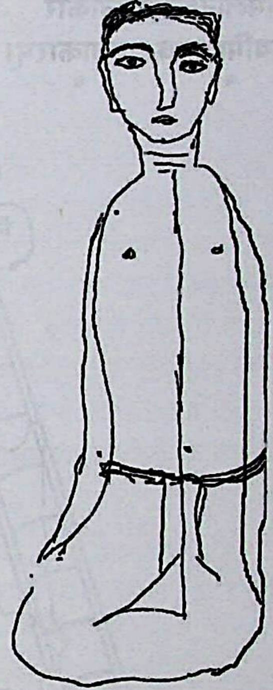
ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों में अभिशप्त और पतित जनों को छोड़ कर मात्र शरीर धारणार्थ पशुवत् निर्द्वन्द्व व मान-अपमान से रहित, द्रोह-दोष से सर्वथा शून्य परिव्राजक भिक्षाटन करता हुआ ब्रह्म-कोटि को प्राप्त करता है।

### द्विविध मन

मन दो प्रकार का है— एक शुद्ध मन और दूसरा अशुद्ध मन। जो समस्त कामनाओं से विनिर्मुक्त है, वह शुद्ध मन है और विविध कामनाओं के संकल्प से युक्त मन अशुद्ध मन है।

## ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रः (परमहंसपरिव्रा.उ.)

| | |
|---|---|
| १. अकारे-जाग्रद्विश्वः<br>२. उकारे-जाग्रत्तैजसः<br>३. मकारे-जाग्रत्प्राज्ञः<br>४. अर्धमात्रायां-जाग्रत्तुरीयः | अकारांशम् |
| ५. बिन्दौ-स्वप्नविश्वः<br>६. नादे-स्वप्नतैजसः<br>७. कलायां-स्वप्नप्राज्ञः<br>८. कलातीते-स्वप्नतुरीयः | उकारांशम् |
| ९. शान्तौ-सुषुप्ततैजसः<br>१०. शान्त्यतीते-सुषुप्ततैजसः<br>११. उन्मन्यां-सुषुप्तप्राज्ञः<br>१२. मनोन्मन्यां-सुषुप्ततुरीयः | मकारांशम् |
| १३. तुर्यां-तुरीयविश्वः<br>१४. मध्यमायां-तुरीयतैजसः<br>१५. पश्यन्त्यां-तुरीयप्राज्ञः<br>१६. परायां-तुरीयतुरीयः | अर्धमात्रांशम् |



**ब्रह्म प्रणव**

यह ब्रह्म प्रणव सोलह मात्राओं का है। यह प्रणव ब्रह्म स्वरूप ही है।

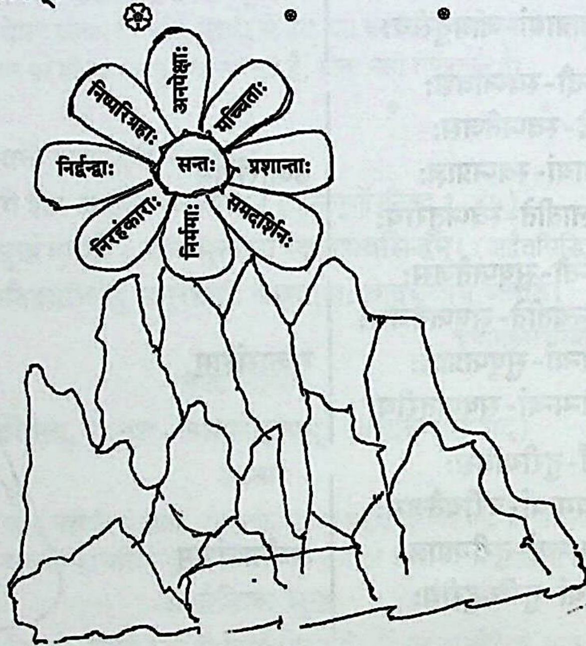
अकार से परा पर्यन्त सोलह मात्राओं में क्रमशः चार-चार मात्राओं में जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय- ये चार-चार अवस्थाएँ हैं। जिन्हें क्रमपूर्वक दर्शित किया गया है-

१. अकार में जाग्रत विश्व, २. उकार में जाग्रत तेजस, ३. मकार में जाग्रत प्राज्ञ, ४. अर्धमात्रा में जाग्रत तुरीय-जाग्रत मात्रा चतुष्टय अकारांश है। ५. बिन्दु से स्वप्न विश्व, ६. नाद में स्वप्न तेजस, ७. कला में स्वप्न प्राज्ञ, ८. कलातीत में स्वप्न तुरीय-स्वप्न मात्रा चतुष्टय उकारांश है। ९. शान्ति में सुषुप्ति विश्व १०. शान्त्यतीत में सुषुप्ति तैजस, ११. उन्मनी में सुषुप्ति प्राज्ञ, १२. मनोन्मनी में सुषुप्ति तुरीय-सुषप्ति मात्रा चतुष्टय मकारांश है। १३. पुरी (वैखरी) में तुरीय विश्व, १४. मध्यमा में तुरीय तैजस, १५. पश्यन्ती में तुरीय प्राज्ञ, १६. परा में तुरीय तुरीय-तुरीय मात्रा चतुष्टय अर्धमात्रांश है।

यही षोडस मात्रात्मक प्रणव ब्रह्म है। यह परमहंस तुरीयातीत अवधूतों के द्वारा उपास्य है। इससे ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है, फलतः विदेह मुक्ति होती है।

**लक्ष्यालक्ष्यविवर्जितलक्ष्यो युक्तायुक्तविवर्जितदक्षः।**
**केवलतत्त्वनिरञ्जनपूतो वाददिवादः कथमवधूतः।। (७.२ अव.गी.)**

**निर्मलनिश्चलगगनाकारं**
**वयमिह तत्त्वं सहजाकारम्।**




## अवधूत स्वरूप

जिसका लक्ष्य लक्ष्य-अलक्ष्य रूप नाना प्रकार की कोटियों से रहित है, जो युक्त और अयुक्त अर्थात् विधि और निषेध के वर्जन में कुशल है तथा जो अद्वितीय अविद्याशून्य तत्त्व के ज्ञान से पवित्र हो गया है, ऐसे अवधूत का वाद-विवाद से क्या सम्बन्ध है।

हम तो निर्मल, निश्चल (सदा एकरस), गगनाकार, सहज रूप, आत्म तत्त्व में स्थिर रहते हैं।

## सन्त-लक्षण

सन्त का लक्षण है कि वे अनपेक्ष होते हैं, उन्हें कभी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। भगवान् कहते हैं, वे मच्चित्त होते हैं- उनका चित्त मुझमें लगा रहता है। वे प्रशान्त होते हैं- उनके हृदय में शान्ति का सागर लहराता रहता है। वे समदर्शी होते हैं- वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें भगवान् का ही दर्शन करते हैं। वे निर्मम- ममता-शून्य होते हैं। उनमें अहंकार का लेश भी नहीं होता। वे निर्द्वन्द्व होते हैं- वे सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में एकरस रहते हैं और सन्त निष्परिग्रह होते हैं— परिग्रह से वे सर्वथा दूर रहते हैं।

ॐ

जाग्रति

१. अकारे-विश्वः
२. उकारे-तैजसः
३. मकारे-प्राज्ञः
४. अर्धमात्रायाम्-तुरीयः

स्वप्ने-

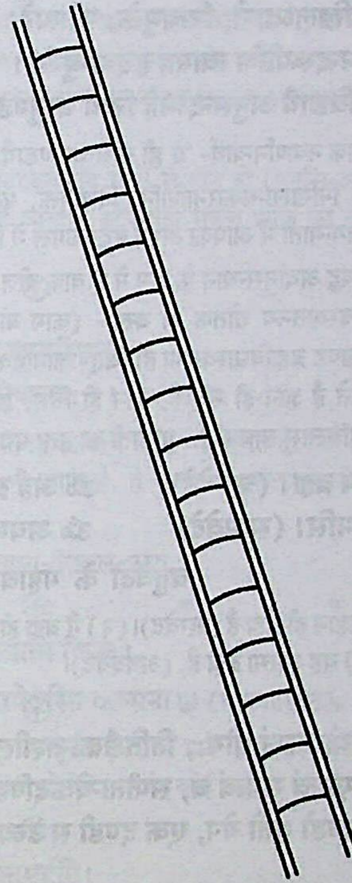
५. बिन्दौ-वि.
६. नादे-तै.
७. कलायां-प्रा.
८. कलातीते-तु.

सुषप्तौ

९. शान्तौ-वि.
१०. शान्त्यतीते-तै.
११. उन्मन्याम्-प्रा.
१२. मनोन्मन्याम्-तु.

तुरीयायाम्

१३. तुरीयायाम्-वि.
१४. मध्यमायाम्-तै.
१५. पश्यन्त्याम्-प्रा.
१६. परायाम्-तुरीयतुरीयः



## षोडश मात्रात्मक प्रणव

यह सन्दर्भ पूर्व में भी आ चुका है। भेद इतना है कि यहाँ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था में अकारादि परापर्यन्त ॐकार की मात्राओं में विश्व आदि की स्थिति स्पष्ट की गयी है।

**जाग्रत अवस्था में प्रणव की प्रथम मात्रा-** १. अकार में विश्व है, उकार में तैजस है, ३. मकार में प्राज्ञ है, ४. अर्ध मात्रा में तुरीय। **स्वप्न अवस्था में-** ५. बिन्दु मात्रा में विश्व, ६. नाद में तैजस, ७. कला में प्राज्ञ, ८. कलातीत में तुरीय। **सुषुप्ति काल में-** ९. शान्ति नामक मात्रा में जिश्व, १०. शान्त्यतीत में तैजस, ११. उन्मनी में प्राज्ञ, १२. मनोन्मनी में तुरीय। **तुरीयावस्था में-** १३. तुरीय में विश्व, १४. मध्यमा में तैजस, १५. पश्यन्ती में प्राज्ञ, १६. परा में तुरीय तुरीय।

**ऐं। ह्रीं। क्लीं.।**
**निर्धूतनिखिलध्वान्ते, नित्यमुक्ते, परात्परे।**
**चित्सदानन्दरूपीणि त्वामहं हृदयाम्बुजे।।**
**अखण्डब्रह्मविद्यायै अनुसन्दध्महे नित्यं चामुण्डायै। वित्। च। ई। (डामरतन्त्रे)**

नवाक्षरात्मक नवार्णमन्त्रार्थ- 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'।

अज्ञानरूप निखिलान्धकारनाशिनि, नित्यमुक्त, परात्परा अखण्ड ब्रह्मविद्यात्मिका, सच्चिदानन्द-स्वरूपिणि हे जगन्माता मैं आपका अपने हृदयकमल में नित्य अनुसन्धान करता हूँ।

(यहाँ प्रतिपद अर्थानुसन्धान के क्रम में **ऐं** वाक् बीज ज्ञानप्रद होने से अज्ञान नाशक है। **ह्रीं** माया बीज होने से सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्य द्योतक है। **क्लीं**- (काम बीज) परादपि परा सर्वकारणकारणा सर्वेश्वरी है **चामुण्डायै** अखण्ड ब्रह्मविद्यास्वरूपा है। **वित्**- ज्ञानार्थक है अतः सच्चिदानन्द रूपा कहा गया। ये लक्षण ज्ञान में ही घटते है ज्ञान ही सत् है, ज्ञान ही चित्, ज्ञान ही आनन्दरूप है। **च**- सम्मुचय बोधक है। नित्यानुसन्धानाभिलासु साधक **ई**- भगवती का हृत्। पद्मकोश में ध्यान करता है।)

**ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऋग्वेदे)** **ॐ अहं ब्रह्मास्मि। (यजुर्वेदे)**
**ॐ तत्त्वमसि। (सामवेदे)** **ॐ अयमात्मा ब्रह्म। (अथर्ववेदे)**

## चतुर्वेदों के महावाक्यचतुष्टय

(१) प्रकृष्टज्ञान ही ब्रह्म है (ऋग्वेद)। (२) मैं ब्रह्म ही हूँ, (यजुर्वेद)। (३) वह ही तुम हो, तुम वही हो (सामवेद)। (४) यह आत्मा ब्रह्म है, (अथर्ववेद)।

• • ✿ • •

**मौनं योगासनं योगः, तितिक्षैकान्तशीलता।**
**निःस्पृहत्वं समत्वं च, सप्तैतान्येकदण्डिना।।**
**ज्ञानदण्डो धृतो येन, एक दण्डी स उच्यते ।।**

(नारदपरिव्राजकोपनिषत्)

मौनी, योगासननिरत, योगारूढ, तितिक्षा (सर्वद्वन्द्व सहिष्णुता) सम्पन्न, एकान्त सेवी, (विविक्तदेश सेवित्वम् अरतिर्जन संसदि निस्पृहता तथा समता से शोभित सात लक्षणों वाले संन्यासी ही एक दण्डी है अथवा ज्ञानदण्डधारी सन्त ही एकदण्डी है।

• • ✿ • •

**निवर्तयित्वा रसनं रसेभ्यो, घ्राणं गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात् ।**
**स्पर्शात्त्वचं रूपगुणान्तु चक्षुषः, ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम् ।।**
**बुद्धिकर्मगुणैर्हीना यदा मनसि वर्तते।**
**तदा सम्पद्यते ब्रह्म तत्रैव प्रलयं गतः।। महाभारत शान्तिपर्व**

बहिर्मुखी हो चुकी इन्द्रियों को जब तक अन्तर्मुखी नहीं बनाया जायेगा, तब तक निज स्वभाव को जान पाना असम्भव है। जैसे- रसना को रसों से प्रत्यावर्तित करके, घ्राण को गन्ध से, कानों को शब्दों से, त्वचा को स्पर्श से, नेत्र को रूप से (अर्थात् इन इन्द्रियों को इनके बाह्य जगत् के क्षणिक-छुद्र आपातरमणीय सुखों से, आन्तरिक निजानन्दनिमग्न होने का आनन्द कितना अप्रतिम है, उसे तो उतर कर ही देखा जा सकता है।)

जब बुद्धि विविध कर्मकलापों से, तथा सतरजतमादि गुणों से हीन हो (मनसि-आत्मनि) मन में समाहित हो जाती है, तब ब्राह्मीभाव सम्पन्न हो जाता है और वहीं सबल प्रपञ्च का जंजाल लीन हो जाता है।



**निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ।**
**उपायः सकलस्तद्वद् उपेयश्चैव निष्कलः ।।** (ब्रह्मविक्षेप. ३८)

निष्कल (कलारहित) और सकल (कला सहित) का भाव सर्वत्र व्यवस्थित हैं। फिर इनका भेद कैसे करें? (कौन निष्कल है कौन सकल है) जितने भी उपाय है, वे सकल है (कलाओं सहित है) वैसे ही उपेय जो है वही निष्कल है (कलारहित है)।

उपाय = साधन-सकल-प्रकृति। उपेय = साध्य-निष्कल-पुरुष



**किमुपादेयमस्तीह, यत्नात्संसाधयामि किम् ।**
**स्वतस्थितस्य शुद्धस्य, चितः कामेऽस्ति कल्पना ।।** (योगवाशिष्ठ)

यहाँ (नाशवान् जगत् में) क्या उपयोगी है, यत्नपूर्वक किसको पाने का प्रयास करूँ, मैं तो स्वतः शुद्ध बुद्ध चैतन्य हूँ, तब मुझ चैतन्य में क्या कल्पना होगी? (अर्थात् कोई नहीं)।

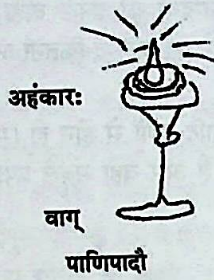


**नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति।**
**पुरैव तत्त्वबोधेन, बाधिते ते उभे यतः ।।**
**बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न दृश्यते ।।**

ज्ञान को बाधित कर पाना न तो अविद्या द्वारा सम्भव है न हिं अविद्या जन्य कार्य द्वारा; क्योंकि तत्त्वबोध ने इन दोनों को पूर्व में ही बाधित कर दिया। कैसे? सूर्य-प्रकाश अन्धकार को मारता नहीं, अपितु अन्धेरा रहता ही नहीं, है ही नहीं, प्रकाश का अभाव ही तो अन्धेरा है, ठीक वैसे ही ज्ञानाभाव ही अविद्या है, ज्ञानप्रकाश हुआ तो अविद्या का अन्धेरा तो स्वतः नष्ट हो जायेगा। इन्द्रियों द्वारा दृश्यता बाधित है, अतः बन्ध नहीं दिखता है।



**अहङ्कारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ।**
**अहङ्काराद्यभावोऽयं स्वयं भात्येव पूर्ववत् ।**




**अहङ्कारः प्रभुः सभ्याः, विषया नर्तकी मतिः ।**
**तालादिधारीण्यक्षणि दीपः साक्ष्य व भासकः ।। (पञ्चदशी नाट्य.)**

सर्वसाक्षी (आत्मतत्त्व) स्वयं ही अहंकार-बुद्धि सहित विषयों को भी प्रकाशित करता है, अहंकार आदि न भी रहे, तब भी पूर्व के समान स्वयं ही भासित रहता है। इंस सभा में अहंकार स्वामी समान है। (राजा) सभी रूप रसादि विषय सभा में उपस्थित दर्शक श्रोतादि हैं, बुद्धि ही नर्तकी है, इन्द्रियाँ ही तालादि वाद्य धारिणी हैं, साक्षी अवभासक ही दीपक है।



**सर्वत्र ममताशून्यः, सर्वत्र समतायुतः ।**
**वृक्षमूलनिकेतश्च, मुमुक्षुरिह सिध्यति।। (स्क. पु. का.ख.)**

सर्वत्र ममता रहित एवं समतायुक्त वृक्षमूलवासी ही मुमुक्षु है।



**सामान्यधिकरण्यं च, विशेषणविशेष्यता।**
**लक्ष्यलक्ष्यकभावश्च पदार्थ प्रत्यागात्मनाम्।।**
**मुक्त्यभिव्यज्यतेबोधात्, प्रदीपेन पटो यथा।**
**तमोमात्रान्तरायत्वात्, तमसो विद्ययाहतेः।।**
**सुषप्त नरवच्छ्रुत्या, बोध्यते प्रेर्यते न तु।**
**जिज्ञासोरदिकारोऽत्र, नसिषार्धायबोरिति।।**
**वर्णाद्रिवयोऽवस्थाः ध्यासं कर्मोपजीवति।**
**वर्णाश्रमादि दहत्येतत्, परब्रह्मात्मवेदनम्।।**
**कर्तृभोक्तादिरूपत्वं, प्रत्यग्ज्ञानहेतुजम्।**
**ज्ञाते प्रतीचिरूपमपैति स्वप्नरूपवत्।।**

सामान्य अधिकरण-विशेषण-विशेष्यता लक्ष्यलक्षक भाव आत्मज्ञान में ये पदार्थ उपयुज्य हैं। जैसे दीपक की प्रभा से अन्धकारावृत घट (पट) दिख जाता है (दीपप्रभा घट) पट को उत्पन्न नहीं करती, आवृत को अनावृत करती है, प्रकाशित करती है) वह मात्र अन्धकार को निवृत्त कर देती है, वैसे ही ज्ञान द्वारा मुक्ति व्यक्त हो जाती है अन्धकार रूपा अविद्या के निवृत्त होते ही मुक्ति प्रकट हो जाती है।

(उदाहरण पर ध्यान दें दीपक का प्रकाश जैसे वस्तु दर्शक है, वैसे ही ज्ञान मुक्ति का अभिव्यंजक है जनक नहीं मुक्ति तो है ही (वस्तु जनक नहीं) मुक्त तो जीव का स्वस्वरूप ही है। जो अल्पज्ञता-अल्पशक्ति-मत्ता-दैन्य-परतन्त्रता आदि के काल्पनिक पाश हैं, वे ज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं, शेष जो बचा वह मुक्तात्मा स्वस्वरूप ही है)।

जैसे सोते पुरुष को सुषुप्ति में से जगाया जाता है (बोध कराया जाता है) प्रेरित नहीं किया जाता, श्रुति भी साधन की इच्छा वाले जिज्ञासु के लिए है।

वर्णाश्रम-वय-अवस्था ध्यान कर्म तब तक ही है, जब तक स्वयं पर ब्रह्मत्वेन आत्मज्ञान नहीं हो जाता ज्ञान होते ही ये सब विलीन हो जाते है, क्योंकि वर्ण आश्रम-वय-अवस्थादि सब शरीर से जुड़े हैं, जब तक शरीर भाव में जीवन है, तब तक वर्ण आश्रमोचित आचार पालनीय ही है, तदनन्तर इनका क्या प्रयोजन?

कर्तापन-भोक्तापन, आत्म ज्ञान न होने के कारण है। (प्रत्यक्) आत्म ज्ञान होते ही स्वप्न जगत् की भाँति विलीन हो जाते है।



करोम्यन्धो द्विजो बालो, दग्धश्छिन्नोऽहमित्यपि।
इयमनात्मनोऽविद्या, कर्मादिकृतिकारणम्।।
ब्रह्मत्वमात्मनो दृष्ट्वा, नोत्तरेत्संसृतिं कथम्।
उत्तीर्य संसृतिं भूयः, कर्तृत्वादीन्न वीक्षते।।
कर्तृत्वादिस्वभावस्य, दृश्ययत्वानु दृगात्मनि।
अविद्याकल्पितत्वं स्याद्, दृगात्मा तु न दृश्यते।।
प्रमाता साक्षिण दृश्यो, मातुर्मानं प्रजायते।
मानेन मीयते मेयं, साक्षिदृश्यं त्रयं ततः।।
भावक्रियस्य भोक्तृत्वं, स्यादहं बुद्धिविभ्रमा।
मातृस्थं मेयगं मानं, प्रतीचि त्रयसक्षिणि।
न व्यापारवितुं शक्यं, वह्निं दग्धुमिवोल्मुकम्।।
अन्तरङ्गं हि विज्ञानं, प्रत्यक्मात्रैकसंश्रयात्।
बहिरङ्गं तु कर्म स्यात्, बाह्यद्रव्याश्रयत्वतः।।
यथावस्त्वात्मविज्ञानं, मोहमात्राश्रयाः क्रियाः।
सम्यग्ज्ञाने कुतः कर्म, कर्म हेतूपमर्दनात्।। (वार्तिकसार)

मैं करता हूँ, अन्धा हूँ, बालक हूँ, द्विज हूँ, जन्म गया, कह गया, ये सब आत्मा का अज्ञान है, कर्मादि कारण भी यही है।

स्वयं को ब्रह्मत्व भाव में देखकर इस संसार को क्यों न पार किया जाये! इस संसार को पार करके फिर कर्तृत्व भोतृत्व नहीं दिखते।

स्वभाव में कर्तृत्वादि की प्रतीति है, वह दृश्य होने से द्रष्टा में होती है। यद्यपि है ये अविद्या कल्पित ही वास्तव में दृगात्मा दृश्य नहीं है।

प्रमाता में रहने वाला मेय बोधक मान अवस्थात्रय के साक्षी (माता मेय मान) के साक्षी को नहीं, न व्यापृत कर सकता; जैसे उल्मुक (आग का अंगार) अग्नि को नहीं जला सकता।

विज्ञान अन्तरंग है; क्योंकि वह आत्माश्रित है, कर्म बहिरंग है, क्योंकि वह बाह्य द्रव्यों के आश्रित है। जैसे आत्मविज्ञान ही वस्तु है, क्रिया मोहाश्रया है, सम्यक् ज्ञान होने पर जब कर्म का हेतु ही नष्ट हो गया तब कर्म कहाँ?

**श्रुत्याचार्यप्रसादेन, योगाभ्यासवशेन च।**
**ईश्वरानुग्रहेणापि, स्वात्मबोधो यदा भवेत् ।।** (श्रीदक्षिणामूर्तिस्तो. वा. १/१४)

श्रुतिप्रसाद से (शास्त्र कृपा) आचार्य प्रसाद (गुरुकृपा) से योगाभ्यास (आत्मकृपा) से ईश्वरानुग्रह (भगवत्कृपा) से इन सबके संयुक्त प्रयास से आत्म बोध होता है।

**कालरूपक्रियाशक्त्या, क्षीरात्परिणमते दधि।**
**ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं, ज्ञानशक्त्या भवेज्जगत् ।।** श्रीदक्षिणामूर्तिस्तो. वा. २/१४)

कालरूपी क्रियाशक्ति के द्वारा दूध दधि रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञातृ, ज्ञान व ज्ञेय रूप जगत् शक्ति से ही होता है।

• • ✿ • •

**सोऽयं माया विलासो हि, जगत्कर्तृत्वमात्मनः ।**
**बन्धमोक्षोपदेशादि, व्यवहारोऽपि मायया।।** (श्रीमद. भू. स्तो.)

आत्मतत्त्व का जगत् रूप में भान ये सब माया का ही विलास है, क्योंकि बन्ध मोक्षादि के उपदेश का व्यवहार भी तो माया ही है, माया द्वारा ही है।

• • ✿ • •

**परलोकभयं यस्य, नास्ति मृत्युभयं तथा।**
**तस्यात्मज्ञस्य शोच्याः स्युः, सब्रह्मेन्द्र अपीश्वरा।।**

जिस आत्मज्ञानी को परलोक भय तथा मृत्यु भय नहीं है, उस आत्मज्ञ के लिए तो ब्रह्मा इन्द्रादि ईश्वरादि भी शोचनीय ही हैं।

• • ✿ • •

**अहमित्यात्मधीर्या च, ममेत्यात्मीययोरपि।**
**अर्थशून्ये यदा यस्य, स आत्मज्ञो भवेत्तदा।।२९।।**

जिस साधक के जिस अवस्था में मैं भाव (मैं बुद्धि) व मेराभाव दोनों ही अर्थशून्य हो जाये, वह साधक आत्मज्ञ हो जाता हैं।



**अहं ममत्वाद्यपहाय सर्वं, श्रीराजयोगे स्थिरमानसानाम् ।**
**न द्रष्टा नापि च दृश्यभावः, सा जृम्भते केवलसंविदेव।।** (योगतारावली १६)

मैं और मेरा सबको त्यागकर, श्रीराजयोग में स्थिर मन वाले योगियों के लिए न द्रष्टा है, न दृष्य। वे तो केवल संवित् (ज्ञानमयभाव) में ही जीते हैं।

**विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतल्प, विश्वाद्यवस्थात्रितयोपरिस्थे।**
**संविन्मयो कामपि सर्व कालं, निद्रां सखे निर्विश निर्विकल्पान्।।**

तुरीयावस्थारूपी कोमल शय्या पर विश्रान्ति पाकर विश्वादि तीन अवस्थाओं से ऊपर होकर सर्वदा के लिए हे सखे! निर्विकल्पक ज्ञानमयी किसी योगनिद्रा में प्रविष्ट हो जा।

**हंसयोः सबलं हित्वा, पदयोः स द्वितीययोः।**
**पूर्णोऽहमेवं जानीयाद्, बोधमात्र स्वभावतः ।।** (स.स.म.वै.स्व. ५)

हं और स इन दोनों में से स को छोड़ दे, जो दूसरा पद है। तब बचता है अहं। शेष जो बचा, वह पूर्ण बोधमात्र स्वभाव वाला मैं ही हूँ, ऐसा जानना चाहिए।

**वेदादेव विनिर्मोक्षः अहमात्मा न मर्त्योऽस्मि धृतिरेषा मतिर्भवेत् । अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचम्।।** (सू.सं.ज्ञान यो. ख. १४)

(ज्ञान) वेद से ही मोक्ष होगा, ऐसी बुद्धि होना ही धृति है, मैं शुद्ध ब्रह्म हूँ- ये ज्ञान होना ही शुचिता है, शौच है।

**रागाद्यपेतं हृदयं, वागदुष्टाऽनृतादिना।**
**हिंसाविरहितः कायः, एतच्चेश्वरपूजनम् ।।** (सू.सं.ज्ञान यो. ख.)

रागद्वेषादि रहित हृदय-असत्यादि से अदूषित वाणी हिंसा भावरहित शरीर यही ईश्वर की पूजा है।

**कोऽहं मोक्षः व्ययं केन संसारं प्रतिपन्नवान् । इत्यालोचनं तपः।**
**ब्रह्मादिलोकपर्यन्ता द्विरक्तस्य परात्मनि।**
**प्रियंयत्तन्महाप्राज्ञाः, सन्तोषं परमं विदुः।।** (सू.सं.ज्ञान यो. स्व.)

मैं कौन हूँ? मोक्ष कैसे? किसने संसार बनाया- ये चिन्तन करना ही तप है।

ब्रह्मादि लोकपर्यन्त जिस विरक्त को परमात्मा में ही प्रीति हो जाये। हे महाप्राज्ञ सन्तों यही परम सन्तोष है।

**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**
**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।।** श्रुतिः
**सत्तातोऽपि न भेदः स्याद्, द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः**
**एकाकारा हि संवित्तिः, सद्द्रव्यं सद्गुणस्तथा।।** (वार्तिकम्)

हे सौम्य! ये पूर्व में भी सत् ही एक अद्वितीय मात्र था। हे श्वेतकेतो! ये सब कुछ आत्मविलास ही है सत्य है वह आत्मा भी तत् = वह आत्मतत्त्व, त्वम् = तुम, असि हो।

सत्तागत भेद नहीं है, फिर द्रव्यगत भेद कैसे हो सकता है? संवित्ति एकाकार ही है, द्रव्य और गुण भी सताश्रित होने से सत् ही है।

• • ❁ • •

**मनोदृश्यमिदं द्वैतं, यत्किञ्चित्सचराचरम्।**
**मनसो ह्यमनीभावे, द्वैतं नैवोपलभ्यते।।**
**आत्मसत्यानुभावेन, न सङ्कल्पयते यदा।**
**अमनस्तां तदा याति, ग्राह्याभावे तदग्रहः।।** (माण्डू.का. ३/३१,३२)
**अकल्पकमजं ज्ञानं, ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते।**
**ब्रह्म ज्ञेयमजं नित्यं, अजनेनाजं विबुध्यते।।**
**जगन्मनो मात्रं तद्भावे नियतभावात् मृद्घटवत्।** (आ.मि.)
**अश्रद्धा चैव दुर्मेधा-अविद्यायाः सुते उभे। मेधाश्रद्धाविघातिन्यौ।** (ब्रह्मोत्तर स्व.)

ये द्वैत जो सचराचर रूप में दिख रहा है, सब मन द्वारा ही दृश्य है, मन अमनीभाव में आ जाये, तो ये द्वैत नहीं उपलब्ध होगा।

आत्मा के सत्य अनुभाव से जब मन संकल्प रहित हो जाये, तब अमनस्कता आती है, ग्राह्य का अभाव हो जाता है।

अकल्पक अज ज्ञेय से अभिन्न को ज्ञान कहते हैं। ब्रह्म ज्ञेय है, अज है, नित्य है। इस अज ज्ञान द्वारा अज ब्रह्म का बोध होता है।

जगत् मनोमात्र है, मन रहता है, तो जगत् है, मन नहीं, तो जगत् भी नहीं, जैसे मिट्टी है, तो घट है, मिट्टी नहीं, तो घट भी नहीं।

अश्रद्धा और दुर्मेधा अविद्या की पुत्रियाँ हैं, ये श्रद्धा और मेधा को नष्ट करने वाली हैं।

• • ❁ • •

## अवधूतः

**योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो न तु वा तुल्यः। नित्यपूतो वैराग्यमूर्तिः ज्ञानाकारो वेदपुरुषः तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः।** (अवधूतोपनिषद्)

ये जो अवधूत मार्ग के राही हैं, वे लोक में दुर्लभतर हैं। कोई एक लाखों में होगा बहुत नहीं (पाखण्ड अधिक किये मिलेंगे) वे नित्यान्तःकरण से पवित्र, वैराग्यमूर्ति, ज्ञानस्वरूप, वेदपुरुष उनका चित्त मुझमें ही लगा रहता है, मैं भी उनमें ही अवस्थित रहता हूँ।

## कैवल्यं मोक्षः

**शुद्धब्रह्मरतो यस्तु न स यात्येव कुत्रचित् ।**
**तस्य प्राणा विलीयन्ते जले सैन्धवखिल्यवत् ।**
**स्वप्नद्रष्टा यथा सृष्टिः प्रबुद्धस्य विलीयते।।** (शिव.गी.)

शुद्ध ब्रह्म में निरत योगी कहीं नहीं जाता, उसके प्राण तो ऐसे विलीन हो जाते हैं, जैसे जल में नमक घुल जाता है, स्वप्न संसार की तरह ही ज्ञानी की दृष्टि में जगत् विलुप्त हो जाता है, प्रबोध होते ही जैसे जगते ही स्वप्न प्रपञ्च नहीं रहता।

**अहङ्कारोऽत्र चिद्युक्तः कर्ता भोक्ता हृदि स्थितः।**
**वृत्यवच्छिन्नचैतन्यं घटाकाशवद् एतया।**
**वृत्या सह बहिर्गत्वा तत्राज्ञानं नुदेत्क्षणात्।।**
**वर्तिनिष्ठो यथा दीपो तमो नाशयते तथा।**
**चैतन्यं वृत्तिनिष्ठं तदज्ञानस्य नाशकम् ।।**
**एष हृन्निष्ठचैतन्यपदार्थाऽक्ष्णा बहिर्गतः।**
**व्याप्नुवन्निखिलं तत्र व्यथां नाप्नोति काञ्चन।**
**प्रतिकूलात्तु विषयाद्या व्यथा सा तु मानसी।।**
**यः साक्षी चित्पदार्थोऽसौ जीवात्मा तस्य जीवता।**
**अहङ्कारेण तादात्म्या भ्रान्त्यैव परिकल्पिता।** (अनु. भूतिप्र. १)

यहाँ अहंकार चित्त् से युक्त होकर हृदय से बैठ गया, बन गया कर्ता भोक्ता, जबकि वृत्ति से युक्त (अवच्छिन्न) जो चैतन्य है, वह घटाकाश (घटगत आकाश) की तरह इस वृत्ति के साथ बाहर जाकर अज्ञान को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है। जैसे बत्ती और तेल युक्त दीपक अन्धकार को मिटाता ही है, वैसे ही वृत्तिनिष्ठ चैतन्य उस अज्ञान का नाश कर देता है। ये हृदयस्थ चैतन्य पदार्थ आँखों से बाहर जाकर सकल प्रपंच को व्याप्त कर लेता है, जबकि किसी का व्याप्य नहीं होता। प्रतिकूल विषयादिजन्य व्यथा मानसी है, यथार्थ नहीं।

साक्षी चित्पदार्थ जो जीवात्मा है, उसका अहंकार के साथ एकता दिख रही है, वो भ्रान्ति वश ही परिकल्पित है, यथार्थ नहीं।

**दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ।**
**विद्वान् नित्य सुखे तिष्ठेद् धिया चिद्रसपूर्णया।।** (तेजोवि.उ.)

दृश्य को अदृश्यावस्था में ले जाये और निरन्तर ब्रह्माकार दृष्टि से चिन्तन करें। चिद्रसपूर्ण बुद्धि से विद्वान् नित्यसुख (ब्रह्मसुख) में रहे।



**यदा निष्पत्ति सम्पन्नः समाधिः स्वेच्छया भवेत् ।**
**जीवन्मुक्तस्य शान्तस्य भवेद्धीरस्य योगिनः ।।**

जब धीर शान्त जीवनमुक्त योगी की निष्पत्ति सम्पन्न हो जाती है, तब समाधि स्वेच्छा से सम्पन्न होती है।



**शास्त्रसज्जन सम्पर्कः वैराग्याभ्यासरूपिणी।**
**प्रथमा भूमिकैषोक्ता, मुमुक्षुत्वप्रदायिनी।।** (जाग्रत्)
**विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया सांगभावना।**
**विलापिनी चतुर्थी स्याद्वासना विलपात्मिका।** (स्वप्नः)
**शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी।**
**अर्धसुप्तप्रबुद्धा भो, जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति।।** (सुषुप्ता)
**असंवेदनरूपा च, षष्ठी भवति भूमिका।**
**आनन्दैकथनाकारा, सुषुप्तसदृशो स्थितिः।।**
**तुर्यावस्थोपशान्ता सा, मुक्तिरेव हि केवला।**
**समता स्वच्छता सौम्या, सप्तमी भूमिका भवेत्।।**
**तुर्यातीता तु यावस्था, परानिर्वाणरूपिणी।**
**सप्तमी सा परा प्रौढा, विषयोनैव जीवताम्।।** (अन्नपूर्णोपनिषद्.)

सच्छास्त्रों व सज्जनों के सम्पर्क से वैराग्य एवं अभ्यासरूपिणी मुमुक्षत्व प्रदान करने वाली ये प्रथमा भूमिका है, इसी को यथार्थ में (जाग्रत) कहते हैं।

द्वितीया भूमिका विचारणा है, तीसरी सांगभावना है, विलापिनी चौथी है, वासना का विलय कराने वाली स्वप्नावस्था।

पाँचवी शुद्ध संवित् ज्ञानानन्दरूपा होती है। इसमें अर्धसुप्त-प्रबुद्धवत् जीवन्मुक्त इस अवस्था में रहते हैं। (सुषुप्ति है)।

असंवेदनरूपा षष्ठी भूमिका है, आनन्दमात्रैकरूपा सुषुप्ति की सी स्थिति, यह तुरीयावस्था है।

तुरीयावस्था की जो उपशान्तावस्था है, मुक्तिरूपा ही है। इसमें समता स्वच्छता-सौम्यता-सातवीं भूमिका में प्राप्त होती है।

तुरीयातीत जो अवस्था है, वो परनिर्वाणरूपा होती है। सप्तमी अवस्था ही वहाँ श्रेष्ठ होकर प्रौढ़ होकर विलसित होती है, वह साधारण प्राणियों का विषय नहीं है।

● ● ❀ ● ●

**अहं मत्या विरहितः शुद्धो बुद्धोऽजरोऽमरः।।**
**स्फटिकः प्रतिबिम्बेन, यथा नायाति रञ्जनम्।**
**तज्ज्ञः कर्मफलेनान्तः, तथा नायाति रञ्जनम्।।**
**विहरञ्जनतावृन्दे, देवकीर्तनपूजनैः।**
**खेदह्लदौ न जानाति, प्रतिबिम्बगतैरिव।।** (अन्नपू. ३)
**एतावदेवाविद्यात्वं, नेदं ब्रह्मेति निश्चयः।**
**एष एव क्षयस्तस्याः, ब्रह्मेदमिति निश्चयः।।**

मैं पन की मति से रहित शुद्ध बुद्ध अजर अमर मुक्त ब्रह्म ही शेष रहता है।

जैसे स्फटिक प्रतिबिम्ब द्वारा रंगीन नहीं होता (रंग नहीं बदलता), उसी प्रकार तत्त्वज्ञ का अन्तःकरण कर्मफल से अनुरक्त (आसक्त) नहीं होता।

जनसमूह में विचरण विहरण करता हुआ भी योगी देवकीर्तन पूजन आदि विविध उपचारों से खेद या आह्लाद को प्राप्त नहीं होता। पूजा हुई तो आह्लाद नहीं हुई, तो खेद नहीं, जैसे प्रतिबिम्बगत चित्रादि से द्रष्टा सम्बद्ध नहीं होता ठीक वैसे ही ये भी तो प्रतिबिम्ब ही है।

ये निश्चय होना ही अविद्या है कि ये ब्रह्म नहीं है और ये निश्चय होना ही इस अविद्या का नाश है कि ये सब कुछ ब्रह्म ही है।

● ● ❀ ● ●

**मूलं संसारदोषस्य, मनो नाहं न मे मनः।**
**सर्वं त्यजाम्यहं वेद्यं, चेत्यं यन्मूढकल्पितम्।**
**शेषो विकल्पशून्योऽहं, सच्चिदानन्दशुद्धकः।।** (ब्रह्माभ्यासः)
**यो जागर्ति हि सुप्तानां, प्रहरत्यविवेकिनाम्।**
**हरत्यापदमार्तानां, सोऽहमस्मि परः शिवः।।** (ब्रह्माभ्यासे)

संसाररूपी दोष का जो मूल है असली जड़ वह मन मैं नहीं हूँ, मन मेरा न हीं है, जितना भी ये ज्ञेय है, मैं सबका त्याग करता हूँ, ये मूढ़ चित्त द्वारा ही प्रकल्पित है। सब त्यागने के उपरान्त जो शेष विकल्प रहित सच्चिदानन्द शुद्ध ब्रह्म मैं ही हूँ।

जो सुप्तों के मध्य में भी जगता है अविवेकियों पर प्रहार करता है, आर्तजनों की आपत्तियों को जो हटाता है (नष्ट करता है) वही परम शिव मैं हूँ।

● ● ❀ ● ●

**नष्टायां मोहमायायां, गलिते मानसे मुनेः।**

**मच्छिष्टं तत्परं ब्रह्म, मनोवाचामगोचरम्।।** (ब्रह्माभ्यासः)

मोहमाया के नष्ट होते ही मन के निगर्लित हो जाने पर जो शेष बचता है, वही मन वाणी से अगोचर परं ब्रह्म है।

• • ❁ • •

**अज्ञानज्वरमुक्तस्य, बोधशीतलितात्मनः।**

**एतदेव भवेच्चिह्नं, यद्भोगाम्बु न रोचते।।** (यो. वाशि.)

अज्ञानज्वररोगमुक्त, ज्ञान की शीतलता से शान्त महापुरुष का एक ही चिह्न है- उन्हें भोगवासना रूपी जल नहीं भाता (आकर्षित नहीं करता)।

• • ❁ • •

**दृश्यशान्तिर्भवेन्मृति; जीवितं दृश्य बोधनम्।**

**मरणं जीवितं न खे यत्र सोऽहमस्मि परः शिवः।।**

दृश्य प्रपंच का शान्त होना मृत्यु तथा दृश्य दिखना जीवन है और जन्ममरण आकाश के नहीं होते, वही परम शिव मैं हूँ, जहाँ आकाश रहता है।

• • ❁ • •

**अन्तर्बहिश्च यच्छुद्धं, ब्रह्मरूपेण वर्तते।**

**ब्रह्ममुद्रेति विख्याता, ज्ञानिनां दृष्टिगोचरा।।**

आन्तर्बाह्य शुद्ध ब्रह्म है। ज्ञानियों की दृष्टि में शुद्ध ब्राह्मी भाव ही ब्रह्ममुद्रा है।

• • ❁ • •

**ओकारं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।**

**परं रूपं स्वयं ब्रह्म, अपरं जगद्रूपि यत्।।**

ॐ दो प्रकार का है- १. पर, २. अपर। पर- प्रणव तो स्वयं ब्रह्म है अपर ॐ जगत् रूप से प्रतीति का विषय बन रहा है।

• • ❁ • •

**गुरुप्रज्ञाप्रसादेन, मूर्खो वा यदि पण्डितः।**

**यस्तु सम्बुद्ध्यते तत्त्वं, विरक्तो भवसागरात्।।२३।।** (अवधूतगी.-२)

**रागद्वेषविनिर्मुक्तः, सर्वभूताहिते रतः।**

**दृढबोधश्च धीरश्च, स गच्छेत्परमं पदम्।।२४।।**

मूर्ख हो या विद्वान्, किन्तु गुरुप्रदत्त प्रज्ञा के प्रसादस्व[illegible] यदि [illegible]च बोध को प्राप्त कर भवसागर से विरक्त हो गया है, तो वही श्रेष्ठ है।

रागद्वेष विनिर्मुक्त हो सभी प्राणियों के हित में निरत रह[illegible] दृढ़ ज्ञान वान् धीर साधक ही परं पद को प्राप्त करता है।

**अनात्मार्थे विज्ञाते, स्वाध्यस्ता हि प्रबोधवत्।**
**न किञ्चित्स्यात्परिज्ञानं, नानात्मातः प्रमित्सितः।।** (वार्ति. ९७२)

अनात्म तत्त्व के जानने पर स्व में अध्यस्त देही में अध्यस्त (तन्मात्रा कोष-अन्तःकरणचतुष्टय) का ही भान होने पर लगता है, ज्ञान हो गया (सूर्य के बादल में छिपने पर लगता है शाम हो गयी) जब कि कुछ भी परिज्ञान नहीं हुआ नानात्व की प्रमिति के कारण।

• • ❁ • •

**यथैवं नामरूपादि पञ्चोपायहेतुतः।**
**अप्रपञ्चात्मके भूम्नि, प्रत्यग्बोधः प्रजायते।।**
**प्रत्यक्तया यदाभाति, ह्यागमापायिसाक्षितः।**
**देहेन्द्रियमनोधीषु, चैतन्याभासरूपकम्।।**
**जडेष्वेकमनेकेषु, कूटस्थं क्षणभङ्गिषु।**
**अनात्मसु तथा चात्मा, संहतेष्वप्यसंहतः।।**

जैसे ये नाम ज्ञान रूपादि हैं, ये प्रपञ्चोपाय के हेतु अप्रपञ्चात्मक भूमा परमात्मा में प्रत्यक् बोध उत्पन्न होता है।

जब आगमापायी साक्षी द्वारा प्रत्यक् रूप में ये भासित होता है, जगत् देह-इन्द्रिय-मन बुद्धि में चैतन्याभास रूपक जब आगमापायी साक्षी द्वारा प्रत्यक् रूप में भासित होता है। अनेकों जड़ों में एक, क्षणभंगुरों में कूटस्थ, अनात्म पदार्थों में आत्मा संहतों में असंहत जब भासित होता है, तब आत्मबोध होता है।

• • ❁ • •

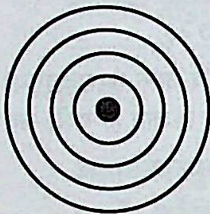
**तत् = जगत्कारण। त्वम् = मायाबद्ध।**

**मायाविद्योपाधिवशाज्जीवेश्वरयोभेदः कल्पितः, विशुद्धसत्वप्रधानास्वाश्रया-व्यमोहकरी माया ईशोपाधि। मलिनसत्त्वप्रधानास्वाश्रया व्यामोहकरी अविद्या जीवोपाधिस्वतःसिद्ध एकत्वं मे अज्ञान आच्छादकहम्।।** (संक्षेपशा.-१/२३७)

तत् का अर्थ है वह जगत्कारण ब्रह्म अद्वितीय पूर्ण प्रत्यगात्मा। त्वम् का अर्थ है मायाबद्ध अविद्याग्रस्तादि।

माया-अविद्या की उपाधि के कारण जीव ईश्वर में भेद कल्पित हो गया। भागत्याग लक्षणा से इनके विशेषणांशों को त्याग देने दोनों का वास्तमन बोध्य जो शेष होगा, वह ही होगा।

• • ❁ • •



तद् अद्वितीयम्, तच्छब्दार्थों लक्षयेदद्वितीयम्।
एवं पूर्णं प्रत्यगात्मामेतै, शब्दौ ब्रूतो लक्षणवत्मनैव।।
त्वम्-प्रत्यक् तत्त्वं लक्षयेत्त्वं पदार्थः।

रीत्या तत् त्वं शब्दाभ्यां यल्लक्ष्यं चिन्नावं निरस्तसमस्त उपाधिकं स एव ही परमात्मा विज्ञानमानन्द ब्रह्म त्रिविधपरिच्छेद-रहितस्वाभाविके त्वसम्पन्नः।

• • ❁ • •

**स्वतःसिद्धं स्वयं सर्वं, जगत्स्वेन प्रकाशितम्।**
**स्वस्वरूपतया बुद्ध्वा, तदत्ति स्वात्मना स्वयम्।।१४।।** (सूत सं. यज्ञवै.-१४)

ये प्रतीयमान सकल प्रपंच स्वयं (आत्मा) द्वारा ही स्वयं में ही रचित है। स्वप्रकाश से ही प्रकाशित है (जैसे स्वप्न में मन ही मित्र, मन ही शत्रु मन ही प्यास मन ही पानी मन ही हन्ता मन ही हन्यमान हो जाता है। स्वप्न का संसार स्वयं मन में मन से ही रचा गया व मन द्वारा ही प्रकाशित है। जगने पर मानों उस प्रपञ्च को मन ने खा लिया) इसे स्वस्वरूप जानकर (भिन्न कुछ नहीं सर्वत्र आत्मा ही है) स्वयं ही इसे खा लेता है। शब्दार्थ से भिन्न विचार करो, जब तक जगत् आत्मा से भिन्न दिख रहा है, तब तक जगत् है, जब जगत् आत्म रूप है, ऐसा ज्ञान हो गया तब जगत् नहीं रहा, इसी अवस्था को कह दिया। आत्मा जगत् को खा जाता है, कैसे अँधेरा है, कब तक, जब तक प्रकाश नहीं है, सूर्य निकला प्रकाश ने अंधेरे को खा लिया।

• • ❁ • •

**मायाकारेण सम्बद्धं, जड शक्तेः शिवस्य तु।**
**ज्ञानमीश्वर संज्ञं च, नियन्तृ जगतो भवेत्।।**
**शक्तेरविद्याकारेण, सम्बद्धं जीवसंज्ञितम्।**
**स्वप्रचाराश्रयं चित्तं, जीवरूपप्रकाशकम्।**
**ज्ञातृत्वहेतुर्जीवस्य, दुःखित्वादेश्च कारणम्।**
**अदुष्टकारणोत्पन्नं, विज्ञानं प्रमा**

ज्ञानयज्ञ बहुत प्रकार का है, शिव की जडशक्ति मायाकार से सम्बद्ध ज्ञान ईश्वररूप हो जगन्नियत्ता पाता है, शुद्ध सत्त्वप्रधान माया की उपाधि से उपहित चैतन्य (ज्ञान) सर्वयज्ञ जगत्कर्ता ईश्वर कहलाता है। शिव की उसी जडशक्ति के अविद्याकार से सम्बद्ध ज्ञान जीव कहलाता है। चित्त अपनी विषयाकार वृत्तियों के कारण ही जीव रूप को प्राप्त करता है, यही चित्त जीव में ज्ञातृत्व व दुखित्व आदि का हेतु बनता है।

निर्दुष्ट साधनों से उत्पन्न विज्ञान ही प्रमा है।

• • ❁ • •

**आत्मरूपीशिवः साक्षात्, चिन्मात्र ज्योतिरेव हि।**
**भेदसाक्षी शिवो ह्यात्मा, न भिन्नं भेदसाधकः।।** (सप्तस. यज्ञवै.-१०)

आत्मरूप शिव साक्षात् चैतन्यमयी ज्योति हैं। भेद के साक्षी शिव ही आत्मा हैं भेदसाधक भी भिन्न नहीं है।



**सर्वभूतेषु चात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।**
**सम्पश्यन्नात्मयाजी स्यात्, स्वाराज्यमधिगच्छति।।**

सभी भूतों में तथा स्वयं को स्वयं में सभी भूतों को देखता हुआ प्राणी आत्मयज्ञ कर्ता होता है तथा स्वाराज्य को प्राप्त करता है।



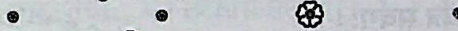
**त्वमहं शब्दलक्ष्यार्थं, असक्तं सर्वदोषतः।**
**ज्ञाता ज्ञातद्वयादन्यं, ज्ञाताज्ञातस्य भासकम्।।**

त्वं और अहम्—तुम और मैं शब्दों के लक्ष्यार्थ जो सर्वदोषरहित है ज्ञात व अज्ञात दोनों से भिन्न है। ज्ञात व अज्ञात का भासक है।



**प्रमाणभ्रान्तिवृत्तीनां, अगम्यं तत्प्रकाशकम्।**
**स्वयं भान्तं निराधारं, ये जानन्ति सुनिश्चितम्।।**
**ते विज्ञानसम्पन्नाः।।**

प्रमाणों भ्रान्ति वृत्तियों द्वारा अगम्य होने पर भी उनके प्रकाशक स्वयंप्रकाश निराधार इस तत्त्व को जो सुनिश्चित हो जानते हैं। वे विज्ञान सम्पन्न है।



**वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्**
**पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।**
**विमुक्तिसौधाग्रलताधिरोहणं,**
**ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति।।**

(विवेकचूणामणि)

जैसे पक्षी गगन में विना पंखो के उड़ नहीं सकता ठीक वैसे ही पुरुष के जीवन में वैराग्य एवं ज्ञान दो पंखों के समान हैं, विमुक्तिरूपी दिव्य भवनस्थलताधिरोहण विना इस ज्ञान वैराग्य रूपी पंखों के सम्भव नहीं है।



**स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः, स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः।**
**स्वयं विश्वमिदं सर्वं, स्वस्मादन्यन्न किञ्चन।।** (विवेकचू.)

मैं स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र-शिव-यहाँ तक कि ये सारा चराचर मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त कहीं भी कुछ भी नहीं है।

• • ✿ • •

**तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादि, सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा।**
**चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत्सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम्।।**

जैसे सागरगत जल ही तरंग, फेन, बुदबुदादि के रूप में प्रतीत होता है, वह सब जल ही है। कुछ अन्य नहीं है, ठीक वैसे ही देह इन्द्रिय-तन्मात्रायें पञ्चमहाभूतादि सब कुछ चित् चैतन्य ब्रह्म सत्ता ही है, वही एक अविशुद्ध रस है, अन्य कुछ भी नहीं।

• • ✿ • •

**सारूप्यं तत्र पूजने शिवमहादेवेति सङ्कीर्तने,**
**सामीप्यं, शिवभक्तिधुर्यजनता साङ्गत्य सम्भाषणे।**
**सालोक्यं च चराचरात्मकतनुध्याने भवानीपते,**
**सायुज्यं मम सिद्धमत्र भवति स्वामिन् कृतार्थोऽस्म्यहम्।** (शिवानन्दन. २८)

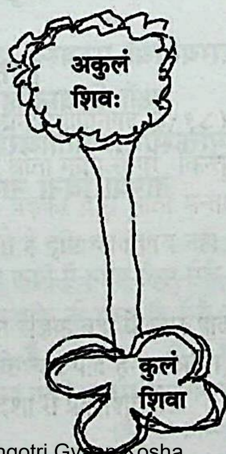
हे देवाधिदेव महादेव! आपका पूजन करने में सारूप्य मुक्ति 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' (न रुद्रो रुद्रमर्चयेत्) भस्मरुद्राक्षादि धारण से स्वतः हो जायगी, शिव महादेव इत्यादि नाम संकीर्तन से सामीप्य सिद्ध, शिवभक्ति निष्ठजनों के साथ संभाषण से सांगता सिद्ध हे भवानीपते चराचरात्मक तब दिव्य वपु का ध्यान से सालोक्य सिद्ध और अब मेरा सायुज्य सिद्ध हो रहा है। हे स्वामी महादेव में कृतार्थ हो गया हूँ।

• • ✿ • •

**तुरीयस्त्वहमेवास्मि, समः सर्वत्र सर्वगः।**
**विद्यया तु यदाविद्या नश्यति ध्वान्तवद्रया।।**
**तदा स परमानन्दः, प्रकाशात्मा प्रकाशते।।**

(भुशुण्डिरामा. ४५)

सर्वत्र गमन शील, सर्वत्र समावस्था में रहने वाला तुरीयतत्त्व तो मैं ही हूँ, विद्या द्वारा जब अविद्या नष्ट हो जाती है, जैसे प्रकाश से अंधेरा नष्ट हो जाता है, तब वह परमानन्द प्रकाशात्मा प्रकाशित होता है।




**सहजानन्दः**

**सहजोऽकृत्रिमो यस्मात्, सुखं चासङ्गलक्षणम्।**
**ज्ञात्वा निःसङ्गतानाम्नीं, निर्वेदागततत्सुखम्।।**
**विश्वं रसमयं कृत्वा, मग्नः सहजसागरे।** (अद्वयवज्रः संग्रहः)

## सहजानन्द

अकृत्रिम (भौतिकोपाय से अप्राप्त, वनावटी नहीं) असंगमूलक, सहज (स्वाभाविक, यथार्थ) आनन्द जिसमें मिले, उस निःसंगावस्था जन्य निर्वेद से प्राप्त सुख को जानकर सकल विश्व को रसमय भावित कर सहजावस्था के आनन्दमय सिन्धु में मग्न हो जाय।

● ● ✿ ● ●

**अन्तरास्थां परित्यज्य, भावश्री भावनामयीम्।**
**योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिन्, लीलया विहरानघ!॥**

अन्तःकरण की आस्था तथा भावनामयी भाव सम्पत्ति को त्यागकर हे अनघ! तुम जो हो, उसी आत्मरूप में स्थित हो जावो, तथा विहार करो।

● ● ✿ ● ●

**सर्वत्राहमकर्तेति, दृढभावनयानया।**
**परमामृतनाम्नी सा, समतैवावशिष्यते।। (महोपनिषद्-६)**

इस जगत् में सभी जगह ये सोचो मैं कर्ता नहीं हूँ, अकर्ता हूँ (नदी पर्वत दिन रात सुखदुःख पुत्र पत्नी धन) सबके प्रति मैं कर्ता नहीं हूँ, इस दृढ़ भावना के द्वारा परमामृत स्वरूपा समता ही शेष बचती है।

● ● ✿ ● ●

**खेदोल्लासविलासेषु, स्वात्मकर्तृतयैकया।**
**स्वसङ्कल्पे क्षयं याते, समतैवावशिष्यते।।**
**समतासर्वभावेषु, यासौ सत्यपरास्थितिः।**
**सर्वं त्यक्तवा मनः पीत्वा, योऽसि सोऽसि स्थिरो भव।**
**व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः, येन त्यजसि तत्यज।।**

खेद-प्रसन्नतामूलक उल्लास ये विलास स्वविरचित ही हैं, (काल्पनिक है) इस प्रकार व्यर्थ के संकल्पों का नाश होते ही एक समता मात्र शेष रहती है। सभी पदार्थों में समता की सत्यनिष्ठा है। अतः सर्वविध वैषम्य-मूलक भावों को त्यागकर, मन को पीकर (मन को स्वयं में लीन करके; क्योंकि विषमता का हेतु मन ही है, मन ही उत्पाटक करता और तुलना करता है) तुम जो हो, उसी आत्मरूप में स्थित हो जाओ। आकाश के समान शान्त बुद्धि वाले होकर जिसके द्वारा तुम सब को त्यागते हो, उस अहं को भी त्याग दो।

● ● ✿ ● ●

**एकं ब्रह्म चिदाकाशं, सर्वात्मकमखण्डितम् ।।५६।। (महोपनिषद् - ५)**

सर्वात्मक अखण्डित एक चिदाकाश ही ब्रह्म है।

अहं सर्वमिदं विश्वं, परमात्माहमच्युतः।
नान्यदस्तीति संवित्या, परमासाह्यहङ्कृतिः।।
सर्वस्याद्धियति रिक्तोऽहं, बालाग्रादप्यह तनुः।
इति या संविदो ब्रह्मन् द्वितीयाहंकृतिः शुभा।।
मोक्षायैषा न बन्धाय, जीवन्मुक्तस्य विद्यते।। (महोपनिषद्-५)
पाणिपादादिमात्रोऽय महमित्येष निश्चयः।
अहङ्कारः तृतीयस्तु लौकिकस्तुच्छबन्धकः।।

मैं ही सम्पूर्ण विश्वरूप हूँ मैं ही अच्युत परमात्मा हूँ, मेरे अतिरिक्त कोई नहीं है। ये जो संवित् है (ज्ञान है) इससे उत्पन्न ये अहंकार है वह श्रेष्ठ है। मैं सबसे परे हूँ- बाल के अग्रभाग से भी सूक्ष्म हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न अभिमान श्रेष्ठ है। यह अहंकार मोक्षमूलक है, बन्धन का कारक नहीं है, यह तो द्वितीय जीवन्मुक्तों का आभूषण है। हाथ पैरवाला यह शरीरमात्र मैं हूँ—यह लौकिक निश्चय तुच्छ है, बन्धन-कारक है।



अदृष्टोद्रष्टाऽश्रुतश्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता। नान्योऽतोऽतिद्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोत्म, ना मन्ता, ना. विज्ञाता, एष आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम्।।
(बृहदारण्यकोप.-३/८)

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्याध्यात्मम्। आकाशो ब्रह्मेति-अधिदैवम्।

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| प्राणः | चक्षुः | श्रोत्रम् | वाक् - | अध्यात्मम्। |
| ↓ | ↓ | ↓ | ↓ | |
| वायु | आदित्यः | दिशः | अग्निः - | अधिदैवतम्। |

(छान्दोग्योपनिषद् ३/१८)

अन्यों द्वारा अदृष्ट किन्तु सबको देखने वाला, अन्यों से अश्रुत किन्तु स्वयं श्रोता मनन से परे, किन्तु अनुमन्ता, बुद्ध्यादि द्वारा अविज्ञान किन्तु सबका ज्ञाता। यहाँ तक कि इनसे बढ़कर द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता कोई नहीं है। यही आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (इसे ऐसे भी कह सकते हैं दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है श्रवण का विषय)।

मन ब्रह्म है- अध्यात्म दृष्टि से। आकाश ब्रह्म है- अधिदैवत दृष्टि से। मन संज्ञक ब्रह्म के चार पाद हैं— वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र। वाक् अग्नि से प्रकाशित। अकाशसंज्ञक ब्रह्म के चार पाद हैं— अग्नि, वायु, आदित्य, दिशायें। प्राण वायु से प्रकाशित, नेत्र सूर्य से प्रकाशित, श्रोत्र दिशा से प्रकाशित है।

**बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।**
**एवं विमृशतो नित्यं, निर्विकल्पे स्थितिर्मम।।** (अष्टावक्रगी. २/१७)
**नाहं देहो न मे देहो, जीवो नाहमहं हि चित्।**
**अयमेव हि मे बन्धः, आसीद्या जीविते स्पृहा।।२२।।**

मैं बोध मात्र हूँ, मेरे द्वारा ही अज्ञानवश उपाधियाँ कल्पित की गयी हैं नित्य इस प्रकार चिन्तन करने से निर्विकल्प में मेरी स्थिति है।

न तो मैं शरीर हूँ, नहि शरीर मेरा है, मैं जीव भी नहीं हूँ, मैं तो चित् मात्र हूँ, यही मेरा बन्धन है कि मेरी जीवन के प्रति स्पृहा है (जीवन के प्रति स्पृहा होना ही मेरा बन्धन है)



**तद्ब्रह्मात्मानमेवेदं, सच्चिदानन्दलक्षणम्।**
**अकार्षीज्जगदाकारं, स्वयमेव स्वमायया।।**
**जाड्यदुःखे मायिकेस्ते, भानान्दौ परात्मगौ।।**
**लक्ष्यानन्दो न भिन्नः स्यादखण्डैकरसो ह्यतः।।** (अनुभूतिप्रकाशः १/१०७)

सच्चिदानन्द लक्षण वाला वह ब्रह्म ये आत्मा ही है। स्वयं स्वकीय माया शक्ति द्वारा उसने स्वयं को जगदाकार बना लिया है।

जड़ता दुःख मायाजन्य है, ज्ञान व आनन्द परमात्म प्रापक है। लक्ष्यानन्द ज्ञानानन्द से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह अखण्ड एक रस है।



**उपलक्षयिता जीवो, बुद्धो चित्प्रतिबिम्बकः।**
**उपलक्ष्यं ब्रह्म तत्तु, स्यादच्छायादि रूपकम्।।** (अनुभू.प्र. ७६८)

बुद्धि में चित् का प्रतिबिम्ब जो जीव है, वह उपलक्षयिता है, ब्रह्म है उपलक्ष्य वह ब्रह्म ही अच्छाय रूप है (छायादि रहित है) छाया=अन्धकार अज्ञान) शरीरत्रयरहित।



**आत्मेत्यव्यभिचारेण, स्वरूपं यत्तदुच्यते।**
**प्रमात्राद्यागमापायः साक्षित्वात्तत्स्वरूपता।।** (अनुभूतिप्र.-१७/९०)

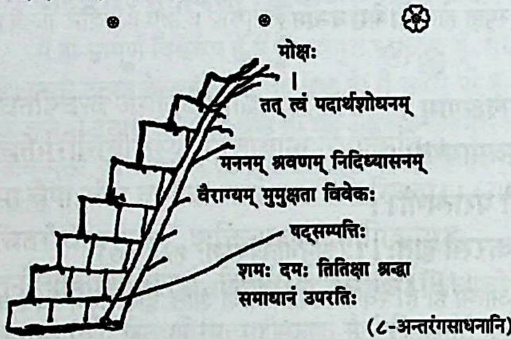
अव्यभिचारतः जो स्वरूप है, उसी को आत्मा कहते हैं, प्रमाता प्रमाण प्रमेय इन तीनों को आगम व अपाय (विश्लेष गमन) का भासक होने से साक्षी होने से आत्मा है, ये प्रमाण है, अन्यथा कौन बताये।



## ज्ञानम्

**प्रत्यगात्मनि विज्ञाते, नाज्ञातमवशिष्यते।**
**निःशेषपुरुषार्थाप्तिः दुःखहानिस्तु तत्फलम्।।**
**नित्यलब्धैकरूपस्य, नालाभोऽज्ञानतोऽन्यतः।।** (वृ.-३. वार्ति. १/४).

प्रत्यक् आत्मा के जान लेने पर जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं बचता। इसका फल है सम्पूर्ण पुरुषार्थों की प्राप्ति व दुःखहानि नित्यलब्ध एक रूप ज्ञान द्वारा कुछ (निरवयव) (अव्यक्त) (निराकार) (सावयव) (व्यक्त, साकार) भी अलभ्य नहीं है।




**उपासना, तीर्थसेवा, यज्ञः, तपः, दानम्।** (बहिरंगसाधनानि)

१. शमादि षट् सम्पत्ति- १. शम, २. दम, ३. उपरति, ४. तितिक्षा, ५. श्रद्धा, ६. समाधान। २. वैराग्य-अभय लोक फलाकांक्षा भोगवासना से विराग। ३. मुमुक्षुत्व। ४. विवेक-नित्य अनित्य वस्तु ज्ञान। ५. श्रवण। ६. मनन। ७. निदिध्यासन। ८. तत् त्वम् पदार्थसाधन।

### पाँच बहिरंग साधन

१. **दान-** देश-काल पात्र की परीक्षा करके। २. **तप-** सात्त्विक मनसा वचसा वपुषा। ३. **यज्ञ-** सात्त्विक शास्त्र विधि सम्मत। ४. **तीर्थयात्रा-** मन की पवित्रता के साथ अपरिग्रही टीका। ५. **उपासना-** सगुण साकार की सपर्या।

**चिच्छायावानहङ्कारः कर्ता चिद्भाति केवला।**
**चिच्छायागतभोक्तृत्वं, साक्षिण्यारोप्यते भ्रमात्।।,**
**नित्यतृप्तेश्वरत्वं तत्, साक्षितत्वं तदीक्षते।**
**यदा तदा वीतशोको, महिमानमवाप्नुयात्।।** (अनुभूति प्र. १२)
**ब्रह्मवित्परमेति सूत्रं-सर्वार्थसाधकम्।** (अनुभूति प्र. २)

ज्ञेयं-ब्रह्म | सत्यं ज्ञानमनन्तम्।
ज्ञानं-तदीया धीः | यो वेद निहितं गुहायाम्।
फलम्-ब्रह्मता। | सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह।

पञ्चकोशा गुहा, तत्र यदज्ञानं तत्परमं व्योम। तस्मिन् गूढं ब्रह्म।
बाह्यं जगत्पञ्चकोशाँचापोह्य अन्तर्मुखाधीः सर्वोपाधिरहितं ब्रह्म साक्षात्करोत्येव।

(अनुभू. प्र. २)

अहं चित् छाया वाला और कर्ता है, केवल चित् भासित है। चित् छाया गत जो भोक्तृत्व है वह भ्रमवश साक्षि में आरोपित कर लिया जाता है। (है नहीं)।

वह नित्य तृप्त ईश्वरत्व ही साक्षी भाव से देखता है, जैसे जैसे शोक नष्ट होता जाता है, वैसे वैसे इसकी महिमा का भान प्राप्त होता है, भोक्ता व साक्षी को इस उदाहरण से समझे जैसे एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं भूखा पक्षी फल खा रहा है, जो तृप्त है वो देख रहा है।

ब्रह्मवेत्ता परं ब्रह्म को पा लेता है, सर्वार्थ साधक-ज्ञेय=ब्रह्म ज्ञान ब्रह्ममयी बुद्धि, फल ब्रह्म होना, क्योंकि ब्रह्मवित् ब्रह्म होता है (जानत तुम्हहिं होई जाई) ज्ञातव्य ब्रह्म सत्य रूप ज्ञान व अनन्त है गुहास्थ इस तत्त्व ब्रह्मसाक्षात्कार को जो जानता है। वह सभी कामनाओं को पूर्ण रूप में पा लेता है।

पाँच कोश (अन्न-मन-प्राण-विज्ञान-आनन्दमयकोश गुहा) में जो अज्ञान् का (जगत् का) कारण है। वही परमाकाश है, वही निगूढ = आवृत ढका हुआ परमात्मा स्थित रहता है।

बाह्य जगत् (माला चन्दन (सम्मानपूजा) स्त्रीविषयक भोगादि) तथा पाँचों कोशों को अपोह्य = त्यागकर जब बुद्धि अन्तर्मुखी होती है, तब सभी उपाधियों से रहित ब्रह्म का साक्षात्कार होता ही है।

● ● ✿ ● ●

दृश्य सत्ता बन्धः। जगत्त्वमहमित्यादिमिथ्यात्मादृश्यम्। नेदं नेदमिति व्यर्थप्रलापैर्नोपशाम्यति। न च तर्कभरक्षोदैः।

सौम्याम्भसि यथा वीचिः, न चास्ति न च नास्ति च।
तथा जगद् ब्रह्मणीदं, शून्या शून्यपदं गतम्।। (योगवा. ३०/२०/१०)

हे राम! ये असत् स्वरूप तुम-मैं इत्यादि जगत् दृश्य कहलाता है, ये ही बन्धन का कारण है और इस जगत् का विनाश केवल ये नहीं मैं नहीं आदि व्यर्थ प्रलाप से नहीं होगा। विविध तर्कों एवं तीर्थ यात्राओं से भी इसकी निवृत्ति नहीं होगी। हे राम! जैसे शान्त सागर जल में लहर की न तो सत्ता है और न ही असत्ता है (लहर है ऐसा भी नहीं कह सकते तो लहर नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते) वैसे ही ब्रह्म में जगत् शून्य है या अशून्य ऐसा कह नहीं सकते। अनिर्वचनीय है, दोनों कल्पनाओं के आधार अधिष्ठान ब्रह्म को प्राप्त है।

● ● ✿ ● ●

**यदस्पन्दं शिवं शान्तं,**
**यत्स्पन्दं त्रिजगत्यस्तिः।**
**स्पन्दास्पदविलासात्मा**
**य एको भरिता कृतिः।।**

(योगवा. ३०/९/६२)

जिसका अस्पन्द स्वरूप (विक्षोभ रहित) शिव व शान्त अर्थात मंगल मय है और जिसका स्पन्द स्वरूप (विक्षोभ युक्त) तीनों जगत् की स्थिति है, इस प्रकार स्पन्द और अस्पन्द का विलास ही जिसका स्वरूप है जो अद्वितीय एक व परिपूर्ण है वह ब्रह्म है।

• • ❀ • •

**चितेश्चित्त्वं जगदिदं विद्धि ।**
**चितेर्मरीचिबीजस्य, निजायान्तश्चमत्कृतिः।**
**सा चैषा जीव तन्मात्र-मात्रं जगदिति स्थिता।।** (योगवा. ३/१४/५४)
**चितरौचेत्यरसतः, शक्तिकालादिनामिकाम्।**
**तनोत्याकाशविशदां, चिन्मधुश्री स्वमञ्जरीम्।।**

हे राम! चिति का धर्म चित्त्व ही जगत् है ऐसा जानो। प्रकाश की बीजभूत चित् का जो स्वकीय अन्तश्चमत्कार है (पदार्थों की प्रकाशिका शक्ति) वही जीव व जीव की उपाधिभूत तन्मात्र बनकर जगत्वेष में स्थित है।

हे राम! जैसे वसन्त शोभा जल के सिंचन से वृक्षों की ऊँची टहनियों में भी सुन्दर मञ्जरी को उत्पन्न करती है, वैसे ही चित्त की शक्ति माया द्वारा दृश्य प्रपंच में आसक्तिवश चित्त में प्रथम उत्पन्न आकाश में विकास को प्राप्त काल आदि का विस्तार करती है।

• • ❀ • •

## ज्ञानाष्टकम् (अष्टावक्रगी. ११ अ.)

**भावाभावविकारश्च, स्वभावादिति निश्चयी ।**
**निर्विकारो गतक्लेशः, सुखेनैवोपशाम्यति।।१।।**
**ईश्वरः सर्वनिर्माता, नेहान्य इति निश्चयी।**
**अन्तर्गलित सर्वाशः, शान्तः क्वापि न सज्जते।।२।।**
**आपदः सम्पदः काले, दैवादेवेति निश्चयी।**
**तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं, न वाञ्छति न शोचति।।३।।**
**सुखदुःखे जन्ममृत्यु, दैवादेवेति निश्चयी।**
**साध्यादर्शी निरायासः, कुर्वन्नपि न लिप्यते।।४।।**

चिन्तया जायते दुःखं, नान्ययेहेति निश्चयी
तया हीनः सुखी शान्तः, सर्वत्र गलितस्पृहः।।५।।
नाहं देही न मे देहो, बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव सम्प्रातो, न स्मरत्यकृतं कृतम्।।६।।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त महमेवेति निश्चयी।
निर्विकल्पः शुचिःशान्तः, प्राप्ताप्राप्तविनिवृतः।।७।।
नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो, न किञ्चिदिति शाम्यति।।८।।

भावाभाव विकार (भावमूलक विकार दृष्टिगोचर पार्थिवादि व सूक्ष्मविकार) ये स्वाभाविक से प्रतीत होते सब माया द्वारा ही है, ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है, वह स्वयं विकाररहित होकर गतक्लेश हो जाता है और अनायास ही शान्ति को पा लेता है।।१।।

रहित होकर गतक्लेश हो जाता है और अनायास ही शान्ति को पा लेता है।।१।।

ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई इस संसार का निर्माता नहीं है। ऐसा निश्चय जिसको हो गया, वह आशा पिशाची विनिर्मुक्त प्रशान्तात्मा साधक कहीं भी आसक्त नहीं होता (वह जगत् को नहीं जगन्निर्माता जगदीश्वर को खोज लेता है)।।२।।

आपत्ति एवं सम्पत्ति (सुख व दुःख) यथाकाल दैववश ही प्राप्त होती है (संचित् कर्मों का जन्म हेतुक एक भाग जो जन्य के समय जीव के साथ ही निश्चित हो जाता है, ये ज्ञानी-मूर्ख-गोरा-काला-उदार-निर्दयी-सुखी-दुखी-धनी दण्डि जाति कुल-अवस्था-शत्रुमित्र सब निश्चय हो जाता है, जिससे उसे प्रारब्ध कहते हैं दैव कहते हैं) ऐसा निश्चय करने वाला सदा संतुष्ट रहता है (प्रमाण संतुष्टि में=शिकायत नहीं करता सर्दी ज्यादा है, पड़ोसी ठीक नहीं, हालात ठीक नहीं, दुनिया बेकार है- पुत्र अच्छा नहीं, भोजन ठीक नहीं, वेतन कम मिलता है, अरे भाई कितना बोया है जैसा बोया है जब बोया है उतना ही वैसा ही यथाकाल पा रहे हो, शिकायत क्यों ऐसा निश्चय होने के बाद तो आनन्द है) जो असंतुष्ट है, उसी को शिकायत है वही परेशान है) स्वस्थ इन्द्रियों वाला अप्राप्त को चाहता नहीं। नष्ट पदार्थ के लिए शोक नहीं करता (स्वस्थ=स्व में स्थित हो गयी है जिसकी इन्द्रियाँ वह स्वस्थेन्द्रिय है)।।३।।

सुख-दुख जन्म-मृत्यु दैव से ही प्राप्त है, ऐसा निश्चय वाला योगी कर्तव्य कर्मों को बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के स्वभाविकतया ही करता है। परिणामतः करता हुआ भी कर्तृत्वभाव शून्य होने से कर्तापन की बुद्धि न होने से वह लिप्त नहीं होता, जैसे पलक झपकना एक कर्म है, किन्तु वहीं कर्तृत्वाभिमान न होने से उसका फल लिप्त नहीं करता आदि।।४।।

चिन्ता के कारण ही यहाँ दुःख प्रतीति है, अन्य कोई कारण नहीं (बाढ़ में गाँव बह गया जो चिन्ता कर रहा है। वह दुःखी है। एक शान्त बैठा है, वह गया वह गया अब क्या ऐसा निश्चय वाला चिन्ताहीन आकांक्षारहित साधक ही सुखी है, शान्त है।।५।।

मैं शरीर) नहीं हूँ और न ये शरीर ही मेरा है, मैं तो ज्ञान रूप नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ ऐसा निश्चय वाला जीते जी मुक्ति प्राप्ति की सी अवस्था वाला योगी कृत (किये गये) अकृत (जो न हो सके) कर्मों का स्मरण नहीं करता।।६।।

ब्रह्म से लेकर स्तम्ब (तृण) तक मेरी ही सत्ता है, मेरे अतिरिक्त और है कौन? ऐसा निश्चय वाला निर्विकल्प समाधिष्ठ पवित्र शान्त प्राप्त एवं अप्राप्त पदार्थों से असम्बद्ध योगी स्वमहिमा में स्थित हो आनन्दभाक् होता है।।७।।

नाना आश्चर्य (चमत्कारों से भरा पूरा) वाला ये विश्व यथार्थतः कुछ भी नहीं है, नहीं भ्रम है ऐसा निश्चय जिस को हो गया है, वह वासनारहित हो- चैतन्यमात्रावस्था (ज्ञानमयी भूमिका में स्थित) वाला योगी कुछ भी नहीं के समान, अस्मिताभिमान से रहित के समान लोकव्यवहारादिशून्य हो शान्त हो जाता है।।८।।

**अनमित्रश्च निर्बन्धुः, अनपत्यश्च यः क्वचित्।**
**त्यक्तधर्मार्थकामश्च, निराकाङ्क्षी स मुच्यते।।**

जिनके कोई मित्र न हो, जिनके पुत्रादि में आसक्ति न हो और जिसने धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष पुरुषार्थचतुष्टय में से प्रथमादि तीन (धर्म अर्थ-काम) को सर्वथा त्याग चुका हो, ऐसे जो निराकांक्षी हैं, वही मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

**नित्यमुक्तस्य शुद्धस्य बुद्धस्य सदा मम।**
**समाधिर्वाऽसमाधिर्वा, कार्यं चान्यत् कुतो भवेत्।।** (उपदेश सार १३/१६)

नित्य शुद्ध बुद्ध-मुक्तस्वभाव जो आत्मा उस ब्रह्मैकात्मता रूप का बोध प्राप्त कर लिया है, उसके लिये समाधि अवस्था हो या समाधिभिन्न अवस्था, सभी अवस्थाओं में नित्यरूप से प्रत्येक पदार्थों में ब्रह्मातिरिक्त कोई अन्य का न दर्शन होता और न ही अन्य का स्मरण होता है। उनके लिए सब कार्य ब्रह्ममय होता रहता है।

**उपनिषद्वाक्यम्–मुमुक्षवः पुरुषाः साधनचतुष्टयसम्पन्नाः श्रद्धावन्तः। शास्त्र-वात्सल्यमकुटिलं दयालुः सुकुलभवं श्रोत्रियं सद्गुरुं विधिवदुपसंयम्योपहारपाणयः उपनिषदं विधिवदधीत्य मननादि कृत्वा देहत्रयभङ्गमवाप्य परिपूर्णता मुक्तिः।**

मुमुक्षु उसे कहते हैं, जो क्षणभङ्गुर शशविषाण (शश=खरगोश, विषाण=सींग के समान) नितान्त असत् संसार को तत्त्वतः जानकर अपनी आत्मा के कर्तृत्व-भोतृत्व रूप बन्धन को शिथिल (उच्छेदित) कर अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला स्वरूप के अपरोक्ष (साक्षात्) की इच्छा रखने वाला हो। मुमुक्षवः संस्कृत के बहुवचन में प्रयोग हुआ है। ऐसे साधनचतुष्टयसम्पन्न, श्रद्धावान् मुमुक्षुजन, शास्त्र में स्नेह रखनेवाले, सरलस्वभाव-दयालु उत्तमकुल में उत्पन्न, श्रौत कर्म में निरत विधिवत् (हाथ में समिधा और कुशा लेकर) सद्गुरु को प्राप्त करके गुरुकुलोचितविधि से उपनिषद् (वेदान्त) विद्या को ग्रहण करके

तथा गुरु द्वारा उपदिष्ट वाक्यों ('तत्त्वमसि' नेह नानास्ति किञ्चन आदि) का मनन करके देहत्रय (स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर) के बन्ध का उच्छेद कर परिपूर्णता को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।

**समकालं चिराभ्यस्ताः फलदाः।**

किसी एक काल में ही बहुत काल तक अभ्यास करने पर फलदायी होते हैं। एक-एक कर (विरल) अभ्यास से लक्ष्य की सिद्धि (प्राप्ति) नहीं होती है।

**अभितो ब्रह्मरूपत्वध्यानाद्याति जगद्भ्रमः।**
**ब्रह्मत्वे योजिते स्वस्य, जीवभावोऽपि गच्छति।।**

इस जगत् में नानात्व जो 'त्वम्' रूप पदार्थ है, वह सर्वतः ब्रह्म मात्र ही है ऐसा ज्ञान हो जाने पर 'नानात्व' 'त्वम्' का निषेध ज्ञान दृढ़ हो जाने पर जगद्रूपी भ्रम निवृत हो जाता है। ब्रह्म से 'स्व' को एकाकार करने पर जीवभाव भी समाप्त हो जाता है।

**अद्वये भाविते तत्त्वे, वासना विनिवर्तते।**
**आरब्धान्ते देहहानिः मायेवं क्षीयतेऽखिला।।**
**ब्रह्मज्ञानात् पाशहानिः, त्रयं ब्रह्मेति तत्त्वधीः।।** (अनु.प्र. १२)

अद्वितीय तत्त्व (उपादान) के अधिष्ठानरूप से ज्ञान होने पर वासना का हान (क्षय) हो जाता है।

प्रारब्ध के क्षीण हो जाने पर देह भी छूट जाता है और समस्त मायाजाल का अन्त हो जाता है।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' रूप अखण्डज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् पाश (बन्ध) की हानि अर्थात् मायोपहित ईश भोजयिता, (२) अहंकारोपहित जीव रूप (अज्ञ) भोक्ता तथा (३) उन दोनों की जो निर्वाहिका माया जो ब्रह्म में आरोपित है, तीनों की निवृत्ति हो जाती है और तत्त्वज्ञान मात्र रह जाने के कारण उस उपासक को तत्त्वधी कहते हैं।

ईशः-सर्वज्ञः- मायोपहितः
भोजयिता
जीवः-अज्ञः- अहं कारोपहितः।
भोक्ता
तयोर्निर्वाहिका-माया,
ब्रह्मण्यारोपितत्रयम्
जगद्भ्रमं जीवभेदं,
वासना देहधारणम्
चतुष्टयं निराकुर्यात् अभिध्यानादिभिः क्रमात्

पाशाः-चतुर्विधा-१. मलः-ज्ञानक्रियाच्छादको दोषः, २. माया-रागादि हेतुः, ३. कर्म-पुण्यपातकौ, ४. तत्त्वतिरोधानम्-अज्ञानम्। (अनु.प्र. १२)

जयेत् प्राबल्यमक्षाणां, प्राणायामेन धैर्यवान्। (अनु.प्र. १२)
स्वात्मतत्त्वप्रसादेन, ब्रह्मत्वं प्रसीदति।
शास्त्राद् बुद्धं ब्रह्मतत्त्वं, आत्मत्वेनानुभूयते।।
प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद् व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः।
प्रथते यः स ब्रह्मेति, प्राहुरात्मविदो बुधाः।। (अनु.प्र. १३/६)
बहिर्मुखेन न ज्ञातं प्रत्यक्तत्त्वमतिं विना। (अनु.प्र. १२)

पाशाः-चतुर्विधाः (पाश चार प्रकार के हैं)- १. मलः-ज्ञानक्रियाच्छादको दोषः (ज्ञान क्रिया का आच्छादक जो दोष वही मल है। २. माया-रागादिहेतुः। (विषय के प्रति आसक्ति के कारण को माया कहा है)। ३. कर्म-पुण्यपातकौ (पुण्य और पाप रूप ही कर्म है)। ४. तत्त्वतिरोधानम्-अज्ञानम् (यथार्थ स्वरूप के आच्छादक को अज्ञान वही तत्त्व तिरोधान के रूप में अभिप्रेत है)।

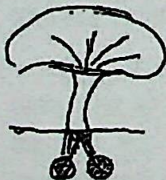
साधक धैर्यवाला (धैर्यशील) होकर प्राणायाम के द्वारा इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे।

साधक (अधिकारी) को स्वात्मलाभ हो जाने पर 'अयं आत्मा ब्रह्मैव' (यह आत्मा ब्रह्म ही है। आत्मब्रह्मैकता रूप ज्ञान शास्त्र द्वारा दृढ़ हो जाता है और वह निखिल जगत् को "आत्मैवाभूत विज्ञानतः" आत्मरूप से ही देखता और उसे अपने से अनुभव करता है।)

जो पुरुष बहिर्मुख है अर्थात् जो सम्मुख जगत् को नानात्वरूप से देखता और समझता है तथा उसको उसी रूप से सत्य है ऐसा स्वीकार करता है, वह अज्ञानी पुरुष उस आत्मतत्त्व को निश्चितरूप से नहीं जानता।

• • ❁ • •

देहेन्द्रियमनोबुद्धिभावाभावादिसाक्षिणः।
प्रतीचोऽन्यत्किमप्यत्र, नास्ति कस्माद्बिभेम्यहम्।।२३।।
प्रत्यक्ता ब्रह्मणो रूपं, ब्रह्मता चात्मनः स्वतः।। (अनु.प्र. १३/२६)
वासना विलये चेतः, शममायाति दीपवत्।।



द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य, प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिन्नपि तयोः क्षीणे, क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः।। (मुक्ति उप.)
भावसंवित्प्रकटितां, अनुरूपां च मारुते।
चित्तस्योत्पत्त्युपरमां, वासना मुनयो विदुः।।

जीव अज्ञानवश अपने स्वात्मरूप को त्याग कर व्याकुल इन्द्रियभाव को प्राप्त होकर आरोप्य वस्तु को ग्रहण कर लेता है, परन्तु साधक देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि और उसके भाव-अभाव के साक्षी को ग्रहण

(आत्मा को जानकर) यह सम्मुख वस्तु असत्य है ऐसा जानता है, यह तो आत्मा का रूप ही है। अतः किसी का बोध दर्शन नहीं होता।

प्रत्यक्ज्ञान धर्मतामात्र ब्रह्म का रूप और ब्रह्मताधर्ममात्र आत्मा का स्वरूप स्वतः स्फुरित हो जाता है। अथवा यो कहें कि प्रत्यक् प्रत्ययमात्र ब्रह्म ओर ब्रह्मप्रत्ययमात्र आत्मा का जो रूप वह स्फुरित हो जाता है। कर्म का जो हेतु वासना उसके लय हो जाने पर, मिट जाने पर अथवा उच्छेद हो जाने पर चेतना में एक शक्ति विशेष प्रकट हो जाती है, उसे शम कहते हैं। दृष्टान्त में "दीपवत्" शब्द का अभिप्राय जैसे दीप को जला देने पर ही अन्धकार को शमन करने की शक्ति प्रकट होती है और स्वतः तम (अन्धकार) मिट जाता है। उसी प्रकार कर्म का मूल वासना का क्षय हो जाने पर शम शक्ति उत्पन्न हो जाती है, परम्परया वह आत्मसाक्षात्कार का हेतु है।

चित्तरूपी वृक्ष का दो बीज है, जिसका नाम क्रमशः प्राणस्पन्द और द्वितीय वासना नाम से ख्यात है। वे दोनों बीज चित्तरूपी वृक्ष के एकसाथ, (सहकृत) एकाधिकरण कारण होने से उसके क्षय होने पर दोनों का क्षय हो जाता है। यथा- 'अहं कर्ता' मैं कर्ता हूँ— ऐसा शरीर को आलम्बन करके होता है अर्थात् मैं शरीर हूँ इस बुद्धि से व्यवहार होता है। इसलिये 'करोमि' क्रियाश्रयत्व कर्मकालिकस्पन्दन सम्भव होता है। वासनाशून्य उपासक के 'नाऽहं कर्तेति' ज्ञान होने पर वे दोनों बीज जिससे कर्तृत्व-भोक्तृत्व बन्ध प्राप्त होता है, नष्ट हो जाता है।



**अहं प्रत्ययबीजं अन्तःकरणे स्थितम्।**
**नाहं कर्त्तेति वहन्युष्टं न तत्पुनः प्ररोहति।। (उप.सा. ४/१)**




(उपदे.सा. ४)

**यथात्मबुद्धिचाराणां, साक्षी तद्वत्परेष्वपि।**
**नैवापोढं न वाऽऽदातुं, शक्यस्तस्मात्परो ह्यहम्।। (उप.सा. ७)**

अहं (मैं) प्रत्यय (ज्ञान-अनुभूति-व्यवहार) का बीज (हेतु) अन्तःकरण में स्थित है। अन्तःकरणाधिष्ठानी 'अहं' प्रत्यय होता है। श्रवण-मननादिपूर्वक उत्थित विवेक से 'नाहं कर्त्ता' मैं कर्त्ता नहीं हूँ। सकल कार्तृत्वभोक्तृत्वाभावाधिष्ठानकात्मा (ब्रह्म) जो शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है, वह मैं हूँ। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ज्ञान के हो जाने पर जिस तरह अग्नि से जले हुए बीज रसमय पृथ्वी संयोग पाकर भी अंकुरित नहीं होता। वैसे ही वह कर्त्ता नहीं बनता।

साधक यति सर्वत्र आत्मबुद्धि से ही आत्मा को साक्षी सुनिश्चित कर व्यवहार करते हैं। वह अपने के द्वारा किये गये व्यवहार से जिस तरह साक्षी बोध मात्र अवधारित करता है, उसी प्रकार अन्य के द्वारा किये गये व्यवहार में आत्मकर्तृत्वाभाव की दृष्टि को स्थिर कर आत्मा को साक्षी मात्र-रूप में देखता है।



**(ख) तत्त्वज्ञानस्य साधनद्वयम्-**

**१. उत्तमाधिकारिणः-श्रवणादिकम्।,**

**२. मध्यमाधिकारिणः-अहं ग्रहोपासना।**

तत्त्वज्ञान के दो साधन हैं-

(१) उत्तमाधिकारी- जो गुरूपदिष्ट वाक्य 'तत्त्वमसि', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों का श्रवण मनन-निदिध्यासनादि द्वारा तत्त्व विनिश्चय करता है।

(२) मध्यमाधिकारी अहंकारादि ज्ञानोपासक होता है। दोनों पक्षों के द्वारा प्रमाण-प्रमेयसिद्धि द्वारा तत्त्वानुसंधान होता है।



**दृशि स्वरूपं गगनोपमं परं, सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।**
**अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं, तदेव चाहं सकलं विमुक्त ॐ।।** (मुक्तिकोप. ७३)

साक्षीस्वरूप-गगन के सदृशव्यापक-प्रकाशस्वरूप-अज-अक्षर-निर्लिप्त-सर्वगत-अद्वय ब्रह्म सकल उपाधि से रहित है, वह ॐ स्वरूप आत्मा मैं ही हूँ। यहाँ आत्मा के स्वरूप लक्षण कहा है- आत्मा सभी प्रमेय (दृश्य) के साक्षीरूप 'सर्वसाक्षीसर्वभूतान्तरात्मा' आकाश के सदृश का तात्पर्य निरूप और व्यापकत्व सामर्थ्य के लिये कहा, सकृद्विभात-सबका प्रकाशकत्त्व बोध के लिए कहा, अज से अजन्मा-अविनाशी-अक्षर-सकल अपचय-उपचय रहित-अलेपक-सकल कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभाव, सर्वगत-सभी उच्चावच-निखिल दृश्य में अनुस्यूत, अद्वय-द्वितीयाभाव, सकल-कला विद्या (ज्ञान) स्वरूप तथा विमुक्त-बन्धन रहितत्व आदि धर्मविहीन आत्मबोध कराने को विशेषण दिया गया है। यहाँ ॐकार की उपासना ब्रह्मरूप से करने हेतु उपनिषद् वाक्य कहा गया है।



**अब्धिर्यथाजलधरैरपनीय नीतो,**
**नद्यादिभावमुदधित्वमितिं जहौ स्वाम्।**

**एवं भवानुपधिभिः खलु विस्मृतः स्वं**
**सद्ब्रह्मतत्त्वमतिसंस्मर पूर्णभावम्।।** (स्वरा.सि. २/५१)

जिस प्रकार जलधर (मेघ) सागर से जल उठाकर (ग्रहण कर) पृथ्वी पर वर्षा करता (जल वर्षाता है) और वह जल बहकर नदी का रूप धारण कर लेता है तथा असीम अपने रूप (पूर्णरूप) को नहीं जानता उसी प्रकार के जीव तुम अपने मूल अधिष्ठान ब्रह्म को क्योंकर भूल गये हो। तुम अपने 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूणात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' को याद करो।



**आकाशादपि सूक्ष्मैषा या शक्तिर्विवता चितः।**
**सस्वभावत एवेता महन्तांपरिपश्यति।।** (योग.वा.उ.प्र. १३/४३)
**चमत्कारकरी चारु यच्चमत्कुरुते चितिः।**
**स्वयं स्वात्मनि तस्यैव जगन्नाम कृतं ततः।।** (योग बा. उ.प्र. ३, श्लो. ५)

चित्शक्ति का जो प्रकाश है (परिणमिता) वह आकाश से भी सूक्ष्म है जो अहंता कृत होकर परिच्छन्न जगत् रूप को देखता है। यह चित्शक्ति का स्वात्मस्वभाव होता है।

यह जो सुन्दर (रम्य) जगत् का दर्शन हम कर रहे होते हैं, वह चिति का ही अद्भुत चमत्कार का परिणाम है। जो स्वयं अपनी आत्मा (चिति शरीर में) जगदाकार रूप और उसके नाम के रूप में सृजन (तदाकारितरूप से) सत्यप्रतीति का भाव कराने जैसा ज्ञान उत्पन्न कर देती है।



**वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।।** (योग.स. १/१७)
**१. स्थूल आभोगः २. सूक्ष्मः, ३. ह्लादः, ४. एकात्मिका संवित्**

एकाग्रभूमिकचित्त में समाधिसिद्ध होने पर क्लेशों की मूल की नाशकारिणी जो प्रज्ञा है, वही सम्प्रज्ञात योग कहाता है। जिस समाधि से यह साक्षात्कारवती प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उनके वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता चार प्रकार के भेद हैं। विषयगत भेदों के अनुसार वितर्क आदि भेद होते हैं। सवितर्क और निर्वितर्क या सविचार या निर्विचार रूप जो समापत्ति भेद हैं, वे समाधि के विषय और प्रकृति के अनुसार होते हैं। शब्द, अर्थ, ज्ञान और विकल्प से युक्त चित्तवृत्ति यदि स्थूल विषयक हो, तो उसे वितर्कान्वयी वृत्ति, कहते है। स्थूलविषयक समाधिवशीकृत होने पर उस समाधि के अनुभव के साथ विचारविशेष से सूक्ष्मतत्त्व का सम्प्रज्ञान होता है, यही सविचार सम्प्रज्ञान है। आनन्दानुगत समाधि वितर्क उत्पन्न चिन्तादिक करणों में व्याप्त सात्त्विक शरीर-चित्त-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय एवं प्राणों का अधिष्ठान रूप होता हुआ सम्पूर्ण शरीर का स्थैर्य स्वाभाविक बोधरूप होकर आनन्द को प्रकट करता है। अस्मिता समाधि गृहीत विषयक (मैं आनन्द का गृहिता) होने के कारण आनन्द विकल (आनन्दातीत) होता है, परन्तु निरानन्द नहीं होता। इसका आनन्द विषय नहीं होता, परन्तु आनन्द गृहिता (आत्मा) विषय होता है।

१. स्थूल विषय को ग्रहण करनेवाला वितर्क होता है। २. सूक्ष्म विषय को ग्रहण करने वाला विचार होता है। ३. ह्लाद (आनन्द) को ग्रहण करनेवाला आनन्द सम्प्रज्ञात है। ४. गृहीता (आत्मा) को विषय करनेवाली अस्मिता है। (व्यास भाष्य)



**१. चतुष्टयानुगतः-स्थूलसूक्ष्मानन्दास्मितागतः, २. स्थूलालम्बनहीनः, ३. विचारविकलः, ४. ज्ञाताहमिति-अस्मितामात्रालम्बनम्।** (भास्वती टी.)

**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। (यो.सू. १/१८)**

**सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः।**

**स्वयं प्रकाशं बुद्ध्यबोध्यं बुद्धेर्दृक्।**

१. स्थूल-सूक्ष्म-आनन्द और अस्मितागत वितर्क सम्प्रज्ञात है। २. स्थूल आलम्बन रहित सम्प्रज्ञात है। ३. स्थूलालम्बन रहित विचार (सूक्ष्म) आलम्बन हीन को ह्लाद सम्प्रज्ञात कहा जाता है। ४. ज्ञातामात्र को ग्रहण करनेवाली अस्मिता सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है।

स्वयं प्रकाश प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रहती। दीपक (प्रज्वलितदीप) को देखने के लिये किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती। अतः यह स्वयं प्रकाशरूप आत्मा का बोध बुद्धि द्वारा जाना नहीं जा सकता, बुद्धि को जो जानने की शक्ति है। 'तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं बिभाति' (कठो.अ२व.२, श्लो. १५) 'यद्वाचो ह वाचम्' जिसके प्रकाशित सोने से ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है और जिसके प्रकाश से प्रकाशित होता है वही ब्रह्म है। जो वाणी की भी वाणी, मन का भी मन, बुद्धि की भी बुद्धि है, वही ब्रह्म पदवाच्य तत्त्व स्वयं प्रकाशरूप है।



**धीरः धियं रक्षति विषयेभ्यः।**

**यो वै भूमा-'तदमृतम्', 'तत्सुखम्'।**

**यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। (छा.उ. ७/१/३)**

**आत्मस्वरूपं सुखमेव मोक्षः।**

जो बुद्धि को विषयों के विकार से रक्षा करे ऐसा पुरुष धीर कहलाता है।

जहाँ पहुँचकर या जिस ब्रह्मरूप भूमा के ज्ञान प्राप्त होने पर अन्य को नहीं देखता, अन्य को नहीं सुनता, अन्य को नहीं जानता है। आगे मन्त्र का भाग है- 'अथ यत्रान्यत् पश्यति, अन्यच्छृणोति, अन्यद्विजानाति तदल्पम्' जो जहाँ पर अन्य को देखता-सुनता और जानता है, वह अल्प है। 'यो वै भूमा तदमृम्' जो वह भूमा है, वह अमृतस्वरूप है। भूमा में आत्म भाव प्राप्त करनेवाला साधक अमरत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है। 'तत्सुखम्' क्योंकि वह सुखस्वरूप है। सुख आनन्द को कहते हैं। 'आनन्दो वै सः' वह ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' और जो अल्प है, वह मर्त्यरूप मरणशील है और वह भूमा अपने महिमा में प्रतिष्ठित है। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'। 'प्रश्न परमविरक्त नारद जी द्वारा किया गया है और उत्तर परम तत्त्ववेत्ता सनत्कुमार जी का है, जो उत्तर देते है कि 'स्वमहिम्नि' वे भूमा अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है।

आत्मानुभव (साक्षात्कार) रूप जो सुख (आनन्द) वही मोक्ष है। 'आनन्दमयोऽयमात्मा' आनन्द शब्द में 'मयट् प्राचूर्ये' पाणिनि सूत्र से प्राचूर्य अर्थ में मयट् प्रयत्य होकर बनता है। जिसका अर्थ भीतर-बाहर सभी (सर्वांग आनन्द शरीर) आनन्द ही हो जिसमें अर्थात् आनन्दातिरिक्त कुछ भी न हो। जैसे नमक के ढेले में अन्दर बाहर लवणत्व (नमकीन) मात्र ही होता है वैसा ही।



## चतुर्विधाः पुरुषाः

**१. पामराः-शास्त्रनिपरेक्षसुखेच्छवः। २. विषयिनः-शास्त्रास्त्रसम्मतसुखेच्छवः।**

**३. मुमुक्षवः-विवेकिनः। ४. मुक्ताः-देहभिन्नकेवलचिदात्मज्ञानिनः। (वि. सागरः)**

**(क) कार्यानन्वयी विद्यमानव्यावर्तक उपाधिः।**

**(ख) अन्तःकरणस्थं चैतन्यमात्रम्-साक्षी।**

**(ग) चेता केवलो निर्गुणश्च। (श्वेता.उ. ६/११)**

**(ङ) न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। (क. २/२/११)**

**(च) असङ्गो ह्ययं पुरुषः।**

**(छ) अन्तःकरणविशिष्टःसंसारी।**

**(ज) विशेष्यः-साक्षी।**

(१) पा-रक्षणं, मरः = नष्टः येषां ते पामराः। जो अपनी रक्षण की उपाय को नहीं जानता। अर्थात् शास्त्ररूप ज्ञान विज्ञान से शून्य है और सुख की इच्छा रखता है।

(२) विषयिनः = जो शास्त्र और शस्त्र के ज्ञाता हो और उसी शास्त्र और शस्त्र को जीवनोपार्जन का साधन बनाकर जीवन यापन करता हो, सुख की इच्छा रखता हो।

शस्त्र और शास्त्र दोनों का समुच्चय ज्ञान नहीं रखने वाले पुरुष सुख की इच्छा करता है, तो विषयी कहा जायगा।

(३) मुमुक्षवः- मुक्तिं इच्छा येषां ते मुमुक्षवः अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा जिन्हे हो, वे मुमुक्षु कहलाते हैं। मुक्ति परित्याग को कहते हैं। प्रश्न है किसका परित्याग? उत्तर है अज्ञान तथा अज्ञानजन्य सांसारिक असद् पदार्थों का परित्याग। परित्याग तो अनिष्ट का होता है तो असद्पदार्थ में अनिष्ट दर्शन कैसे होता है। शास्त्रज्ञान और गुरुकृपा से उपदिष्ट वाक्य ज्ञान के मननादि से संसार को असारता ज्ञात होने पर अनिष्टताबोध अनन्तर वैराग्य की उत्पत्ति होती है। उसके बाद षट्सम्पत्ति साधन (शमादिकषट्) से मोक्ष को प्राप्त किया जाता है। उस मोक्ष की जो इच्छा है, उसे मुमुच्छा और मुमुक्षा हो जिसके पास वह व्यक्ति मुमुक्षु कहलाता है।

(४) मुक्ताः-देहभिन्नचिदात्मज्ञानिनः- जो देह से भिन्न जो चिद्रूप आत्मा, उस आत्मा का ज्ञान है जिसको वह मुक्त कहलाता है। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' जिसको हो वह मुक्त कहलाता है। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' यह जो प्रत्येक देह भिन्न भिन्न अनेक रूप से (नानात्व रूप से) दिखाई देता है वह वैसा है नहीं।

यथार्थरूप से सर्वत्र कारणरूप ब्रह्म ही है। उस ब्रह्म को आत्मरूप से सर्वत्र-सर्वदा प्राप्त करना मुक्ति है और मुक्ति को प्राप्त पुरुष मुक्त कहाता है। जिस व्यक्ति को सभी भूतों में आत्म दर्शन होने लगे वह मुक्त है। "घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेति पञ्चमी। कुलं शीलं तथा जातिरष्टौपाश: प्रकीर्तिता:। पाशबद्धः भवेज्जीव: पाशमुक्त: सदाशिव:"। उपर्युक्त आठ पाश (बन्धन) यहाँ कहे गये हैं। इन पाशों से निर्मुक्त होने पर लोग सदाशिव (ब्रह्म) रूप हो जाते हैं अर्थात् सभी प्रकार के बन्धों से रहित हो जाता है, वहीं मुक्ति है।

(क) कार्यान्वयी=कार्य से सम्बन्ध रखनेवाला, विद्यमान व्यावर्तक: = उपस्थित (वर्तमान) परन्तु अन्य (दूसरे का) व्यावर्तक अर्थात् भेदक (अलगाव का बोधक) को उपाधि कहते हैं। जैसे घट जल रक्षण कार्य से सम्बद्ध है और पट का व्यावर्तक (भेदक) है। जो घट है, वह पट नहीं है। धटत्व रूप उपाधि के कारण अन्य पटत्व आदि का भेदक भी है।

(ख) अन्त:करण स्थित (अत:करणावच्छिन्न) चेतन्य मात्र को साक्षी कहते हैं। मात्र पद संसारित्व के निवारण हेतु दिया गया है।

(ग) केवल चेतन (मत्र चेतन-विशुद्ध चेतन) निर्गुण (सतोगुण-रजोगुण और तमोगुण से रहित) है, वह साक्षी है।

(घ) सूर्य सभी लोकों का नेत्र होकर भी नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से रहित होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा होने से वह ब्रह्म (आत्मा) संसार के सुख और दु:खों से लिप्त नहीं होता, बल्कि उससे बाहर रहता है। 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (गीता) वह (आत्मा) कमल के पत्ते के समान संसार के पापों (दु:खों) से लिप्त नहीं होता। अत: सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद रहित 'केवलो निर्गुणश्च' श्रुतिप्रतिपादित निर्गुण आत्मा ही ब्रह्म है।

(ङ) पुरुष आत्मा को कहते हैं। 'पुरे शेते य: स: पुरुष:' अथवा 'पुरी शेते यस्मात् तस्मात् पुरुष: शरीररूपी पुर (नगर-नगरी) में जो निवास करे उसे पुरुष कहते हैं। 'असङ्गोऽयं पुरुष:' श्रुति के अनुसार वह पुरुष (आत्मा) असंग है। उसका संग किसी के साथ नहीं होता। शरीररूपी वस्त्र पहन लेने के कारण वह वस्त्राकाररूप से भ्रमवश ज्ञात होता है। यदि तदाकारता को ही (वस्त्राकारता को ही) पुरुष मानें, तो वस्त्र के नष्ट होने पर शरीर भी नष्ट होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं है। कहा है 'वासांसि जीर्णाणि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही (गी.अ. २/२२)' जिस प्रकार मानव जीर्ण कपड़े को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीर्ण शरीर को त्यागकर आत्मा नवीन शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। वस्त्र के साथ शरीर की संगता निरस्त हो जाने पर आत्मा और शरीर के संगता का हान (निरस्तभाव) सिद्ध इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि आत्मा असङ्गी ही है।

(च) अन्त:करण मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार रूप चतुर्विध है। अत: अज्ञानी अन्त:करणबद्ध होकर अपने को भ्रमवश सुखी-दु:खी मानता है। 'अन्त:करणावच्छिन्नचैतन्य: जीव: जीवभावात् संसारी' अन्तकरण के वशीभूत जीवभाव को प्राप्त जीवत्व को ही संसारी कहते हैं और विशेष्य को साक्षी कहते हैं। अन्य तरह से शुद्धसत्त्वप्रधानमायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर माया (अविद्या) को वशीकृत कर होता है,

और मलिनसत्त्वप्रधानमायावच्छिन्न चैतन्य जीव माया के वशीभूत होता है। अत: अविद्यावशीभूत जीव ही संसारी कहा गया है।

(छ) मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्यावच्छिन्न विशेषण रहित विशेष्य (चेतनमात्र) साक्षी है। साक्षी द्रष्टामात्र को कहते हैं।



## अध्याससामग्री

**१. संस्कारः, २. प्रमातृगतदोषः-भयादिः, ३. प्रमाणदोषः-काचादिः, ४. प्रमेयदोषः-सादृश्यम्, ५. अधिष्ठानसामान्यज्ञानं विशेषाज्ञानम्।**

'तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानत्वं अध्यासः' (ब्रह्म सू.शा.भा.) अर्थ- तत् पद से रजत गृहीत है, अत: रजत वस्तु या रजतज्ञान के अभाववाले वस्तु में अर्थात् शुक्ति में तत्प्रकारकं=रजतप्रकारक जो ज्ञानं=बुद्धि होती है, उसी को अध्यास (मिथ्याज्ञान) कहते हैं, अथवा दूसरे लक्षण से कह सकते हैं- 'अतस्मिन् तत्सम्बुद्धिः अध्यासः' अर्थ:- जो व्यक्ति (शुक्ति) वैसा नहीं है (रजत नहीं है) फिर भी तत्=रजत की, सम्बुद्धिः=ज्ञान हो तो उसे अध्यास-भ्रम कहते हैं। अध्यास-भ्रम और मिथ्याज्ञान ये पर्यायवाची है और ऐसा अध्यास होने में जो सामग्री (उपकरण) होते हैं, उसकी संख्या-पाँच है, जिसका विवरण क्रमशः नीचे दिया जा रहा है।

(१) संस्कारः=लोभादिः, अन्तःकरण में जो वासनाजन्य लोभ (रजतप्रकारक) रहते है वे ही यहाँ संस्कार पद से गृहीत हैं।

(२) प्रमातृगत दोषः=प्रमाज्ञान का जो आश्रय उसे प्रमाता कहते हैं। और प्रमाता में रहने वाला जो दोष उसे प्रमातृगत दोष कहते हैं। वह दोष भयादि है, जैसे- 'रज्जौ अयं सर्पः' रज्जु (रस्सी) में सर्प का भ्रम होने पर भय-कम्पन-स्वेद (पसीना) आदि उत्पन्न होते हैं।

(३) प्रमाणदोषः-प्रत्यक्षज्ञानस्थल में (रूपप्रत्यक्ष में) चक्षुः (आँख) प्रमाण कहलाता है। किसी व्यक्ति को 'काचादिः' काच-कमल-रतौन्धी आदि-दृष्टि दोष हो, तो उसे ठीक से नहीं सूझता और वह रज्जु में सर्प, कमल आँख का पीला (होना) होने पर सफेद शंख का पीला दिखना, पित्त बढ़ जाने पर मधुरपदार्थ का तिक्त (तीता) लगना आदि दोषवश विपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है।

(४) प्रमेयदोषः- जिस वस्तु को जाना जाय अर्थात् साध्य को प्रमेय (इदं रजतम्) कहाता है। प्रमेयगत जो सादृश्यता चाकचिक्य वह शुक्ति में भी रहता है। सादृश्यता समान धर्म को कहते हैं। चाकचिक्य (सफेद चमक) दोनों का सूक्ति और रजत का समान होता है। यह भी अभ्यास की सामग्री है।

(५) अधिष्ठान सामान्य ज्ञानं विशेषाज्ञानम् = अधिष्ठान अधिकरण को कहते हैं। 'इदं रजतम्' में इदं जो अधिष्ठान उसका सामान्य ज्ञान (चाकचिक्य) का बोध रहता है, परन्तु विशेष (सुक्ति) का ज्ञान नहीं रहता या होता है। विशेषज्ञान का अभाव भी अध्यास में सामग्री है।



## परतत्त्वं-विज्ञानम्

**सुखावहम्, यं विना संसारदुखान्नतरेज्जीवः। यत्राहं ब्रह्मेति शुद्धधीः द्वितीयं स्मरणं न। तन्माता मम भक्तिः। ज्ञानवैराग्यजननी मुक्तिदासी विराजते।** (शिव पु.स.सती. २३)

परतत्त्व नित्य है, कारणरूप है, सत्य है, त्रिकालाबाध्य है। वह परतत्त्व ब्रह्मविज्ञान मात्र है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यमिमं विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' यह वरुण ऋषि के पुत्र भृगु के अपने पिता से उपदेश का आग्रह करने पर उन्हें वरुण उपदेश किये हैं। आगे वे कहते हैं। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' पुनश्च 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' वह ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और आनन्द स्वरूप है। अतः परतत्त्व विशेष जो ज्ञान (ब्रह्मविज्ञान) को कहा है। वह सुखावहः = सुख (आनन्द) स्वरूप है। जिसके आनन्दरूप विज्ञान के विना इस संसाररूपदुःख से जीव की निवृत्ति नहीं होती है। वह आनन्द किस रूप का है? प्रश्न होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म ही हूँ। अर्थात् ब्रह्म अस्मितामात्र विज्ञान जो आनन्द स्वरूप है, दूसरा कोई नहीं। अत एव जब ब्रह्म विज्ञान का अस्मिता मात्र निमित्तिक बोध मात्र रह जाय और अन्य दूसरी कोई भी वृत्ति न रहे, ऐसी जो शुद्धधीः=विशुद्ध विज्ञानमात्र, उस विज्ञान की माता का नाम मम भक्ति है।

• • ❁ • •

**भक्तौ ज्ञाने न भेदोऽस्ति, तत्कर्तुः सर्वदा सुखम्।**
**विज्ञानन्न भवत्येव, सतिभक्ति विरोधिनः।।**

भक्ति और ज्ञान में भेद नहीं है। भक्ति करने वाले सुख को प्राप्त करते हैं। भक्ति हृदय में उत्पन्न हो जाने पर उसकी विरोधिनी वृत्तियाँ (काम-क्रोध-मोह लोभ-मात्सर्य-पैशुन्यता आदि) की स्थिति का विज्ञान नष्ट हो जाता है। अथवा 'अस्ति' (ब्रह्मसत्ता) विरोधिनी जो वृत्तियाँ 'नास्ति' रूप से (प्रत्येक में उत्पन्न होनेवाली) विज्ञान का अभाव हो जाता है। अस्तित्वभाव से प्रत्येक में ब्रह्म भाव का अनुभव के विरुद्ध विज्ञान (नास्ति) मिट जाता है।

• • ❁ • •

**असङ्गव्यवहारत्वात्, भवभावनवर्जनात्।**
**शरीरनाशदर्शित्वात्, वासना न प्रवर्तते।।**

आत्मा के असंग व्यवहार से, संसार की सत्ता के अभाव ज्ञान से, शरीर के नाशवान् होने के विनिश्चय से वासना का उदय अन्तःकरण में नहीं होता है।

• • ❁ • •

**वासनापरित्यागात्, चित्तं गच्छत्यचित्तताम्।**
**परब्रह्माहमस्मीति, स्मरणस्य मनो नहि।।** (तेजोवि. उ. ५/३०)

वासना के मूलोच्छेद हो जाने पर तथा चित्त (अन्तःकरण) के विलय हो जाने पर 'मैं ब्रह्म ही हूँ' दूसरा कुछ भी नहीं, इस प्रकार का अखण्डबोध का उदय हो जाने पर मन (चित्त) का विलय (नाश) हो जाता है।

• • ❁ • •

सर्वत्र वर्तते जाग्रत्, स्वप्ने जाग्रति वर्तते।
सुषुप्तं चतुरीयं च, नान्यवस्थासु कुत्रचित्।। (त्रिशिख ब्रा. ३०-१०)

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (इन्द्रिय और उसके अर्थ (विषय का सम्बन्ध) जब तक ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय रूप से व्यवहृत होते रहे, तब तक उसे जाग्रत अवस्था समझनी चाहिये और वह जाग्रत अवस्था स्वप्नावस्था (सुषुप्ति के पूर्व और जाग्रत के बाद मध्यकाल) में भी इन्द्रियों में क्रिया (व्यापार) होने के कारण वह जाग्रतवत धर्मी होता है और हम स्वप्न में अपने उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट (हेय-उपादेय) विषय को ग्रहण कर सुखी-दुःखी होते हैं, यह सर्वजनीन प्रत्यय का विषय है। परन्तु सुषुप्ति और तुरीयावस्था में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप अन्तःकरण का व्यापार नहीं होता। गाढ़ी निन्द्रा से जगे हुए लोग 'सुखमहमवाप्सं किञ्चिदपि नावेदिषम्' मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं समझ पाया कि कब मैं सोया और कब जग गया। सोने और जगने के मध्यकाल (सुषुप्ति) के अन्तःकरण के व्यापाशून्यता को स्मरण करता है। अर्थात् क्रिया शून्यता के अनुभव का स्मरण करता है। अतः यह जाग्रत अवस्था नहीं है। तुरीयावस्था इससे भी उत्तमावस्था है जिसमें सकल बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा अस्मिता मात्र बोध रह जाता है।

• •  • •

(क) कर्मणा वर्तते कर्मी, तत्त्यागाच्छान्तिमाप्नुयात्।।१५।।
(ख) अहङ्काराभिमानेन, जीवः स्याद्धिसदाशिवः।
स चाविवेकसङ्गात्मा प्रकृतेस्तत्र मुह्यते।।१६।।
(ग) शिखाज्ञानमयी वृत्तिः यमाद्यष्टाङ्ग साधनैः।।२३।।
(घ) देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यमः।
(ङ) अनुरक्तिः परतत्त्वे नियमः। (त्रि.ब्रा.उ.)
१. जगत् सर्वं मिथ्याप्रतीतिः प्राणायामः।
२. चित्तस्यान्तर्मुखीभावः-प्रत्याहारः।
३. चित्तस्य निश्चयीभावः-धारणा।
४. सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं-ध्यानम्।
५. ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिः। (त्रि.ब्रा.उ.)
लक्ष्यात्मा ललितात्माहं, सत्यात्मा स्वात्ममात्रकः। (तेजो वि.उ. ४/३५)

(क) जब तक जीव का कर्म शेष रहता है, तब तक वह कर्मी (कर्त्ता) रूप से संसारी (जीव) रूप से बना रहता है अर्थात् बद्ध रहता है, क्योंकि सङ्ग से ही बन्ध है। सङ्ग के त्याग हो जाने पर अर्थात् कर्तृत्व के निवृत्त हो जाने पर परम शान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है। सकल द्वन्द्वाभाव (कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप का अभाव) ही मोक्ष का स्वरूप है। कर्तृत्वादिभाव से ही जीव इष्ट-अनिष्टरूप फल का भोक्ता होने के कारण महान् दुःख को प्राप्त होता हुआ संसारी बना रहता है।

(ख) जीवात्मा वस्तुतस्तु पारमार्थिक रूप से परब्रह्म सदाशिवरूप ही है। वह अहंकार के अभिमानी होने पर (मैं शरीर हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं भिखारी हूँ, इत्यादि) ही जीव भाव से बन्ध को प्राप्त होता है। अतः अहंकाराभिमान का त्याग श्रेयस्कर है और इससे भिन्न स्थिति में अज्ञानवश प्रकृति के (अविद्या) के वशीभूत होने पर सभी प्रकार के संसारी दुःख का भाजक बन कर निरन्तर बन्धभाव को प्राप्त होते रहा करता है, क्योंकि "सर्वानर्थमूलाविद्या" सभी अनर्थों (दुःखों) का कारण अविद्या ही है।

(ग) यम आदि जो आठ योग के अंग है, उन आठों अंगों के अभ्यासपूर्वक निर्मल चित्तवृत्ति प्राप्त हो जाने पर क्रमशः मैं आत्मा ही हूँ— इस प्रकार की सभी पूर्ववृत्तियों को बाध कर उत्तम शिखामयी वृत्ति की प्राप्ति होती है।

(घ) देह-इन्द्रिय आदि जितने भी भौतिक अंग हैं, उनमें अनात्मज्ञान हो जाने पर जो परिस्थिति विशेष उसे यम कहा जाता है।

(ङ) परात्पर ब्रह्म तत्त्व में अनुरक्ति को नियम कहते हैं।

(१) यह जगत् वस्तुतस्तु परमार्थरूप से सत्य नहीं है, यह प्रतीति मिथ्या है और यह परमार्थ रूप में अधिष्ठान सत्तात्मक ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म ही मैं हूँ इस तरह निरन्तर चिन्तनाभ्यास विधि ही प्राणायाम है।

(२) बहिर्भूत इन्द्रियों को अभ्यास द्वारा अन्तर्मुखी करना अर्थात् जो इन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं को ग्रहण करने में व्यस्त है- अभ्यस्त आ रहा है, उसे उन बाह्य विषयों से रोक कर उनकी वृत्तियों को अर्न्तमुखी (आत्म वस्तु की ओर) करना प्रत्याहार है।

(३) प्राणायाम-प्रत्याहार द्वारा निरन्तर अभ्यास करते करते अपनी अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति को निश्चल रूप से आत्मवस्तु के सम्मुख कर उसे दृढ़ (निश्चल) करने की स्थितिविशेष को धारणा कहा जाता है।

(४) प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा के क्रमशः परिपक्व होकर पूर्व-पूर्व वृत्ति परित्यागपूर्वक आत्मसम्मुख यह ब्रहा मैं (आत्मा) ही हूँ— इस प्रकार चिन्मात्र का निरन्तर चिन्तन को ध्यान कहते हैं।

(५) चिन्मात्र निरन्तर ध्यानात्मक चित्तवृत्ति (ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय) का विलय हो जाने पर आत्ममात्ररूप में स्थित (ब्रह्ममात्ररूप में हो जाना ही) समाधि है।

साधक का लक्ष्य आत्मा का साक्षात्कार करना होता है, वह आत्मा 'किं रूपः' इस प्रकार यह पूर्व में विजिज्ञास्य होने पर ही लक्ष्य (ध्येय) होता है। वह आत्मा ललिता-स्वरूप-सत्यस्वरूप और स्वात्ममात्र है, ऐसा चिन्तन-मनन द्वारा विनिश्चय कर उसे लक्ष्य बना कर उसी रूप से स्वात्मभाव करना ही मुक्ति-मोक्ष-आत्मलाभ निर्माण आदि पदवाच्य परमपुरुषार्थ ही साधक का लक्ष्य होता है।

• • ❁ • •

(क) इदं प्रपञ्चं नास्त्येव। (३१)

(ख) चित्तं प्रपञ्चमित्याहुः। (३२)

(ग) एष एव मनोनाशः अविद्यानाश एव यः। (महोपनि. ११०)

(घ) इच्छामात्रमविद्येयं, तन्नाशो मोक्ष उच्यते। (महोपनि. ११६)

(ङ) चैत्यानुपातरहितं सामान्येन सर्वगम्।

यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः।। (महोपनि. ११८)

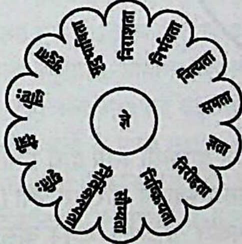
(क) यह जो जगत्रूप से प्रपञ्चाभास रहा है, वह यथा दृष्टरूप से नहीं है। यह यथारूप दृष्ट जगत् प्रपञ्चरूप मिथ्या है। वस्तुतस्तु यह अधिष्ठान सत्ता (पमार्थात्मसत्ता) अतिरिक्त सत्ता नहीं है। यथा प्रवहमान जल में उत्थित तरङ्ग का जो आकार उस अन्यथारूप से भासित आकारता की सत्ता जलसत्ता से (जल के स्वरूप) से भिन्न कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'त्रिकालाबाधितत्वं सत्यत्वम्' भूत-वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में एक रूप से जो प्रतीत हो, उसे सत्य कहते हैं। जल में तरङ्ग का क्षण-क्षण में भङ्ग होना और उत्पन्न होना देखा जाता है, परन्तु जल का स्वरूप ही है, जो एकात्मरूप से तीनों कालों में बना रहता है। ठीक इसी प्रकार जगत् प्रपञ्च भी उत्पन्न और भङ्ग (जनन-मरण) रूप तथा विकाररूप से परिवर्तित होते रहने के कारण एकरस नहीं होने से मिथ्या ही है।

(ख) चित्त ही प्रपञ्च है। चित्त अन्तःकरण को कहते हैं और सकल कामना का मूल होने के कारण निखिल संकल्प चित्त में ही होते हैं और वह वासनाभिभूत होने के कारण (अनन्तपूर्वकृतकर्मजन्यमल से संस्कारित) जगत् रूप से प्रतिभासज्ञान का हेतु है। इसलिए समस्त प्रपञ्च अन्तःकरण (चित्त) में ही अधिष्ठित है। अतः साधक प्रथम चित्त प्रतिबिम्बित जगद्रूप मल को हटा कर विशुद्धान्तःकरणपूर्वक ही लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं।

(ग) अन्तःकरण में स्थित अनादि अविद्या जो जगद्रूप प्रपञ्च का हेतु है, उस अविद्यात्मक अन्तःकरण का नाश ही मन का नाश है, जब तक आविद्यक मन-अन्तःकरण का नाश नहीं होता, तब-तक संसार बना रहता है।

(घ) इच्छा का बारम्बार बना रहना ही संसार का बना रहना है। इच्छा नाश हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब तक इच्छा है, तब तक बन्ध भी है, अतः यावत् इच्छा तावत् बन्ध और यावत् इच्छा नाश तावन्मोक्ष समझना चाहिये।

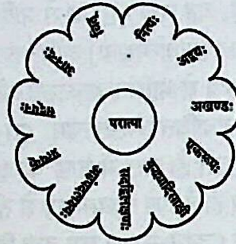
(ङ) अन्तःकरण ही जब चित्तवृत्ति से रहित सर्वसामान्य पदार्थों (वस्तुओं) में व्याप्त होकर चित्त संज्ञा विहीन हो जाता है तो वही परमेश्वर संज्ञक है।




**हेयोपादेयरहिते तिष्ठत्यपवासनम्।।**

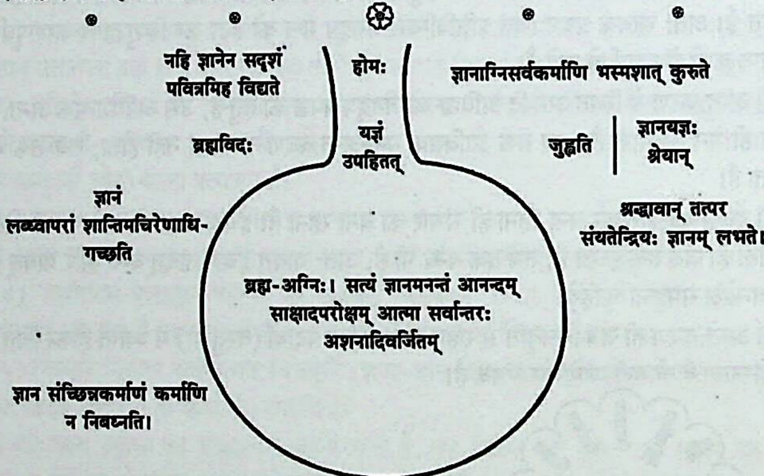
(महोपनि. ४/२९-३०)

ज्ञानी अथवा साधक को हेय=त्याज्य, उपादेय=ग्राह्य क्या है? और उससे लाभ और हानि को दिग्दर्शित करने के लिए यहाँ प्रतीक (चित्र) द्वारा सरलतापूर्वक समझाने का उत्तम प्रयास किया गया है। ज्ञानार्थी साधक उक्त प्रतीक चित्र का अवलम्बन कर आत्मधर्म क्या है, इसका चिन्तन करे। साधक के लिए निराशता से मृदुभाषिता तक १४ स्वभावालम्बन साधना-आत्मलाभ-लक्ष्यप्राप्ति में सहायक होते हैं। अतः उक्त का आलम्बन उचित है। शेष हेय है।




विवेक चू. म. ३५१

उपर्युक्त चित्र में परात्मा के विशुद्ध लक्षण दिग्दर्शित करने का उत्तम प्रयास किया गया है। अहं पद वाच्य प्रतीति लक्षित अन्तरतम परात्मा तो नित्यादि चिदन्त चित्स्वरूपान्त (चित्र में दर्शित नित्यः से चित् तक) लक्षणवाला ही है। शेष जो अन्य ज्ञान है, वह हेय (मिथ्यारूप) ही है। अतः आत्मस्वरूप का चिन्तन उक्त रूप में ही करना और समझना चाहिये।




ज्ञानासिना संशयं छित्वा योगमातिष्ठ। (गी. ४)

ज्ञान के समान इस जगत् में पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है; क्योंकि ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा सभी कर्मों की आहुति देकर अकर्त्ता-अभोक्ता रूप सत्य-ज्ञान-अनन्त-निरञ्जन स्वरूप स्वात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) का अभेद ज्ञान रूप अदृष्ट की प्राप्ति हो जाती है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही (स्वयं) हो जाता है और शीघ्र परमशान्ति को प्राप्त करता है। ज्ञानरूपी तलवार से कर्म रूपी वृक्ष को छेदन कर सभी बन्धों से मुक्त हो जाता है और वह ज्ञान श्रद्धा और इन्द्रियों के संयमन करने से प्राप्त होता है।

समाधिस्थ योगी के समस्त मल नष्ट हो जाते और वह विशुद्धात्मा (पवित्रात्मा) हो जाता है तथा उन्हें सभी भूतों में स्वात्मा में सभी भूतों का दर्शन होने लगता है। अतः वह कर्म करता हुआ भी उस कर्म के भोग में लिप्त नहीं होता है।

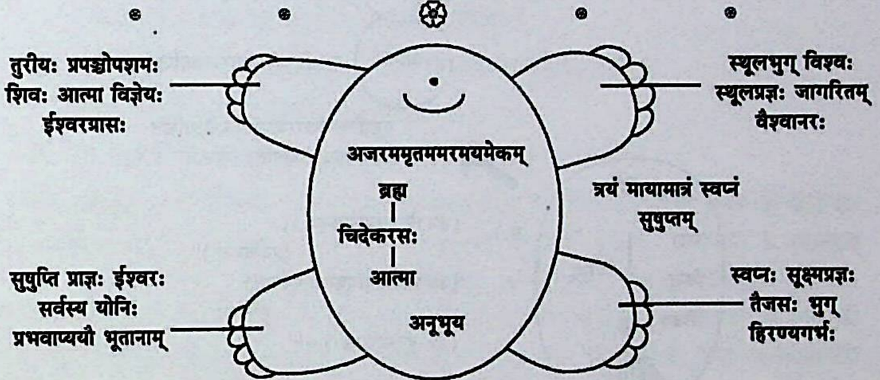
**सतनिरञ्जनः। चित्-मौनम्।**

**आनन्दम्-गूढम्-द्विधा-१. साधनजन्यम्। २. स्वयं सिद्धम्।**

लीलाकैवल्यम् { उत्पत्तिः स्थितिः संहृतिः } आनन्दम्

समस्त पाप रहित-स्वच्छ-निर्मल। सकल क्रिया रहित-निच्छल-निर्द्वन्द। यह आत्मा का लक्षण है और चित्त का मौन भाव से प्राप्तव्य है।

आनन्द स्वानुभूतमात्र होने के कारण गूढ़ है। वह दो प्रकार का है, साधनजन्य और स्वयं सिद्ध। साधनजन्य लौकिक और स्वयं सिद्ध आध्यात्मिक आनन्द होता है।



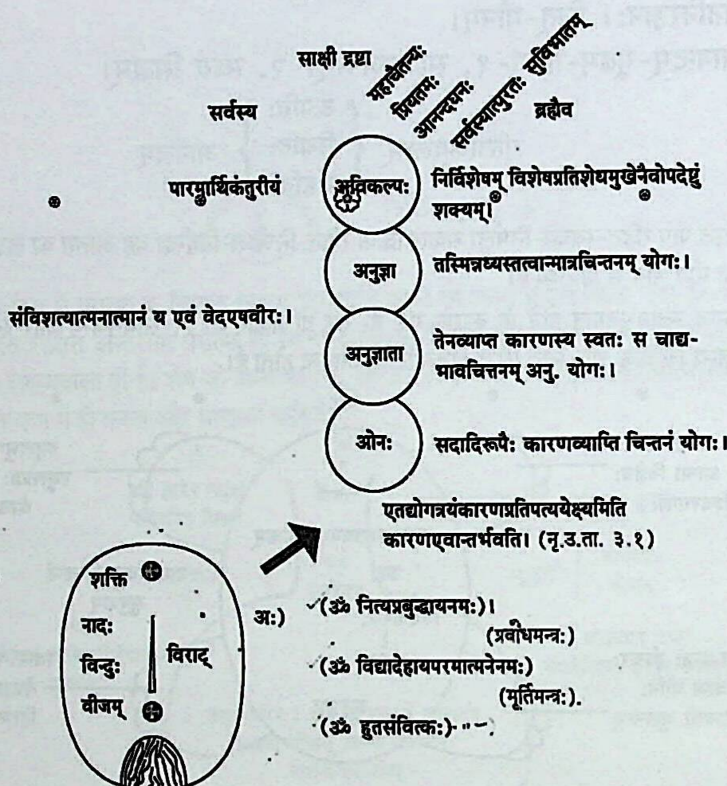

ब्रह्म के चार पाद हैं- ईश्वर, वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और विराट्। प्रथम ईश्वर तुरीय, प्रपञ्चोपशम, शिव और आत्मा रूप से विज्ञेय (विशेष रूप से जानने योग्य) हैं और वे ग्रास हैं। द्वितीय स्थूल वस्तु को विषय करने वाला स्थूलप्रज्ञ-जागरित अवस्था वैश्वानररूप हैं। ये दोनों उर्ध्वपाद प्रथम ईश्वर वाम और दक्षिण वैश्वानर हुए। अब अधःपाद को कहा जा रहा है। विराट् अधः वामपाद, सुषुप्ति अवस्था, प्राज्ञ, ईश्वर, सर्वस्य योनि भूतों के प्रभव स्वरूप है। अधः दक्षिणपाद-स्वप्नावस्था सूक्ष्मप्रज्ञ, तैजसभुक् हिरण्यगर्भ हैं। ये सभी कार्यब्रह्म के स्वरूप हैं और उनके ये तटस्थलक्षण कहे गये हैं। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण तो अजर-अमर सदैकचिद्रस-आत्मस्वरूप-अनुभवमात्र गम्य है। इसी को चित्र द्वारा समझाया गया है।

साधकों को यौगिक स्थिति की प्रकृति चार प्रकार की होती है- १. ओनः, २. अनुज्ञाता, ३. अनुज्ञा और ४. अविकल्पक।

**१. ओनः-** सदादिरूप से कारणव्याप्ति मात्र का चिन्तनरूप योग को ओन कहते हैं।

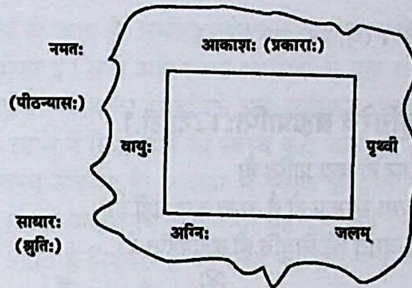
**२. अनुज्ञाताः-**व्याप्तकारण का स्वतःरूप से जो वह आद्यभाव चिन्तनरूप योग है, वह अनुज्ञाता है।

**३. अनुज्ञा-** जिसमें अधकत तावमात्र का चिन्तनरूप योग होता है, उसे अनुज्ञा कहते हैं।




**४. अविकल्प-** यह निर्विशेष-सविशेष प्रतिषेध मुख से शक्य उपदेशरूप तस्थभाव योग है। यह सर्वसाक्षी-महाचैतन्य-प्रियतम (प्रियों में सबसे उत्तम-उत्कृष्ट प्रेमास्पद) ब्रह्म संवित्ति आत्मना आत्मा को जो जानता है, वही वस्तुतस्तु वीर-धीर पुरुष है। अविकल्पक योग (तस्थभाव भिन्न) भिन्न जो तीन योग हैं, वे भी तीनों सुखस्वरूपमायामात्र हैं और ये तीनों के कारण के लय हो जाने पर जो सभी के कारण स्वरूप (उपादान) आत्मा (ब्रह्म) ही शेष रूप ज्ञेय है। यही चित्र द्वारा उपयुक्तरूप से दर्शाया गया है।

यहाँ 'अः' प्रबोधमन्त्र है, जिसका ॐ नित्यप्रबुद्धाय नमः' रूप से जप-ध्यान-चिन्तन-मनन करना चाहिये। वह प्रबुद्ध विराट्रूप ब्रह्म है तथा वह विद्यादेहवाला आत्मरूप है, इसका मूर्ति में जप-ध्यान-पूजन-चिन्तन-मनन (ॐ विद्यादेहाय पत्मात्मने नमः रूप से) करना चाहिये। 'हुत संवित्कः विद्यादेहपरमात्मने नमः' यह भी मूर्ति मन्त्र है। इसका जप करने से आविद्यकग्रन्थि का मोचन होता है। चित्र में मूलप्रकृति से बीजशक्ति और बीजशक्ति से बिन्दु, बिन्दु से नाद, नाद से शक्ति (ब्रह्म) लभ्य है दर्शाया गया है।




**(क) ॐ शान्त्यातीतकलात्मने साक्षिणे नमः।**

**(ख) ॐ शान्तिकलाशक्तिपरावागात्मने सामान्यदेहाय नमः।**

**(अन्तर्मुखसदात्मकब्रह्मज्ञानरूपसामान्यदेहः)**

**(ग) ॐ विद्याकलानादपश्यन्ती वागात्मने कारणदेहाय नमः।**

**(सुषुप्तिप्रलयक्षणावस्थः कारणदेहः)**

**(घ) ॐ प्रतिष्ठाकलाबिन्दुमध्यमावागात्मने सूक्ष्मदेहाय नमः।**

उपर्युक्त चित्र द्वारा चौरासी कोटि प्राणि जाति स्वरूप ब्रह्म का वास्तविक तात्त्विक रहस्य को बता कर उसकी उपासना का उपदेश किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति श्रुतिप्रमाणानुसार "एतस्मात् वै एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्नि, अग्नेरद्भ्यः, अद्भ्य पृथिवी, पृथिव्याः औषधयः, औषधिभ्यो इमानि भूतानि जायन्ते" उत्पति (ब्रह्म) से माना गया है। इस तरह प्रत्येक तत्त्व की दृष्टि से पाँच पीठ की कल्पना कर तदधिष्ठित ब्रह्म की उपासना यहाँ विवक्षित है। यथा- आकाशपीठ आकाशाधिष्ठित ब्रह्म, वायुपीठ (वायु अधिष्ठित) ब्रह्म, अग्निपीठ अग्नि अधिष्ठित ब्रह्म जलपीठ जलाधिष्ठित ब्रह्म, पृथिवीपीठ=पृथिवी अधिष्ठित ब्रह्म इत्यादि। प्रत्येक तत्त्वपीठ की सृष्टि भी अलग-अलग परिकल्पित कर यथा- आकाशीय सृष्टि, वायवीय सृष्टि, अग्निसृष्टि, जलीय सृष्टि और पार्थिवसृष्टि जो हमलोगों की है, चौरासी कोटिप्राणिजातीय सृष्टि की प्रत्येक पीठ (आधार) में उपासना उनके केश-रोमादिरूप वन में तद्रूप से लयरूप में ही करनी चाहिये। उसके प्रकार के दिग्दर्शन के लिये नीचे दिये गये श्लोक का अर्थ द्रष्टव्य और मननीय है-

(क) शान्ति से अतीत कला स्वरूप साक्षी के लिये नमस्कार है।

(ख) शान्ति की कला रूपशक्ति-परावाणी स्वरूप सामान्य देह को नमस्कार है। (यहाँ सुषुप्ति और प्रलयकालीनक्षण में अवस्थित कारणदेह विवक्षित है।)

(ग) विद्या की कला नाद और पश्यन्ती वाणीस्वरूपकारण देह को नमस्कार है। (यहाँ सुषुप्ति और प्रलयकालीनक्षण में अवस्थित कारणदेह विवक्षित है।)

(घ) प्रतिष्ठा की कला बिन्दु मध्यमा वाणीस्वरूप सूक्ष्मदेह को नमस्कार है। इसी भावना से प्रत्येक देहगत प्रकृति-पुरुषात्मक ब्रह्म की उपासना करने को निर्दिष्ट किया गया है।

**'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।** (नृ.उ.ता.ता. ३/५)

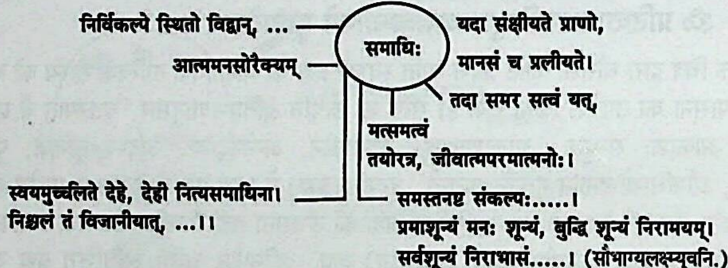
**इदं सर्वं यदयमात्मा।**

**अज्ञानकृताब्रह्मत्वनिवृत्तिरेव ब्रह्मप्राप्तिः।** (दी.टी.)

ब्रह्मस्वरूप से स्थित होने पर ही ब्रह्म प्राप्ति है।
जगत् के समस्त दृश्य आत्मा स्वरूप ही है अन्य कुछ नहीं है।
अज्ञान के कारण ब्रह्मभिन्न जगत् की निवृत्ति ही ब्रह्मप्राप्ति है।



**यावद्यावन्मुनिश्रेष्ठ, स्वयं सन्त्यज्यतेऽखिलम्।**
**तावत् तावत्परालोकः परमैवावशिष्यते।।४४।।**
**यावत् सर्वन्न सन्त्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते।।** (अन्नपू.उ. १/४५)
**सर्ववस्तुपरित्यागो शेष आत्मेति कथ्यते।**




हे मुनिश्रेष्ठ यावत्पर्यन्त संसारिक वस्तुओं में सम्बन्ध अधिककल्पितनिष्ठा का परित्याग नहीं हो जाता या किया नहीं जाता (मैं-हम-तू-तुम-मेरा-तेरा आदि अनन्त सम्बन्ध का उच्छेद नहीं हो जाता) और जब तक ज्ञानदीप के प्रकाश से तत्तत् सम्बन्धों में अधिष्ठित अज्ञान नष्ट होकर सर्वत्र ज्ञानालोक से ब्रह्ममय दिखाई नहीं देता (ब्रह्ममात्र की अनुभूति नहीं होती) स्वात्मा ही सर्ववस्तु में अनुभूत नहीं होने लगता तथा इसी प्रकार सर्वभाव से समस्त संसार में परिकल्पित अज्ञान का त्याग नहीं कर दिया जाता, तब-तक आत्मा का लाभ-प्राप्ति-मोक्ष प्राप्ति-ब्रह्मज्ञान-जीवात्मैकतारूप निर्वाण प्राप्त नहीं होता। अन्त:करण में भवन की कोठरियों से एक-एक कर प्रत्येक वस्तु को निकाल देने पर भी शेष आकाश (अवकाश) को नहीं निकाल पाते उसी प्रकार अन्त:करण से सर्वत्याग के बाद भी जिसे नहीं निकाल पाते वही आत्मा है।

जब तक प्राणों का संचलन होता (व्यवहार होता) है, तब तक संसार है, जब तक मन का संचलन होता है, संसार रहता है, तब तक जीवात्मा और परमात्मा का भेद उपस्थित रहता है। जब तक अहं (मैं) मम (मेरा) आदि का व्यवहार है, तब तक साधक जीवभाव में ही स्थिर होता है। लेकिन जब अहं-मम (मैं-मेरा) भाव का त्याग हो जाता है और सकल संकल्प से विवर्जित निर्विकल्पभाव में स्थिति हो जाती है तभी जीव और आत्मा का ऐक्य हो जाता, मन-चित्त अहंकार का विलय हो जाता है और पूर्व के जीवात्म

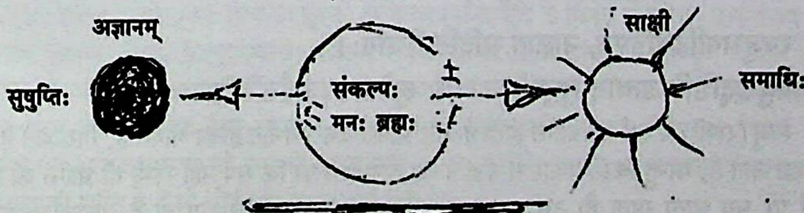
परमात्म भेद (असमत्व) खत्म हो जाता है। समस्त संकल्प के नष्ट हो जाने से प्रमाशून्य (जगत् ज्ञान शून्य) मन शून्य-बुद्धिशून्य होकर इन सभी अज्ञानजन्य व्याधियों से मुक्त हो स्वस्थ हो सर्वशून्यता की स्थितिविशेष को प्राप्त हो जाता है। स्वस्थ का वास्तविक अर्थ-स्वस्मिन् आत्मनि स्थित: स्वस्थ:=स्व का अर्थ आत्मा का होता है, उस आत्म में स्थित होने को स्वस्थ कहा जाता है। मैं आत्मा हूँ देह नहीं, यही दृढ़ज्ञान की नैरन्तर्यानुभूति स्वस्थ अवस्था है। व्यवहार में स्वस्थ शब्द से गृहीत अर्थ सर्वथा मिथ्या-भ्रान्ति-अज्ञान मात्र है। स्वस्थ साधक आत्मलाभ के अनन्तर यह देह स्वयं चलता है, कर्ता है, भोक्ता है, मैं नहीं। आत्मा सभी धर्मों से रहित है निश्चल है आदिरूप से स्थिर भाव को प्राप्त समाधिस्थ ही को साधक जानना चाहिये, जो उक्तभाव को प्राप्त है।

● ● ✿ ● ●

**अज्ञाने बुद्धिविलये निद्रा सा भण्यते बुधैः।**
**विलीनाज्ञानतत्कार्ये, मयि निद्रा कथं भवेत्।।**
**बुद्धे पूर्णविकासोऽयं, जागरः परिकीर्तितः।**
**विकारादिविहीनत्वाज्जागरो मे न विद्यते।।**
**सूक्ष्मनाडीषु सञ्चारो, बुद्धेः स्वप्नः प्रजायते।**
**सञ्चारधर्मरहिते, मयि स्वप्नो न विद्यते।।** (वाराहोपनि.)

आत्मावबोधप्राप्त साधकं की स्थिति का वर्णन या सिद्ध साधक का पारमार्थिक अवबोध का वर्णन यहाँ दिया गया है-अज्ञान में बुद्धि का लय होने पर उसे विद्वान् लोग निद्रा कहते हैं। अज्ञान और उसके कार्य (संसार) के निवर्तक ज्ञान (निद्रा) द्वारा कर दिये जाने या हो जाने पर मुझ संसारस्थ को निद्रा कैसे हो सकती? कभी नहीं हो सकती? बुद्धि के विकसित हो जाने पर जागरण की स्थिति होती है और जाग्रत को आत्मस्वरूप से उद्‌बुद्ध हो जाने पर साधक के सारे विकार विषय-विषयी सम्बन्धभाव के नष्ट हो जाने पर जागरण अवस्था भी विलीन हो जाती है। अत: वह भी मुझ में नहीं रह गया। सूक्ष्म नाड़ियों में संचरण को प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप बुद्धि की स्वप्नावस्था हो गयी। अर्थात् बाह्य वस्तुओं का विषयकरण जाता रहा और अब नाड़ी में होता हुआ संचार कर्म भी लय को प्राप्त कर चुका। अंत: संचाररहित मुझमें स्वप्न की स्थिति (आभ्यन्तर विषय-विषयीभाव) भी नहीं रह गया। अब तो केवलभाव (अस्मितामात्र ज्ञान) मात्र शेष रह जाने के कारण मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव शुद्ध चैतन्य मात्र रूप से स्थित हूँ।

● ● ✿ ● ●



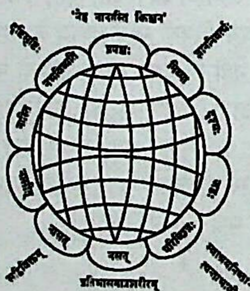
मन प्रपञ्ची है। वह अनन्त संकल्पों के द्वारा जीव को अनन्त प्रपञ्च (संसार) में बाँध कर वशीभूत कर लेता है, जिसके कारण जीवात्मा कर्ता और भोक्ता रूप को यथार्थ समझ कर अनन्त काल तक जन्म-मरणरूप चक्र में भ्रमण करता रहता है। इस मन के द्वारा प्रपञ्च सृजन का हेतु अज्ञान (स्वस्वरूप का बोधाभाव) है। वह अज्ञान अन्धकाररूप है और अन्धेरे में जीव को दिखाई नहीं देता है और विना सोचे समझे व्यवहार (कर्म) किये जाता चला जाता है। जिसका दुष्परिणाम भयानक संसार जाल में बारम्बार फँसते रहकर अनन्त क्लेश का भागी बन जाता है। इससे मुक्त होने के लिए गुरुप्रसादरूप उपनिषद् विद्या (ब्रह्मविद्या) की उपासना (अहं ब्रह्मास्मि-तत्त्वमसि-नेह नानास्ति किञ्चन) के द्वारा सर्वसाक्षी रूप ब्रह्मात्म्यैक्यचैतन्य बोध रूप समाधिस्थ अस्मितामात्रज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जिससे विषम तरङ्ग तरंगायित उर्मि बाहुल्य क्लेश निदान सम्भव होता है। (मण्डलं बा.उ.)

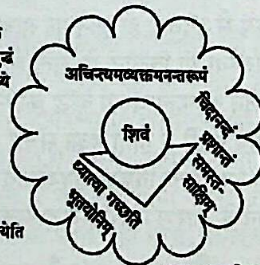
❀

**स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः - स्वरूपं सर्वसाक्षिणम्।**
**क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति, नेतरे माययावृताः।।** (रुद्रहृदयोपनि.)

जीव के स्वयं के शरीर में स्वयं प्रकाशरूप आत्मा है, जो अपने सहित सम्पूर्ण जगत् का साक्षी है। परन्तु उसे वह नहीं देख पाता है, क्योंकि उसके मन (अन्तःकरण) में कर्ता-भोक्ता रूप जीवभाव बैठा है, जो काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह उत्पन्न कर प्रतिबन्धक (मलरूप दोष) दोष को उपस्थित करते रहता है। उसे तो सद्गुरु के कृपा मात्र कोई भाग्यशाली उपासक के वाक्य को श्रवण कर उससे-मनन-निदिध्यासनादि गुणोपेत हो शुद्धान्तःकरण सम्पन्न होने पर सभी दोषों को क्षय कर देता है, वही देखता है। दूसरे माया से आवृत जीव (अज्ञानी) नहीं देख पाता।

❀






**रज्जुसर्पादिवद्विश्वं, नाज्ञातं सदिति स्थितिः।**
**प्रबुद्धदृष्टिसिद्धत्वात् सुषुप्तौ च लयः श्रुतेः।।** (अद्वैतसिद्धिः- १)

रज्जु (रस्सी) में सर्प की भ्रान्ति होती है और भ्रमित जन भयभीत होकर भागते हैं, गिर जाते हैं, चोट भी खा जाते हैं, परन्तु किसी प्रकार से बाद में यह बोध होने पर कि सर्प नहीं रस्सी थी भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर भय जाता रहता है। उसी प्रकार यह विश्व (जगत्) असत् रूप तो है, परन्तु भयकारी है।

दुःखदायी है। इसीलिए इसकी निवृत्ति आवश्यक है। असत् संसार सत् रूप से प्रतीति इसलिए और तब तक है, जब तक तात्त्विक बोध नहीं हो जाता और संसार का मिथ्यात्व का यथार्थभाव का ज्ञान नहीं हो जाता है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह नाना (अनेक) संसार मिथ्या और सर्वत्र ब्रह्म के शिवा कुछ भी सत्य नहीं है। जैसे रस्सी में सर्प देखा गया था। सर्प न पहले था, न अब है। पूर्व में भी रज्जु ही थी और अब भी रज्जु ही है। इस तरह सत् रूप की जो सर्वत्र स्थिति है, उसका बोध ही संसारजन्य दुःखादि निवृत्ति में सक्षम है। इसी तरह सुषुप्ति काल में सभी संसार का लय हो जाने पर मात्र अहं पदवाच्य आत्मा का ही मांत्र बोध रहता है। वैसे ही अज्ञान निवृत्ति होने पर मात्र आत्मा ही शेष रह जाता है।

जब जीव स्वप्नावस्था में होता है, तो वासना से अभिभूत होकर शत्रु-मित्र की कल्पना करके सुख-दुःख को भोगने वाला होता है। वही जीव जब सुषुप्ति काल में स्थित होता है तो सकल इन्द्रियाँ अपने करण में विलीन होने के कारण अज्ञानाभिभूत सुखस्वरूप उस परमात्मा स्वरूप स्वात्मा मात्र का अनुभव कर लेता है। यथा- 'सुखमहमवाप्सम्, किञ्चिदपि नावेदिषदम्' मैंने सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना यह जागरण होने पर सुषुप्तिकालिक स्वानुभव को व्यक्त करता है। यही स्वानुभव मात्र सुखानुभूति का हेतु है।



**त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।**
**तेभ्यो विलक्षणः साक्षी त्रिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।** (कै.उ. १/१८)

जगत् पिता ब्रह्मा ने आश्वलायन महर्षि को कहा- हे आश्वलायन! श्रद्धा-भक्ति-ध्यान योग के द्वारा उस विशुद्ध स्वात्मारूप ब्रह्म को जानो।

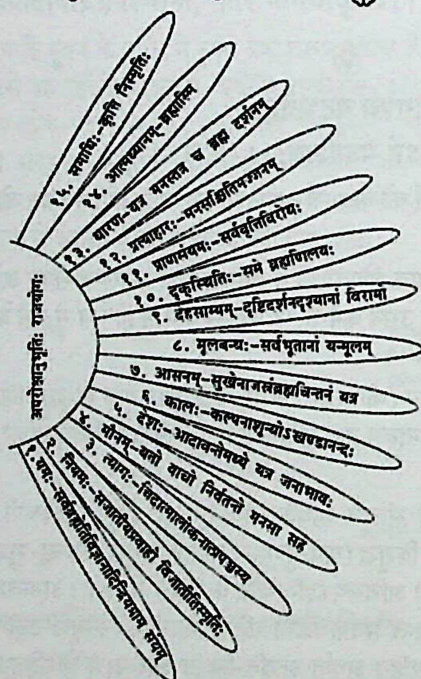
ब्रह्मा ने कहा— हे आश्वलायन! कई एक महात्माओं ने त्यागमात्र का अवलम्ब लेकर अमृतत्वरूप परम पुरुषार्थरूप मोक्ष को प्राप्त किया है। न उसने कर्म से, न प्रजा से और न ही धन से उसे प्राप्त किया जा सकता है।

ब्रह्मा ने कहा—हे आश्वलायन!यतिजन (योगीलोग) श्रद्धा-भक्ति-ध्यानयोग के द्वारा जिस विशुद्ध ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे सर्वोत्तम आनन्दरूप ब्रह्म बुद्धिरूपी गुहा (गुफा) में स्थित रहकर प्रकाशित होते हैं।

उस परब्रह्म परमात्मा की उपासना में संलग्न साधक योगीजन को अपने हृदयरूपी पुण्डरीक (कमल) में उस विरज (रागादि धर्म रहित), विशुद्ध (पाप-पुण्य से रहित) विशुद्ध (स्वच्छ-शुद्ध-निर्मल) विशोक (सकल शोकशून्य) अव्यक्त (सूक्ष्म) अचिन्त्य (इन्द्रियादि के विषय से रहित) अनन्तरूप (सर्वत्र व्यापक स्वरूप) शिव (कल्याणकारी) प्रशान्त सर्वथा क्रिया रहित। ब्रह्मयोनि (सम्पूर्ण उत्पत्ति के मूल स्थान) जो अद्भुत विलक्षण आदि मध्यान्तरहित अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति और मरण से रहित तथा देश-काल-वस्तु परिच्छेदरहित विभु (व्यापक) उस अमृत (अविनाशी) स्वरूप चिदानन्द (स्वयं प्रकाश स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप) को उमा की सहायता से जानना चाहिये। अर्थात् आत्म साक्षात् करना चाहिये। इस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये कोई और सुगम मार्ग नहीं है।

वह आत्मरूप ब्रह्म ही विष्णु सभी प्राणियों के प्राण, वही काल, वही अग्नि, वही चन्द्रमा और जो अभी तक उद्भुत हुए हैं और जो उद्भुत होने वाले हैं सब वही सनातन ब्रह्म ही हैं, इस प्रकार जानना-मनन करना चाहिये और उस ब्रह्म को उस रूप में ही जानकर अमृतत्वरूप परमपुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है तथा जनन-मरण रूप मिथ्या बन्ध से छुटकारा पाया जा सकता है। इससे पृथक् कोई अन्य मार्ग सुगम और श्रेयस्कर नहीं है।

तीनों धामों (लोकों) में अथवा तीनों अवस्था रूप (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) धामों में जो भी भोग के साधनरूप (चिदाभास) वस्तुएँ हैं तथा जो भी भोक्ता (भोगने वाला-विषयी) हैं एवं जो भी भोग सुख-दुःख प्राप्ति कराने वाला सांसारिक (व्यावहारिक) अनुभव हैं और जो और हो सकता है। उन सभी से सदा विलक्षण (विचित्र परन्तु भिन्न) जो अहं का आस्पदरूप (अस्मिता) चिन्मात्र सदाशिवरूप आत्मा है। वह आत्मा उन सभी (उपर्युक्त) से विलक्षण साक्षीरूप अस्मितामात्र-चिन्मात्र और सदानन्दमय कल्याण स्वरूप (शिवस्वरूप) है।



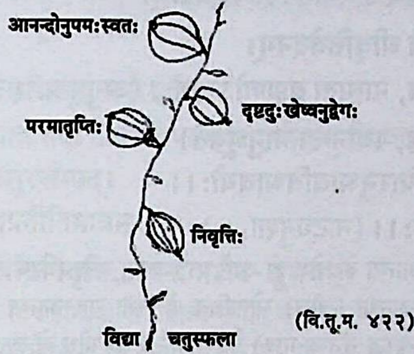

१. यम- (जगत् में) सब ब्रह्म ही है इस ज्ञान के आलम्बन द्वारा इन्द्रिय समूह को नियन्त्रित करना।

२. नियम- सजातीय ज्ञान (आत्मा) प्रवाह का होना और विजातीय (शरीरादि प्राकृतिक) की विस्मृति।

३. त्याग- प्रपञ्च का चिदात्म रूप से अवलोकन।

४. मौन- जिस आत्मा को जानने के लिए वाणी की पहुँच नहीं है और वह मन के साथ स्वयं असमर्थ होकर लौट जाता है, इस विचार का सातत्य मनन।

५. देश- आदि-अन्त और मध्य तीनों में जहाँ जनाभाव हो।




(वि.तू.म. ४२२)

वैराग्य का फल बोध, बोध का फल उपरति, उपरति का फल आत्मानन्दानुभव से चित्त की शान्ति है, विषयों से निवृत्त हो जाना ही परमतृप्ति है और वही साक्षात् अनुपम आनन्द है। प्रारब्धवश प्राप्त दुःखों से विचलित न होना ही आत्मज्ञान का सबसे पहला फल है। भ्रान्ति कालिक कृत निन्दनीय कर्म ज्ञान हो जाने पर पुनः कैसे रह सकता अर्थात् कभी भी नहीं रह सकता। इस तरह विद्या (उपनिषद् बोध) चतुस्फला (चारों प्रकार के) फल को धारण करने वाली है।

* * ❁ * *



अलिङ्गमेकमव्यक्तं, लिङ्ग ब्रह्मेति निश्चितम्।
स्वयं ज्योतिः परं तत्त्वं, परेव्योम्नि व्यवस्थितम्।।
अव्यक्तं यत्तद्, अक्षरं परमं पदम्।
निर्गुणं शुद्धविज्ञानम्, तस्य वै पश्यन्ति सूरयः।।
तन्निष्ठाः शान्तसङ्कल्पाः, नित्यं तद् भावभाविताः।
पश्यति तत्परं ब्रह्म, यत्तल्लिङ्गमिति श्रुतिः।।,

(कूर्मपुराणम् उपरिमा ई.गी. १० अ.)

अव्यक्तं लिङ्गमित्याहुः आनन्दं ज्योतिरक्षरम्।
वेदा महेश्वरं देवामाहुर्लिङ्गिनमव्ययम्।।

(कूर्मपुराणम् अ. २५/६६)

जो लिङ्ग रहित, अद्वितीय, अव्यक्त हो, उसे ब्रह्मलिङ्ग कहा जाता है। स्वयं ज्योतिः स्वरूप, परम तत्त्व, महाकाश के समान व्यापक और जो अव्यक्त तथा अक्षर स्वरूप परमस्थान है, निर्गुणस्वरूप शुद्ध परम विज्ञानमय है, ऐसे ब्रह्म का चिन्तन योगीजन किया करते हैं। तन्निष्ठ, सकलसंकल्पशून्य, निरन्तर ब्रह्मभाव में स्थित होकर जो परं ब्रह्म को नित्य चिन्तन करता है, उसे लिङ्ग कहते हैं, ऐसा श्रुति का मत है।

अव्यक्त को लिङ्ग और आनन्द को अक्षर ज्योति कहते हैं और महेश्वरदेव को लिङ्गी कहते हैं, ऐसा वेदों का मत है।



**प्रत्यक्तत्त्वे परिज्ञाते जगत्तत्त्वं प्रबुध्यते।**
**अवेत् सोपाधिरात्मायं आत्मानं निरुपाधिकम्।**
**अविद्यारोपनिह्नुत्यै धीवृत्तिवेदनम्।**
**ब्रह्मतामात्मनोऽन्यत्र, नात्मता ब्रह्मणोऽन्यतः।** (अनुभू.प्र. १३)
**सत्ता चिदेकरूपा हि, स्वानन्दात्मानुभूयते।**
**भावस्यैव महाव्याप्तिरनुभावविभावयोः।।**
**रसश्चिद्भावसंयुक्तः।।** (नाट्यनुशा. ५)

जब प्रत्यक्तत्व एवं (आत्मा के बोध हो जाने पर) जगत् तत्त्व (कार्य तत्त्व के भी मिथ्यात्व) का बोध हो जाता है। और यह आत्मा (जीव) सोपाधिक है तथा यह आत्मा (प्रत्यगात्मा) निरुपाधिक (पारमार्थिक-सकल धर्म रहित-शुद्ध चैतन्य मात्र) है इस अन्तर का बोध हो जाता है तो आरोपित अविद्या के पाखण्ड को धीवृत्ति (विज्ञान के वृत्ति-व्यापार) में जान कर (समझकर-चिन्तन कर) ब्रह्मभाव से भिन्न अनात्मभाव (अविद्या तत्त्व) है तथा आत्मता और ब्रह्मता दोनों एक ही है और इससे भिन्न नहीं है ये अभिन्न हैं, ऐसा विचार कर अनुभव करना चाहिये।

चित्सत्ता मात्र ही अपने में आनन्द की अनुभूति करता है, यह नाट्य (नाटक के विषय) की विशेषता है। वहाँ दर्शक उस-उस भाव महाव्याप्ति के द्वारा उत्पन्न अनुभावविभावं रसरूपचिद्भाव से संयुक्त होते हैं। उस स्थल में जो रसानुभूति होती है, वह चिद्भाव संयुक्त होकर एकात्मता प्राप्त कर जाता है।



**यावन्न वासना नाशः, तावत्तत्त्वागमः कुतः।**
**यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिः, न तावद्वासनाक्षयः।।**
**यावन्न तत्त्वविज्ञानं, तावच्चित्तशमः कुतः।**
**यावन्न चित्तोपशमो, न तावत्तत्त्ववेदनम्।।**
**तत्त्वज्ञानं मनोनाशो, वासनाक्षय एव च।**
**मिथः कारणतां गत्वा, दुःसाध्यानि स्थितानि हि।**
**समकालं चिराभ्यताः जीवनमुक्तिप्रदायिनः।।**

जब तक वासना का नाश (क्षय) नहीं हो जाता, तब तक तत्त्वज्ञान (आत्मबोध) नहीं हो सकता। जब तक तत्त्वज्ञान की उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक वासना का क्षय भी नहीं होता है। जब तक तत्त्व विज्ञान का हृदय में उदय नहीं हो जाता, तब तक चित्त (अनेक विषयों में लिप्त अन्तःकरण) का शमन (नाश) नहीं हो पाता है और जब तक चित्त के धर्म (व्यापार) का उपशम (नाश) नहीं हो जाता, तब तक

तत्त्वज्ञान का उदय कैसे होगा? नहीं होगा। अब अचित् नाश का क्रम बतला रहे हैं-तत्त्वज्ञान के उदय होने पर मन का नाश और वासना का क्षय हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानोदय एवं वासनाक्षय दोनों साथ-साथ कारणता को प्राप्त कर ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार का हेतु बन जाता है; क्योंकि जीवभाव (द्वैतस्थबुद्धि) को अद्वैतस्थ-आत्मस्थ करना दु:साध्य स्थिति के सामना करने जैसा है। बहुत ही कठिन है। जो सद्गुरु के द्वारा उपदिष्ट श्रुतिवाक्यों के मनन और सद्युक्तियों के द्वारा निरन्तर प्रयास से सम्भव हो सकता है।

**निरस्त विषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि।**
**यदा याति उन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्।। (जीवन्मु.वि.वा.क्ष.)**
**तीव्रः आसुरसम्पद्।**
**मृदुः-द्वैतप्रतीतिमात्रम्।**
**वासनाक्षयेण तीव्रबन्धनिवृत्तिः। मनोनाशेन-तूभयम्।**

साधक द्वारा विषयों के साथ इन्द्रियों के सातत्य संगति को त्याग कर और मन को हृदय (आत्मा) में निरोध करके जब उन्मनीभाव को प्राप्त कर लेता है, तब परम पद आत्मब्रह्मैक्य अद्वितीय पद (स्थान) को प्राप्त कर लेता है।

बन्ध के दो प्रकार हैं- १. तीव्रबन्ध और २. मृदुबन्ध। पहला तीव्रबन्ध आसुरी सम्पदा है तथा मृदु बन्ध द्वैतप्रतीति मात्र है। इससे मुक्ति के लिये वासना का क्षय (नाश) आवश्यक है। उपर्युक्त उपाय द्वारा वासना के क्षय हो जाने पर ही तीव्र बन्ध से निवृत्ति हो पाती है और मन के नाश (क्षय) होने पर तीव्र और मृदु दोनों बन्ध का क्षय हो जाता है। यहाँ आसुर सम्पद् से क्रोध-मोह-लोभ आदि अभिप्रेत हैं।

**विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः, स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।**
**तृप्तिप्रहर्षः परमात्मनिष्ठा, यया सदानन्दरसं समृच्छति।। (वि.चू. ११९)**

ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान-शून्यमनन्तं निर्विकल्पकम्।
केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः।।
(वि.चू. २३९)
अहेयमनुपादेयं मनेवाचामगोचरम्।
अप्रेयमनाद्यन्तं ब्रह्मपूर्णमहन्महः।।२४०।।

स्तयज्ञानानन्तानन्द-
रूपं परं धामपीठम्

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वयंज्योतिः। (अतः सिद्धम)
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति।। (वि.चू. २२५)

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययोः।। (२४२)
तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितः।। (२४३)

विशुद्ध सत्त्वगुण के धर्म प्रसन्नता, आत्मानुभव, परमशान्ति, तृप्ति, आत्यन्तिक आनन्द और परमात्मा में स्थिति है, इससे मुमुक्षुजन नित्यानन्दरस को प्राप्त करता है।

वह प्रसिद्ध आत्मा ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान से शून्य सकल विकल्प रहित अनन्त, केवल, अखण्ड, चिन्मात्र परं तत्त्व है, ऐसा आत्मविज्ञानियों (ब्रह्मवेत्ताओं) का मत है। वह आत्मा सत्यस्वरूप,

ज्ञानस्वरूप, अनन्त, विशुद्ध, परंतत्त्व और स्वंयं ज्योतिस्वरूप (स्वयं प्रकाश स्वरूप) ब्रह्म है। वह नित्य, आनन्दैकरस, प्रत्यगभिन्न (प्रत्यक् स्वरूप) तथा निरन्तर उत्कृष्ट स्वरूप वाला है। वह ब्रह्म (आत्मा) त्याग तथा ग्रहण के अयोग्य, मन तथा वाणी का अविषय, अप्रेम आदि अन्त रहित तथा महान् तेजोमय है तथा सत्य, ज्ञान-अनन्त तथा आनन्द एवं परं ज्योति का पीठ है।

लक्षित-लक्ष्यों के अभेद स्वरूप है, वह वाच्य-वाचक रूप अर्थ नहीं है। इन दोनों में विरोध जो दिखता है, वह उपाधिकल्पित के कारण है।

● ● ❁ ● ●

**अयं विधिः परिव्राजकानां, वीराध्वाने वा अनाशके वा अपां प्रवेशे वा अग्नि-प्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। विवर्णवासमुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति।** (जाबालोपनि.)

परिव्राजक धर्म की विधि ये हैं- साधारण गेरुए वस्त्रधारण कर मुण्डी (केश-बाल रहित होकर) होकर वस्तुओं के संग्रह न करते हुए विरक्त भाव से पवित्र रहकर, अद्रोह वृत्तिपूर्वक जहाँ-तहाँ शास्त्रोचितभिक्षा से शरीरयात्रा सम्पन्न करते हुए वीरध्वान (योगमार्ग में लगे रहना) का आश्रय अथवा अन्नत्याग कर, जल में प्रवेश कर अथवा अग्नि में प्रवेश कर अथवा महाप्रस्थान (महाप्रयाण) का आश्रय लेकर शरीर त्याग करे। वही ब्राह्मीभाव को प्राप्त करता है।

● ● ❁ ● ●

**पन्थान्धकारोदीपेन, प्रेक्ष्यमाणः प्रणश्यति।**
**न चास्य दृश्यते तत्त्वं, अबोधस्यैवमेव हि।।**
**एवं ब्रह्मैव जीवात्मा, निर्विभागो निरन्तरः।**
**सर्वशक्तिरनाद्यन्तो, महाचित्साररूपवान्।।** (योगवासिष्ठे ३/१४/२५)

रास्ते में पड़ने वाले अन्धकार को दूर करने के लिए दीपक का प्रयोग करने वाले नष्ट बुद्धि के लोग अध:पतन को प्राप्त होते हैं; क्योंकि संसार पथ पर चलने वाले जीव को उससे (दीपक से) तत्त्व का प्रकाशन नहीं हो पाता, इस लिए वे दीपकधारी अज्ञानी ही है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा परमार्थत: एक ही हैं और वह सर्वशक्तिसम्पन्न आदिअन्त रहित महाचित्सार रूपवाला है। इस प्रकार का बोध ही देखना कहलाता है।

**व्योमवत्सर्वभूतस्थो, भूतदोषैर्विवर्जितः।**
**साक्षी चेतागुणः शुद्धो ब्रह्मैवास्मि स केवलः।।** (उप.सा. ११/६)

व्योम (आकाश) के समान सभी भूतों में मैं आत्मा ही हूँ। जिस तरह आकाश सभी भूतों में रहकर भी उनके गुणों से (उनके प्रभाव से) निर्लिप्त रहता है तथा यह आत्मा सभी भूतों और उनके गुणों से (अचिद् गुणों से) रहित शुद्ध केवल ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा चिन्तन करना चाहिये।

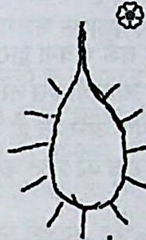
● ● ❁ ● ●

**अचक्षुष्ट्वान्नदृष्टिर्मे तथा श्रोतस्य का श्रुतिः।**
**अवाक्त्वान्न तु वक्तिः स्यादमनस्त्वान्मतिः कुतः।।१।।**
**अप्राणस्य न कर्मास्ति, बुद्ध्यभावे न वेदिता।**
**विद्याविद्ये ततो न स्तश्चिन्मात्रं ज्योतिषो मम।।२।।**

मैं चक्षु वाला नहीं हूँ, अत: दृष्टि हमारी नहीं हो सकती, मैं श्रोत्रवाला भी नहीं हूँ, अत: श्रुति कर्म मेरा नहीं है, मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, इसलिए वेदिता (जानने वाली) वृत्ति भी हमारी नहीं है। मैं विद्या और अविद्या से अन्य चिन्मात्र ज्योति:स्वरूप हूँ।

• • ✿ • •

**नित्यं विज्ञानरूपस्य, ज्ञानाज्ञाने न मे सदा ।।५।।**
**सदा मुक्तस्तथा शुद्धः, सदा बुद्धोऽगुणोऽद्वयः।।२४।।**
**विदित्वा मां स्वदेहस्थं ऋषिमुक्तो ध्रुवो भवेत् ।।२५।।**



(उपदेश सा. १३)

**चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः ।**
**मया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो ह्यहम्।।१४/७।।**

मैं नित्य विज्ञान स्वरूप ब्रह्म हूँ। ज्ञानाज्ञान मिथुनीभाव स्वरूप यह देह, मन, इन्द्रियाँ, नहीं हूँ। सदामुक्त स्वभाव नित्य शुद्धबुद्ध स्वभाव सकल गुणरहित अद्वय ब्रह्म ही हूँ। इस तरह देहस्थ आत्मा का दर्शन-अनुभव जो करता है, वह ऋषि मुक्त हो जाता है, वह ध्रुव हो जाता है।

मेरे चिन्मात्रात्म ज्योति से सभी भूतों में स्थित बुद्धियाँ प्रकाशित होती हैं, जिस कारण से मैं सभी के आत्मा स्वरूप हूँ। यहाँ स्थावर जङ्गम जो भी दिखाई दे रहे हैं, उनके आत्मभूत ब्रह्म मैं ही हूँ।

• • ✿ • •

**'ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म'**
**अनेन ब्रह्ममन्त्रेण भक्ष्यपेयादिकं च यत्।**
**दीयते परमेशाय, तदेव पावनं महत्।।** (महानिर्माण तन्त्रम्, ३/३)
**सुषुम्नावंशमास्थिताः पादाङ्गुष्ठद्वये जाता शिफाभ्यां शिरसा पुनः।**
**ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी।।** (शारदाति. २५)
**तस्यामध्यगता नाड़ी चित्राख्या योगिवल्लभा।**
**ब्रह्मरन्ध्रं विदुस्तस्यां, पद्मसूत्रनिभं परम्।।**
**आधारश्च विदुस्तत्र, मतभेदादनेकधा।**
**दिव्यमार्गमिमं प्राहुः, अमृतानन्दकारणम्।।**

**ज्ञात्वा भूतोदयं देहे, विधिवत्प्राणवायुना।**
**तत्तद्भूतं जपेद् देहं दृढ़त्वावाप्तये सुधीः।**
**दण्डाकारागतिर्भूमेः पुटयोरुभयोरधः।**
**तोयस्य पावकस्योर्ध्वं गतिस्तिर्यग्नभस्वतः।।**
**गतिर्व्योम्नोर्भवेन्मध्ये भूतानामुदयः स्मृतः।।**

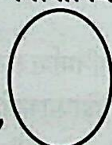
'ॐ सच्चिदेकं ब्रह्म' (ओंकार सत्-चित्त् स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है) यह ब्रह्म मन्त्र है। इस ब्रह्म मन्त्र को जपते हुए जो कुछ भी भक्ष्य और पेय आदि परमात्मा को अर्पित किया जाता है वह वस्तु ही पावन (पवित्र) है, शेष नहीं है।

सुषुम्ना से सम्बन्धित कुहू नाडी की पादाङ्गुष्ठ तक भावना द्वारा ले जाकर पुनः नाड़ीनाल के द्वारा उर्ध्व गमनरूप प्रबल भावना शिरोभागोपस्थित किया जाता है। इस तरह उन नाड़ी को भावना बल से पूर्व की भाँति उर्ध्व और अधः का अभ्यास करते-करते पूर्ण अभ्यस्त हो जाना चाहिये। इसका स्थान (गति) दक्षिण अङ्गुष्ठ से दक्षिणनासाछिद्र है। यह नाड़ी ब्रह्म रन्ध्र को प्राप्त करने पर सोम सूर्य-अग्नि स्वरूपिणी हो परमप्रकाश प्रदान करने वाली है।

उस सुषुम्ना के मध्यगता नाड़ी चित्रा कहलाती है। जो योगियों की वल्लभा (प्रिया) कही गयी है। ब्रह्म रन्ध्र उसी में है और वह पद्मसूत्र (कमलदण्डगत रेसे) के समान सूक्ष्म और आभावाली है। आधारस्वरूपा (ब्रह्माधार) वह मतभेद से अनेक प्रकार की कही गयी है। यह दिव्य मार्ग कहा गया है, जो अमृतानन्द का कारण है।

विद्वान् साधक के देह में जब भूतोदय हो, तो विधिवत् प्राणवायु के द्वारा उस-उस भूतों के देह का जप (चिन्तन) करे। जप का प्रयोजन उसकी दृढ़ स्थापना के लिए है। भूमि की गति ओष्ठ के दोनों पुटों के नीचे दण्डाकार होती है। जल तथा पावक की गति उर्ध्वगामी एवं सूर्य की किरण की भाँति तिर्यक् (तिरछी) होती है। आकाश की गति व्योम आकाश के मध्य (हृदयाकाश) होती है। यही भूतों का उदय (उद्भव) कहा गया है।

**अहमित्यात्मधीर्या च, ममेत्यात्मधीरपि।**
**अर्थशून्ये भवेद्यस्य स आत्मज्ञो भवेत् तदा।। २९।।**
**परलोकभयं नास्ति, यस्य मृत्युभयं तथा।। २७।।**
**चिन्ता चेत्सर्वतश्छिन्ना, सर्वदैन्योद्भवाऽशुभा।। २८।।**



**स्मरतो दृश्यते दृष्टं पटे चित्रमिवार्पितम्।**
**यत्र येन च तौ ज्ञेयौ सत्त्वक्षेत्रज्ञसंज्ञकौ।। (१४/१५/२)**

अहंकारात्मक जो बुद्धि होती है, वही ममत्व वाली भी है। वही बुद्धि 'अहं और मम' से शून्य जिसकी होती है, वही आत्मज्ञ होता है। जिसे परलोक का भय न हो और मृत्यु का भी भय नहीं होता हो,

सभी प्रकार की चिन्ता का उच्छेद जिसे कर दिया हो, उसे सभी प्रकार की दैन्य से उत्पन्न होने वाली अशुभ फल का सामना नहीं करना पड़ता है।

जिसके स्मरण करते ही देखे गये (पूर्व देखे गये) का दर्शन हो जाय तथा जो जगत् प्रपञ्च को पट पर चित्रित चित्र के समान समझता हो, जहाँ पर (जिसको) जिसके द्वारा ऐसा देखा और समझा जाता हो, वे दोनों ही क्षेत्रसंज्ञक सत्त्व (आत्मा) है।



**तद्विषयकामेन चित्तेऽस्मिन् व्याकुलीकृते।।६२।।**
**पुण्येन विषये लब्धे, चित्ते स्वास्थ्यमुपागते।।**
**आत्मानन्दः स्फुरेत्तावत्, यावन्न व्याकुलान्तरम्।।६३।।**

उस-उस कर्म के अनुसार ही मनुष्य के ब्रह्मानन्द का स्फुरण (व्यञ्जन) होता है। जो ब्रह्म को ब्रह्म रूप के 'अपहत्पाप्मा' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' जानता है, उसे उसी रूप में विद्याफलवती होती है और नित्यानन्द की प्राप्ति होती है। जो ब्रह्म को अनात्म शरीर रूप में जानकर कर्म करता है, वह अनित्य विनाशशील शरीर को ही प्राप्त कर विषयानन्दी (आनन्दाभास) को प्राप्त करता है।

जब साधक योगी को ब्रह्म विज्ञान विषयक इच्छा प्रबल होती है और वह चित्त में मैं ही हूँ (ब्रह्म) इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ व्याकुलचित्त होता है, तब कदाचित् पुण्यवश ब्रह्म विषय को चित्त में प्राप्त कर स्वस्थ (आत्मस्थ) को प्राप्त हो जाता है और आनन्द का स्फुरण होने लगता है, वह तब तक रहता है, जब तक चित्त की ब्रह्मविषयक व्याकुलता में अन्तर न हों।



**सर्वदुःखनिवृत्तैकचैतन्यात्मकोऽहमिति आत्मानुभवः।** (ब्रह्म सू. ४/१ शा.भा.)

**न ते सङ्गोऽस्ति केनापि, किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।**
**उदेतु भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।।**
**प्रत्यक्षमप्यलस्तुत्वात्, विश्वं नास्ति अमले त्वयि।।**
**समदुःखसुखः पूर्णः आशानैराशयोः समः।**
**समजीवितमृत्युः सन्, एवमेव लयं व्रज।।** (अष्टा.गी.-५)
**प्रकृत्या शून्यचित्तो यः, प्रमादाद्भावभावनः।**
**निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः।।१।।**

सभी दुःखों से परे चैतन्य स्वरूप मैं हूँ, इस प्रकार का अनुभव ही आत्मानुभव यथार्थ है।

तुम्हारी आत्मा असंग है, इसका संग किसी के साथ नहीं हो सकता। क्या इस शुद्धस्वरूप चैतन्य को (आत्मा को) कोई त्याग सकता है? नहीं त्याग सकता, क्योंकि स्वयं का स्वयं त्याग सम्भव नहीं है, यह त्याग और संग द्विष्ट (दो संख्या) में होता है या अपने से भिन्न के साथ संग या त्याग सम्भव होता है।

तुमसे ही यह समस्त जगत् उदित (स्फुरित) हो रहा है, ऐसा जानो। यह जगत् स्वरूप का होना तुमसे (आत्मा से) हो रहा है। जैसे समुद्र में जल तरंग उदित होता है और यह जलरूप ही होता हैं, जल से भिन्न नहीं होता। जैसे समुद्र के जल में बुद्बुद उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन होते हैं। उसी प्रकार चैतन्य आत्मा में सभी कल्पित सृष्टि (विवर्तभूत) ही है। वह समुद्र जल से भिन्न गोचर मात्र है, विचार करने पर जल ही है, उसी प्रकार तुम्हारे इस अमल आत्मा में स्वयं में कोई वस्तु नहीं है, परन्तु जल ही है, उसी प्रकार तुम्हारे इस अमल आत्मा में कोई संसार नाम की चीज नहीं है। बुद्बुदादि की भाँति वह आभास मात्र मिथ्यारूप स्वसत्ताशून्य विवर्तमात्र है परमार्थिक नहीं। इस तरह चिन्तन करते हुए दुःख-सुख द्वन्द्व मृत्यु को प्राप्त होकर ब्रह्म में लय प्राप्त करो।

जो साधक योगी-संन्यासी-आत्मज्ञ स्वभाव से ही चित्तशून्य हो गया हो और प्रामाद होकर भी मूल आत्मज्ञान के विषय में सावधान हो तथा निद्रावस्था जैसी स्थिति को प्राप्त होकर भी मूल आत्मज्ञान के विषय में सावधान हो, उसके संसार (जगत् के अज्ञान भाव) मानो नष्ट हो चुका है और वह मुक्त ही है।



**अन्तर्विकल्पशून्यस्य, बहिः स्वच्छन्दचारिणः।**
**भ्रान्तस्येव दशांस्तास्ताः, तादृशा एव जानते।।**

जिसके अन्तःकरण विकल्प शून्य हो गये हैं तथा बाह्य व्यवहार दशा स्वच्छन्द तथा भ्रान्त जैसी है, उन मुक्त महापुरुषों को उन्हीं के समानधर्मी पहचान पाते हैं।

**आप्तोपदेशमात्रेण अनुष्ठानं तु सम्भवेत्।**
**न सम्भवन्ति आत्मधीः।।**
**ब्रह्मसाक्षात् कृतिस्त्वेवं विचारेणैव सम्भवेत्।।**

आप्त पुरुष (यथार्थ ज्ञान वाला) के उपदेश से अनुष्ठान संभव तो हो सकता हैं, परन्तु ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। ब्रह्मसाक्षात्कार तो विचार के निरन्तर करते रहने से (ब्रह्म साक्षात्कारानुकूल विचार मन्थन) से ही प्राप्त किया जा सकता है।



**संवेद्येन हृदाकाशे, मनागपि न लिप्यते।**
**यस्यासावहजडासंवित्, जीवन्मुक्तः स उच्यते।।१।।**
**यदा न भाव्यते किञ्चित्, निर्वासनतयात्मनि।**
**बालमूकादिविज्ञानमिव च स्थीयते स्थिरम् ।।२।।**
**तदा जाड्यविनिर्मुक्तमसंवेदनमाततम्।**
**आश्रितं भवति प्राज्ञो, यस्माद् भूयो न लिप्यते।।३।।** (अन्नपूर्णोपनिषद् ४)

जब साधक के हृदयाकाश में संवेदनाओं का किञ्चित् (जरा भी) लेप नहीं होता है, तब जानना चाहिये कि वह जीवन्मुक्त है।

जब साधक वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है और हृदयाकाश में कोई भी भावना (व्यापार) नहीं होता अर्थात् वह व्यापार रहित हो जाता है, जैसे कोई गूंगा छोटा (अबोध) बच्चा हो, तब वह 'अहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्म' श्रुति वाक्यजन्य लक्षित अर्थ (आत्मा में) स्थित और स्थिर हो जाता है।

तब उस साधक के जड़ता से विमुक्ति हो जाने पर असंवेदनता (व्यापारशून्यता) व्यापक रूप से हृदय में व्याप्त हो जाता है। अर्थात् वह सर्वत: व्यापाररहित स्थिति को प्राप्त कर जाता है और किसी भी प्रकार के अन्य वासनाजन्य व्यापार में लिप्त नहीं होता है।

● ● ✿ ● ●

**विशेषं सम्परित्यज्य, सन्मात्रं यदलोपनम्।**
**एकरूपं-महारूपं, सत्तायास्तत्पदं विदुः।।१।।**
**कालसत्ता-कलासत्ता, वस्तुसत्तेयमित्यपि।**
**विभागकलनां त्यक्त्वा, सन्मात्रैकपरो भव।।२।।**
**यज्जगद्भासकं मानं, नित्यं भाति स्वतः स्फुरत्।**
**स एव जगतः साक्षी, सर्वत्मा विमलाकृतिः ।।३।।**

विशेषता का परित्याग कर सभी प्रकार से निर्लेप और सभी वस्तुओं के अधिष्ठान सत्ता जो अद्वितीय तथा व्यापक पद है, वही ब्रह्म है, ऐसा जानो।।१।।

कालसत्ता (भूत-वर्तमान और भविष्यत्), कलासत्ता (षोडश कला)) अथवा सभी वस्तुओं की सौन्दर्यादि, ये ब्रह्मवस्तु की सत्ता है। ब्रह्मसत्ता सर्वाधिष्ठान होने के कारण अन्यसत्ता (सांसारिक सत्ता) नहीं है, ऐसा ज्ञान सुदृढ़ करके सकलभेद और संग्रह की बुद्धि का परित्याग कर सत्स्वरूप में तस्थ हो जाओ; क्योंकि वही तुम्हारा स्वात्म स्वरूप है।।२।।

यह जो जगत् की प्रतीति हो रही है और जिसके स्फुरण से यह नित्य रूप से ज्ञात हो रहा है, वही जगत् का साक्षी है, जिसकी आकृति (स्वरूप) विमल (निरञ्जन) है और वह सभी पदार्थों-वस्तुओं में आत्मस्वरूप से स्थित है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' श्रुतिवाक्य को स्मरण-मनन कर उसे (ब्रह्म को) सर्वात्मा रूप से जानो।।३।।

| | |
|---|---|
| **प्रज्ञानं ब्रह्म**<br>**अहं ब्रह्मास्मि**<br>**तत्त्वमसि**<br>**अयमात्मा ब्रह्म** | } **अस्ति** |

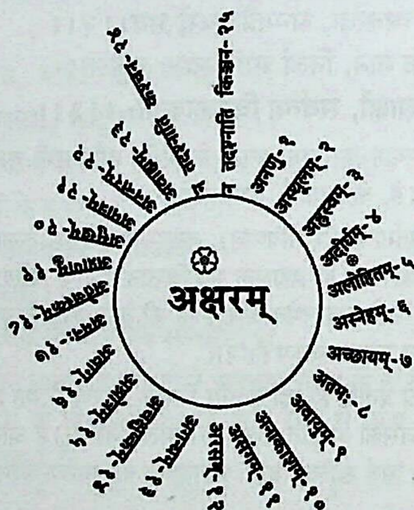


जीवात्मा 'प्रज्ञानं ब्रह्मं' अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' श्रुतिवाक्यों के द्वारा लक्षित अर्थ अकल-निरीह-निरञ्जन-निर्विकल्प ब्रह्म ही है। इन श्रुतिवाक्यों का अभिप्राय जीवात्मा

परमात्मा का आत्मना अभेद बोध कराना ही प्रयोजन है। अत: 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' जीवात्मा ब्रह्म ही है, न कि उससे भिन्न सत्ता वाला है, क्योंकि ब्रह्म सत्तातिरिक्तसत्ताशून्य जगत् है।

प्रसंग में निदाघ के लिये ऋभु का उपदेश आद्याहार अपेक्षित है- हे निदाघ! जीवात्मा को हेय और उपादेय वस्तुओं के ज्ञान हो जाने पर ही निम्नलिखित जीवन्मुक्ति के हेतुभूत गुण में स्थिति होती है, वह है- १.निराशयता, २. निर्भयता, ३. नित्यता, ४. समता, ५. ज्ञता, ६. निरीहता, ७. निष्क्रियता, ८. सौम्यभाव, ९. निर्विकल्पता, १०. धृति, ११. मैत्री, १२. तुष्टि, १३. मृदुता, १४. मुदुभाषिता। अत: हे निदाघ! ये उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न सभी वासनाओं से विहीन तथा हेयोपादेय से मुक्त ज्ञानी पुरुष रहते हैं।

## सर्वमाकाशे ओतं प्रोतम्। आकाशः अक्षरे ओत प्रोतम्।




वह अक्षर (ब्रह्म) अणु परिमाण नहीं है, वह स्थूल परिमाण नहीं है, वह अह्रस्व (बौना) परिमाण का नहीं है, वह लम्बा नहीं है, अलोहित (रक्तभिन्न) वर्ण नहीं है, वह स्नेहहीन नहीं है, अच्छाय (च्छायाहीन) है। वह अनुत्तम है, वायुरहित (प्राणहीन) है, अवकाशरहित है, संगरहित है, रसहीन है, गन्धहीन, विना नेत्रवाला, विना वाणी का वह है। वह विना मन वाला, विना तेज (प्रकाश) वाला, प्राण रहित, मुख रहित, बिना-मात्रा वाला वह है। वह किसी के अन्त में नहीं है, वाह्य (बाहर) भी नहीं है, वह कुछ नहीं खाता और उसे कोई नहीं खाता है इस प्रकार 'नेति-नेति' श्रुति-सिद्धान्त से कसल विशेष-विशेष उपाधियों से रहित केवल वस्तु वह अक्षरब्रह्म है। (वृ.उ.३/७/२३)

**ना विरतो दुश्चरितात्, नाशान्तो नाऽसमाहितः।**
**नाशान्तमानसो वापि, प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।**

(कठोपनि. १/२/२४)

जो व्यक्ति विषयों की आसक्ति से निवृत नहीं हुआ है, और पाप कर्म में ही रत है, जिसका चित्त शान्त नहीं है, जो समाहित चित्त नहीं है वह अशान्त-असमाहित चित्त-पापकर्म इस ब्रह्म को (उपनिषद् विद्या को) सुनकर या पढ़कर प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि चञ्चल चित्त से यह प्राप्त नहीं होता। (कठोपनि. १/२/२४)

• • ❁ • •

**यत्परं परंब्रह्म सर्वात्मा, विश्वस्यायतनं महत्।**
**सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं, तत्त्वमेव त्वमेव तत्।।**

(कैवल्योपनिषद्- १९)

**त्रिधामसु यद्भोग्यं, भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।**
**तेभ्यो विलक्षणः साक्षी, चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।११।।**
**सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।।**
**सम्पश्यन् ब्रह्मपरमं याति नान्येन हेतुना।।१२।।**

(कैवल्योपनिषद्)

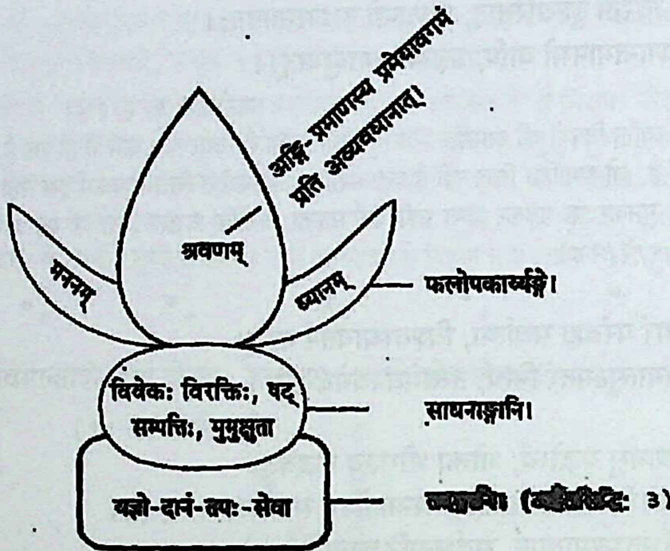
जो इस जगत् प्रपञ्च से परे परं ब्रह्म है, वह सर्वात्मा है। सभी भूत वस्तु के आत्मभूत ही है। वह सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च का आयतन (आश्रयस्थान) है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतर है और नित्य (उपचयापचय से रहित त्रैकालिक एक रस) है। तुम सबके तत्त्वभूत वही हो। (कैवल्योपनि. १९)

तीनों लोक में जो भी भोग्य-भोग और भोक्ता रूप वस्तुऐं हैं, उन सभी से सर्वथा विलक्षण (अनिर्वचनीय स्वरूप वाला) वह आत्मा सबका साक्षी-चिन्मात्र-शिवस्वरूप है। वही मैं हूँ। (कैवल्योनिषद् -१२)

सभी भूतजाल वस्तुओं में आत्मा ही है, सभी भूत आत्मा में ही है, ऐसा विनिश्चत विचार से सभी जगत् प्रपञ्च में परमात्मा को देखता (अनुभव करता) हुआ जो साधक व्यक्ति है, वही परम (मोक्ष-अपरोक्षानुभव) पद को प्राप्त करता है, कोई अन्य साधन (युक्ति) इसे प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं है। (कैवल्योपनिषद् -१२)

• • ❁ • •

**शब्दाजन्यज्ञानविषयत्वं**
**सप्रकारकवृत्तिविषयत्वं** → **दृश्यत्वम्**
**चिद्विषयत्वं**




**दृश्य का लक्षण-**

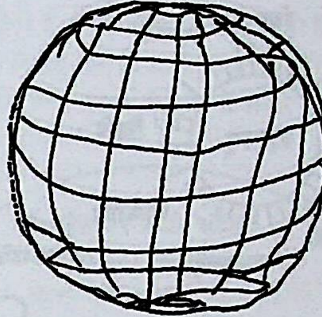
**प्रथम लक्षण-** जो शब्द से जन्य (उत्पन्न) ज्ञान न होता हुआ ज्ञान का विषय हो, उसे दृश्यत्व कहते हैं। यह पहला (प्रथम) लक्षण कहा।

**द्वितीय लक्षण-** जो चित्तवृत्ति का सप्रकारक विषय हो, उसे दृश्यत्व कहते हैं। यह द्वितीय लक्षण कहा।

**तृतीय लक्षण-** जो चित् का विषय हो, वह दृश्यत्व है। यह तीसरा लक्षण कहा। इस प्रकार दृश्यत्व को तीन लक्षणों से निरूपित करने का यह कथन है।

प्रतीक चित्र द्वारा यहाँ आत्मसाक्षात्कार हेतु क्रम को दर्शाया गया है। श्रवण को यहाँ अङ्गी, मनन और ध्यान को फलोपकारी (श्रवण के फल आत्मसाक्षात्कार में उपकारक अङ्ग) कहा गया है। विवेक, विरक्ति, षड्सम्पति और मुमुक्षता को फलोपकारी अङ्ग के साधनभूत अङ्ग कहे गये हैं। इसी तरह यज्ञ-तप-दान और सेवा को उपर्युक्त साधनभूत अंङ्गों के अङ्ग कहा गया। इसे इस तरह भी सुलभता से समझा जा सकता है– यज्ञ-तप-दान और सेवा आदि उपाङ्गों के द्वारा विवेक, विरक्ति, षड्सम्पति और मुमुक्षता रूप प्रधानाङ्ग की सम्पुष्टी होती है। इन प्रधानाङ्ग साधनों के द्वारा फलोपकारी अङ्ग, मनन और ध्यान की सम्पुष्टी होती है। इस प्रकार उतरोत्तर पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर अङ्गों के निरन्तर सम्पुष्ट होने पर श्रवणरूपी अङ्गी सम्पुष्ट होता है। वह श्रवणरूपी (अङ्गी) प्रमाण का प्रमेय अवगम(बोध) के प्रति अव्यवधानरूप हेतु स्वरूपता है। (अद्वैतसिद्धिः ३)

प्रपञ्चः
अनिर्वचनीयः
ख्यातिबाधा-
न्यथानुपपत्या



प्रपञ्चो मिथ्या
दृश्यत्वात्- १
जडत्वात्- २
परिच्छिन्नत्वात्- ३

चित्र द्वितीय में जगत्प्रपञ्च की मिथ्यात्व बोधन हेतु विचार किया गया है। जगतत्प्रपञ्च को मिथ्यात्व रूप से साधने (सिद्ध करने) के लिये तीन हेतु दिये गये हैं-

**१. 'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्'**-यह जगत्प्रपञ्च मिथ्या है, दृश्य होने के कारण यह मूल का अर्थ है। इसे अन्वय-व्याप्ति द्वारा ऐसे भी कहा जा सकता है- 'यद्यत् दृश्यत्वं तत्तत् मिथ्यात्वम्'। जो-जो दृश्यत्व स्वरूप है, वह-वह मिथ्यात्व रूप है। दृश्य मिथ्या इसलिये है कि जो सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद शून्य तथा (त्रिकालाबाधाबाधित्व) तीनों काल (भूत-वर्तमान और भविष्यत्) में एक स्वरूप से रहे उसे सत्य कहते हैं। परन्तु दृश्य जगत् उपचय-अपचय धर्म वाला रहता हुआ तीनों कालों में नहीं रहता। अत: मिथ्या है।

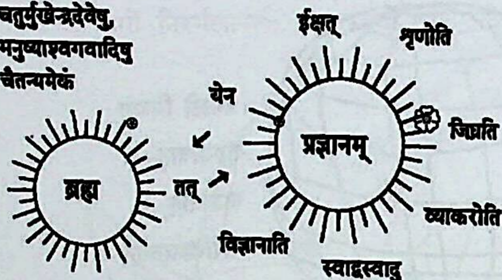
**२. जडत्वात्** - दृश्यत्व रूप जगत् प्रपञ्च जड रूप है। वह प्रकृति का विकार (परिणाम) है। प्रकृति में अपचय-उपचय (ह्रास और वर्धन) धर्म होता है। प्रकृति के परिणाम जगत्प्रपञ्च निरन्तर घटते-बढ़ते-ह्रास-वर्धन-अनुदय रूप से देखा और अनुभव किया जाता है। अत: जगत्प्रपञ्च मिथ्या ही है।

**३. *परिच्छिन्नत्वात्*** - यह जगत्प्रपञ्च देश-काल तथा अवयवादि विभिन्न उपाधि से परिच्छिन्न (आवृत्त-ढका हुआ) है। सत्य तो निरवच्छिन्न है। सभी उपाधियों से रहित सदैकरस नित्य और सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य होता है। अत: जगत्प्रपञ्च मिथ्या रूप ही है।

अब प्रश्न उठता है कि जगत्प्रपञ्च मिथ्या है तो वह कैसा (किं रूपं जगत्) है? उक्त का उत्तर अद्वैत सिद्धिकार देते हैं- 'प्रपञ्च अनिर्वचनीयः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्या' प्रपञ्च न तो सत् स्वरूप है न असत् है और न ही सत् -असत् उभयरूप है, परन्तु वह अनिर्वचनीय रूप से अन्यथाख्याति रूप से उपलभ्यमान रूप है। अनिर्वचनीय उसे कहा जाता है जिसका निर्वचन (अभिकथन) निश्चित रूप से ऐसा है, वैसा है, नहीं किया जा सके। (अद्वैतसिद्धि-३)

• •  • •

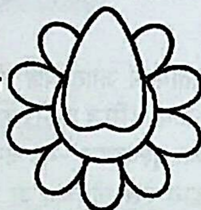
यहाँ इस प्रतीक चित्र द्वारा श्रुतिवाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म' के तात्त्विक अर्थ को सुलभता से समझाने का सर्वोत्तम प्रयास है। श्रुतिवाक्य है 'प्रज्ञानं ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञानरूप है। जिससे यह जगत् (जीवात्मा) संकल्प-विकल्प करता है, सुनता है, सूँघता है, बोलता है, स्वादिष्ट-अस्वादिष्टि रस का आस्वादन करता है, जानता है, वही प्रज्ञान ब्रह्म है। जो प्रज्ञान ब्रह्मा-इन्द्र आदि देवगण-मनुष्य-अश्व-गौ आदि पशु-कीट-पतंग आदि निखिल जीवात्माओं में एक चैतन्य रूप से विराजता है, वही प्रज्ञान ब्रह्म है।




आराधयामि मणि संनिभमात्मलिङ्ग,

मायापुरी हृदयपंकज

श्रद्धानदीविमल



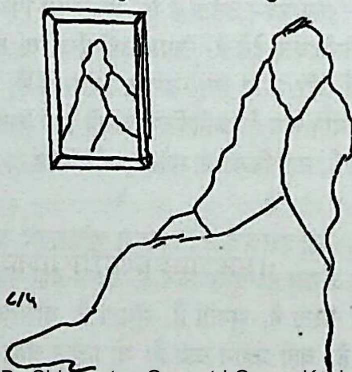
सन्निविष्टम्।

तोयजलाभिषेकैः,

नित्यं समाधिकुसुमैः अपुनर्भवाय।।

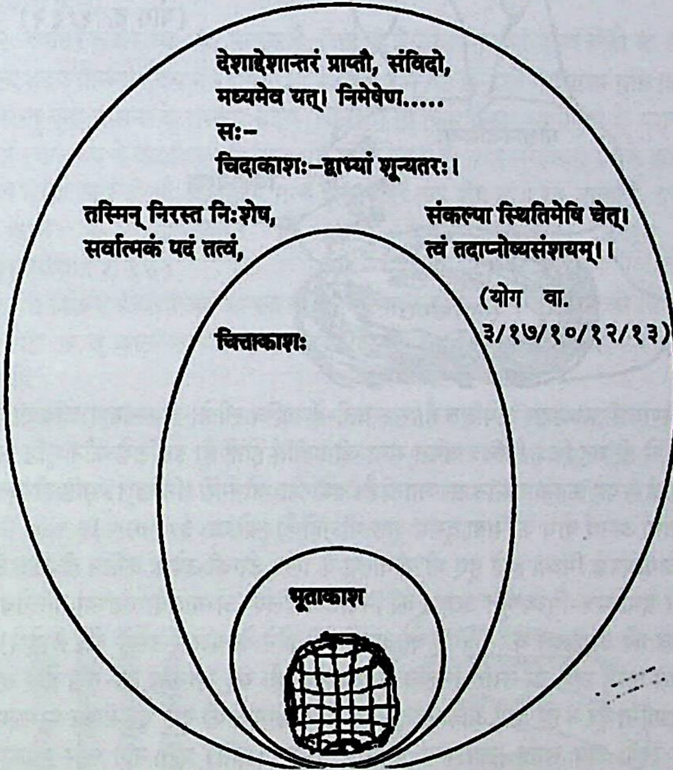
मैं मणि के समान आभा है जिसके ऐसे आत्मस्वरूप लिङ्ग की आराधना के अन्तर्गत अभिषेक श्रद्धारूपी नदी के जल से करता हूँ और समाधिरूपी पुष्प से उसके नित्य-अपुनर्भव लिंग की पूजा करता हूँ। आत्मलिङ्ग को अपुनर्भव इसलिए कहा कि आत्मा नित्य और जन्म-मृत्यु से परे लिङ्ग है। 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः' (गीता) वह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता। न ही मृत्यु को ही प्राप्त होता। न यह कभी हुआ है, न ही यह उत्पन्न होगा, अथवा मैं जीवात्मा पुनः जन्म न हो इस प्रयोजन से आराधना करता हूँ; क्योंकि आराधना से 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है। 'तत्त्वमसि' और ब्रह्म तुम ही हो बोध होने पर मेरे जीवात्मा में जो मिथ्या आरोपित यह ज्ञान कि मैं जन्म लिया हूँ और फिर मर जाऊँगा यह मिट जायेगा और मैं अपुनर्भव स्थिति को प्राप्त हो जाऊँगा इस प्रयोजन से आत्मलिङ्ग की आराधना करता हूँ, द्वितीय पक्ष का अर्थ है।






आदर्शे अन्तर्बहिश्चैव,
यथा शैलोऽनुभूयते।
बहिरन्तश्चिदाकाशे,
तथा सर्गोऽनुभूयते।।
(योग वा. ३/१८/५)

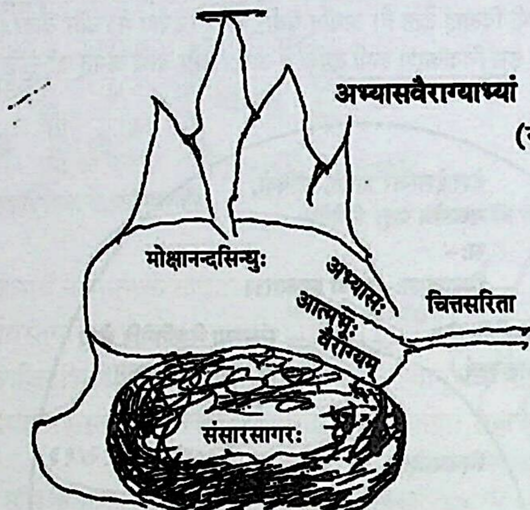
जिस प्रकार आदर्श (दर्पण) में शैल (पर्वत) वन के वृक्षों से घिरे हुए दिखाई देता है उसी प्रकार वही वृक्षों से घिरे पर्वत बाहर भी दिखाई देता है। अर्थात् पर्वत भीतर (दर्पण में) और बाहर (जगद्रूप में) भी दिखाई देता है, उसी प्रकार इस चिदाकाश रूपी दर्पण में अन्दर और बाह्य जगत् की सृष्टि दीखती है। (यो.वा. ३/१८/५)




भगवती सरस्वती और महारानी साध्वी सती लीला की वार्ता अध्याहार करें। सरस्वती-हे लीले! एक शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप प्रकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा सुप्रसिद्ध भूताकाश है। चित्ताकाश और भूताकाश-इन दोनों से जो सर्वथा शून्य है, वही चिदाकाश है। तुमने जो देशान्तर प्राप्त अपने पति के सम्बन्ध में पूछा कि वह कहाँ और कैसे है? सो वह इसी चिदाकाशमय कोश में जो स्थान है उसी में स्थित हैं। अतः तुम एकाग्रचित् से तन्मय होकर चेतन आकाश का चिन्तन करो। पृथक् विद्यमान न होने पर भी उसका दर्शन हो सकेगा और अनुभव हो सकेगा। तुम सभी संकल्पों का त्याग करके उस चेतनाकाश में स्थिति हो जाओ। उसमें (चेतनाकाश में) स्थित हो जाने पर उस परमात्मतत्त्व स्वरूप पद को प्राप्त कर लोगी, इसमें कोई संशय का स्थान नहीं है। (यो.वा.३/१७/१०/१२/१३)

**सर्गो निरर्गलानर्थ; बोधान्नान्यो विजृम्भते।। (योग वा. ३/२०/५)**

**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।**
**(योग द. १/१२)**




पूर्वप्रकरण का अध्याहार अपेक्षित है। सरस्वती-हे साध्वि लीले! ब्रह्मस्वरूप आकाश में जीवभाव की भ्रान्ति होने से ही यह चित्र-विचित्र जगत् सत्ता की प्रतीति होती है। इसलिये कौन सृष्टि सत्य है और कौन भ्रममूलक है? यह कहना कठिन सा लगता है। यथार्थत: तो सारी (निखिल) सृष्टि ही सुतरां भ्रमरूप और अनर्गल तथा अनर्थ बोध के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। (यो.वा. ३/२०/५)

वह जगत्प्रपञ्च मिथ्या होते हुए भी जीवात्मा के लिए उसकी उपेक्षा कठिन ही होता है। इसलिए साधक को उस भ्रमात्मक-मिथ्याभूत अज्ञान की निवृत्ति के लिए 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध:' अभ्यास और वैराग्यभाव को अंगीकार कर (जगत् के अनर्थकारी होने के कारण उसमें दोष है ऐसे) विचार के निरन्तर अभ्यास करने रहने पर उससे निवृत्ति सम्भव होती है। यह अभ्यास तब-तक होते रहना चाहिये जब तक जगद्भ्रान्ति दूर न हो जाय और जगत् प्रपञ्च में प्रपञ्चाभाव की दृष्टि दृढ़ होकर परमात्मामय सर्वत्र दर्शन न होने लगे। जब सर्वत्र 'रूपं-रूपं प्रतिरूपं बभूव' (श्रुति) प्रति नाम और स्वरूप-ब्रह्ममय-परमात्मामय दृष्टि प्राप्त हो जाने पर मोक्षानन्द सिन्धु में क्रीडन स्वत: होने लगेगा और परमा शान्ति को प्राप्त हो सकेगा। यह स्थिति जब तक संसार प्रपञ्च में हेय बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी और वैराग्य वृत्ति परिपक्व नहीं हो जाती, तब तक दुरूह ही है। (यो.द. १/१२)

● ● ✿ ● ●

**वैराग्यम्—**

**१. यतमानः— क्वचिद्विरागः अभ्यासेन कषायाणां परिशेषावधारणम्।**
**२. व्यतिरेकः।**
**३. एकेन्द्रियः—हृदि रागसौक्ष्म्यम्।**
**४. वशीकारः—तस्याप्यभावः।**

वैराग्य के क्रम के स्थिति के अनुसार उसे चार श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है। वे हैं—

**१. यतमानः**- यतमान वैराग्य श्रेणी के वे साधक हैं, जो जगत्प्रपञ्च में दोष को बार-बार अपनी बुद्धि द्वारा स्थापित सत्य को पृथक् रखने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। उन्हें क्वचिद् वैराग्य बुद्धि होती है और क्वचिद् विलीन हो जाती है। परन्तु वह प्रयत्नशील है कि अभ्यास द्वारा कषायों (पापों) से सम्पूर्ण रूप से छुटकारा मिले।

**२. व्यतिरेक वैराग्य**- वह साधक है, जिसकी वैराग्याभ्यास परिपक्व होती जा रही है और कुछ सूक्ष्म वासना हृदय वासना हृदय में रह गयी है। स्थूलरूप से वह इन्द्रियों में वैराग्य वृत्ति को परिपक्व कर लिया है, परन्तु कुछ वासना के संस्कार हृदय (चित्त) में हैं। जिस प्रकार चम्पापुष्प के पराग को झाड़ देने पर भी उसमें सूक्ष्म रूप से कदाचित् -किञ्चित् सुगन्ध रह जाता है। यथा सुगन्धित इत्र के हाथ में रगड़ने पर जब हाथ धो लिया जाय तो भी अतिसूक्ष्म गन्ध कुछ काल तक शेष बचा रह जाता है, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।(२/६७)

**३. एकेन्द्रिय वैराग्य**-वह साधक जिसने अभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया समेट लिया है, परन्तु कदाचित् मन में उस-उस विषयों के भोगजन्य सूक्ष्म संस्कार को दूर करने में प्रयत्नशील है।

**४. वशीकार वैराग्य**- वह साधक जो मन (अन्त:करण) में स्थित कदाचित् -किञ्चित् परिशेष वासना मूल को भी उच्छेद कर पूर्णरूप से मनसा-वाचा-कर्मणा अर्थात् बाह्य-भीतर से राग बीज को पूर्णरूप से यथा आग में भूँग दिया हो के समान स्थिति को प्राप्त कर लिया हो। बीज को आग में भूँगने पर सर्वथा उसमें अंकुर की सम्भावना जाती रहती है। (बृ.ध.पु. ५३/६३)




पुर्यष्टकम् भवति तस्य परस्य मोहात्,
तेनान्वितस्य तु नभोमलवद् व्यलीकम्।
दुःखं त्रिधा भवति संसरणाभिधानम्,
नान्यः परादधिकरूपभृदस्ति जीवः।।
(संक्षेपशा. ३/९)

प्रतीक चित्र द्वारा पुर्यष्टक (आठ पुरियों का समूह) को दर्शाकर समझाने के लिये सरलतम तरीका का प्रयोग किया गया है। ये आठों पुरियाँ इस भौतिक शरीर में अवस्थित है और वे सभी अविद्या कल्पित है। अविद्या से काम, काम से कर्म, कर्म से पंचभूत, पंचभूत से पञ्चप्राण, पञ्चप्राण से पञ्चकर्मेन्द्रिय और पंचकर्मेन्द्रिय से पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा उससे अन्तःकरण की आविद्यक सृष्टि है। जिस तरह आकाश किसी को मलिन दिखाई देता है, जबकि आकाश का मलिन (मलयुक्त) होना अत्यन्त व्यलीक (अत्यन्त असत्य) है, परन्तु अलीक होते हुए भी ये अष्ट पुरियाँ परस्पर में मोह और अन्वय (सम्बन्ध) के कारण समान रूप से दुःख-सुख का अनुभव करती हैं और आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों के संसरण का परस्पर में अभिधान करती रहती है, जिससे जीवात्मा-सुखी और दुखी होने का अपने में अध्यारोप कर तथारूप से अनुभव करता है। (संक्षेप शा. ३/९)

• • ❁ • •

**संवेदनं यदिह मानफलं प्रसिद्धं,**
**तच्च प्रमातरि विकारिणि निष्ठितं नः।**
**तस्य प्रमातुरपि साक्षितयान्तरात्मा,**
**सर्वस्य तिष्ठति भवानविकाररूपः।। (संक्षेप शा. ३/८०)**

**(स्वतन्त्रं नित्यमेकं मानफलत्वादि कल्पनारहितं स्वप्रकाशं संवेदनं सर्वसाक्षिभूतं त आत्मा। ^टी.)**

**अध्यात्ममेवमधिदैवं,**
**सूत्रं विराजमपि पश्यसि साक्षिभूतः।**
**साक्षित्वकारणमशेषजगन्निदानं,**
**अज्ञानमात्मचिदज्वलितं सदैव।।(संक्षेप शा. ३/६८)**
**साक्षित्वमन्तरविलुप्तचिदेकरूपा (संक्षेप शा. ३/६३)**
**सत्यप्यलुप्तचिति यत्त्वयि नास्ति कर्त्तृ,**
**भोक्तृप्रमातृप्रमुखमन्यमपि हि किञ्चित्।।**
**जागृद्दशावगतमप्यखिलं न तत्ते,**
**स्वाभाविकं भवितु मुत्सहते विरोधात्।। (संक्षेप शा. ३/११३)**

जीवात्मा में संवेदनमान (अहंकार) फल वाला प्रसिद्ध ही है। वह अहंकारकारी प्रमाता में निष्ठित है तथा प्रमाता के भी साक्षीरूप आत्मा में अधिष्ठित हैं। जबकि परमार्थतः (तत्त्वतः) यह आत्मा सकल विकाररहित है। (सं.शा. ३/८०) यह आत्मा नित्यस्वरूप- अद्वितीय-सकल मानफल कल्पनारहित स्वयं प्रकाश संवेदनस्वरूप-सर्वसाक्षीभूत है। (टी.सं.शा. ३/८०)

जो तुम देखते हो कि आध्यात्मिक-आधिभौतिक आधिदैविक-सूत्रात्मा और विराज भी साक्षीभूत ही है। साक्षीत्व का कारण तथा अशेष जगन्निदान, अज्ञान तथा चित् से प्रज्वलित सदा ही यह आत्मा है,

तथा इस प्रकार साक्षीत्व जो अन्तर विलुप्त अद्वितीय चित्स्वरूप ही है। (यह विपक्ष के सिद्धान्त का अभिकथन है।)

प्रत्यक्ष चित्त के रहते भी तुम अगर कहते हो कि यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रमातृत्व और अन्य जो प्रमुख धर्म है, वह कुछ भी नहीं है और जाग्रत दशा में अवगत समस्त व्यावरिक ज्ञान भी असत् ही है, तो यह ठीक ही कह रहे हो, फिर हमारे अद्वैतवादियों से विरोध नहीं रह जाता। (संक्षेप शा. ३/११३)



## 'आत्मैकत्वानुमान्'

**स्थावरजङ्गमशरीरव्यक्तयः, प्रतिवादिशरीरव्यक्त्यात्मनैव आत्मवत्यः, शरीरव्यक्तित्वात्, प्रतिवादिशरीरव्यक्तिवत्।**

**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढमपश्यन्।** (श्वेताश्वरोपनि.)

**इतिश्रुतिबलात् मायाशक्तिरेव साक्षादुपादानम्।**

**शक्तेश्च नियमेन शक्तिमत् पारतन्त्र्यात् शक्तिमति ब्रह्मण्यपि उपादानत्वं पर्य्यवस्यति।**

विवरण प्र.सं. २/१

**तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, कार्यकारणव्यतिरिक्तद्रव्यनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवत्।**

**उपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः।**
**उपनीयमात्मानं, ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।**
**निहन्त्यविद्यां तज्जं च, तस्मादुपनिषद्भवेत्।।** (वार्तिकसारः)

अब आत्मा के एकतत्त्व का अनुमान किया जाता है–ये स्थावर -जंगम शरीर की व्यक्ति (प्रतीत) उस प्रतिवादि के शरीर के व्योंक्ति (स्फुटन) स्वरूप से ही स्पष्ट है कि ये शरीर आत्मा वाले हैं, शरीर की व्यक्ति (प्रतीत) के कारण, पतिवादिशरीरव्यक्तिवत् । यहाँ अनुमान द्वारा आत्मा है इसे कहकर अनात्मावादी बौद्धमत का 'नास्ति आत्मा' का खण्डन भी कर दिया गया।

परमात्मा का आत्मशक्ति अपने गुणों के द्वारा इसमें छिपा है, इसको देखते हुए–यह जो श्वेताश्वर उपनिषद् का वाक्य है, इस श्रुतिवाक्य के बल (आधार) से मायाशक्ति ही सृष्टि का साक्षात् उपादान कारण कहना उचित है, क्योंकि शक्ति का नियमपूर्वक शक्तिमान–शक्तिसम्पन्न होने से ब्रह्म में ही उपादानत्व की सिद्धि होती है। श्वेताश्वरवाक्य द्वारा उत्थित पूर्वपक्ष का उत्तर इस प्राकार देकर परब्रह्म परमात्मा में उपादानत्व पर्यवसान है कहा गया; क्योंकि शक्ति की प्रतीति (अनुभव) शक्तिमान् (आत्मा) से भिन्न कहीं न देखी जाती है और न अनुभव किया जाता है। (विवरण प्रमेय २/१)

तत्त्वमसि आदि वाक्य अखण्डार्थनिष्ठ है, क्योंकि कार्यकारण व्यक्तिरिक्त द्रव्य निष्ठ होते हुए समानाधिकरणत्व होने के कारण यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में कार्यकारणव्यतिरिक्त द्रव्यनिष्ठ और समानाधिकरणत्व है, उसी प्रकार तत्त्वमसि में भी मानना चाहिये।

उपनिषद् शब्द अद्वितीय ब्रह्मबोध का हेतु है, क्योकि जो जीवात्मा को ब्रह्म रूप से उपस्थित कर और तद्देश और तत्काल को अपास्त (त्याग) कर तथा अविद्या को जिस कारण से नाश करता है, उस कारण से वह उपनिषद् कहलाता है। (वार्तिकसार)

**अज्ञानं कल्पनामूलं, संसारस्य नियामकम्।**
**हित्वात्मानं परं ब्रह्म विद्यान्मुक्तं सदाभयम्।।**

(उपदेश सा. १६/१७)

संसार व्यवहार का नियमन करनेवाला जो कल्पना (संकल्प) का मूल (हेतु) जो अज्ञान है, उसको त्याग कर आत्मा स्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) को जानो, जिससे सदा निर्भय हो जाओगे।

**स्वरूपाव्यवधानाभ्यां,**
**ज्ञानालोकस्वाभावतः।**
**अन्यज्ञानानपेक्षत्वात्,**
**ज्ञातं चैव सदा मया।।**

(उप.सा. १६/४०)

**दुःखी स्याद्दुःख्यहं मानात्,**
**दुःखिनो दर्शनान्न वा।। (१६/९)**




सत्त्वम् (जीग्रत्)
रजः स्वप्नः
तमः (सुषुप्तम्)

अन्योन्यस्मिन्न सत्त्वाच्च,
नास्तीत्येत्त्रयं त्यजेत्।
(उप.सा. १६/१८)

स्वरूप के अव्यवधनों के द्वारा और ज्ञान के प्रकाश के द्वारा अन्य ज्ञानों (प्रपञ्चज्ञान) की उपेक्षा करने से स्वयं स्वात्मबोध द्वारा वह (ब्रह्मात्म्यैक्य) प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा दुःखी इसलिए हो जाता है कि वह देह का अहंकार वाला है। शरीर में आत्मतादात्म्यभाव के कारण देह को ही आत्मा मान लेता है और उसके धर्म के आरेप से धर्मी (दुःखी) होता है। वस्तुतस्तु आत्मा का सुख-दुःख धर्म नहीं है। (उप.सा. १६/९-४०)

जाग्रत् अवस्था सतोगुणप्रधान अवस्था, स्वप्नावस्था रजोगुणप्रधान, तथा सुषुप्ति अवस्था तमोगुणप्रधान अवस्था होती है। अर्थात् उस उस अवस्था में उस उस गुण का उद्रेक (आधिक्य स्पन्द)

होता है। परन्तु तीनों अवस्थाओं में गुणों के आधिक्य और स्वल्पता की स्थिति प्रत्येक अवस्था में तीनों गुणों के होते हैं। इस अन्योन्य सत्त्व के प्रभावों को उपेक्षित करके यह तीनों गुण हमारा गुण (धर्म) नहीं है, ऐसा निश्चय कर उसे त्याग दो, जिससे आत्मबोध सम्भव हो जाता है। (उप.सा. १६/१८)

विषय प्रत्यक्ष की यह पद्धति है- विषय पुरोवर्ति वस्तु है। अन्तःकरण तैजस है। इन्द्रिय द्वार है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य वृत्त्यारूढ़ (आँख से प्रकाशदण्ड निकलता है, जो विषय देश पर जाता है, वही वृत्ति है) होकर विषय देश में पहुँच कर विषयावच्छिन्न चैतन्य वृत्त्यारूढ़ चेतना ओर प्रमातृ चैतन्य (प्रमाता में रहने वाला चैतन्य) इन तीनों का अभेद होने पर विषय प्रत्यक्ष होता है, यह सामान्य नियम है। जब प्रमाता विषय को 'अहं जानामि' बोध प्राप्त करता है, तो अन्तःकरण और आत्मा का अन्योन्याश्रय होने तादात्म्य हो जाता है और जड़ अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित आत्मा को 'अहं-अहं' कर अविच्छिन्नता को प्राप्त कर अनात्मा में ही आत्मा का व्यवहार अज्ञानवशात् होने लगता है, जिससे अनात्मभ्रान्ति उत्पन्न होती है और वह यावत् भ्रान्ति तावत् बनी रहती है। मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना, बुद्धि का काम सुनिश्चित करना, चित्त का कार्य उससे अवगत होना और अहंकार का कार्य 'मैं जानता हूँ'। एतत् प्रकारक अहंकार करना यही क्रम है। प्रतीक द्वारा इसी क्रम को समझना चाहिये।



## प्रणवात्मिका-(वाराहोपनिषद्-४)

| | (क) | | (ख) |
|---|---|---|---|
| | स्थूलांशे-जाग्रद्विश्वः | | स्थूलांशे-स्वप्न विश्वः |
| अकारः- | सूक्ष्मांशे-जाग्रद् तैजसः | उकारः- | सूक्ष्मांशे-स्वप्न तैजसः |
| जाग्रत् | कारणांशे-जाग्रत् प्राज्ञः | स्वप्नः | कारणांशे-स्वप्न प्राज्ञः |
| | तुरीयांशे-जाग्रत् तुरीयः | | तुरीयांशे-स्वप्न तुरीयः |
| | (ग) | | (घ) |
| | स्थूलांशे- सुप्त विश्वः | | स्थूलांशे- तुरीयविश्वः |
| मकारः- | सूक्ष्मांशे-सुप्त तैजसः | अर्थनात्रा- | सूक्ष्मांशे-तुरीय तैजसः |
| सुषुप्तिः | कारणांशे- सुप्त प्राज्ञः | तुरीया- | कारणांशे- तुरीय प्राज्ञः |
| | तुरीयांशे- सुप्त तुरीयः | | तुरीयांशे- तुरीय तुरीयः |

१. शुभेच्छा
२. विचारणा } अकारः
३. तनुमानसी } तुरीयांशः } भूमित्रयेषु विहरन्-मुमुक्षुः।
४. सत्यापत्तिः उकार तुरीयांशा विहरन् ब्रह्मविद्।

| | | |
|---|---|---|
| ५. असंसक्तिः | मकार तुरीयांशा | विहरन् ब्रह्मविद्वरः। |
| ६. पदार्थाभाविनी | अर्धमात्रातुरीया | विहरन् ब्रह्मविद्वरीयान्। |
| ७. तुर्यगा | तुर्यातीता | विहरन् ब्रह्मविद्वरिष्ठः। |

यहाँ प्रणवाक्षर 'ॐ' (ओम्) के स्वात्मा का विचार किया गया है। प्रत्येक वर्ण के चार अवस्था-यथा-स्थूल-सूक्ष्म कारण और तुरीय को दर्शाकर सूक्ष्मतम विचार किये गये हैं।

(क) अकार जाग्रत् अवस्था है, उसके चार स्वरूप है—१. स्थूलांश में जाग्रत यह विश्व स्वरूप है। २. सूक्ष्मांश में जाग्रत यह जाग्रत तैजस है। ३. कारणांश में यह जाग्रत् प्राज्ञ है और ४. तुरीया साक्ष्यंश में जाग्रत् तुरीय है।

(ख) उकार स्वप्न अवस्था है। उसके चार भेद हैं— १. स्थूलांश में स्वप्नावस्था और विश्वस्वरूप होता है। २. सूक्ष्मांश में स्वप्नावस्था है और तैजस है। ३. कारणांश में स्वप्न प्राज्ञ और ४. साक्ष्यंश तुरीय में तुरीय है।

(ग) मकार सुषप्ति अवस्था है, इसमें— १. स्थूलांश में सुषुप्त विश्व। २. सूक्ष्मांश में सुषुप्त तैजस। ३. कारणांश में सुषुप्त प्राज्ञ और ४. साक्ष्यंश में सुषुप्त तुरीय होता है।

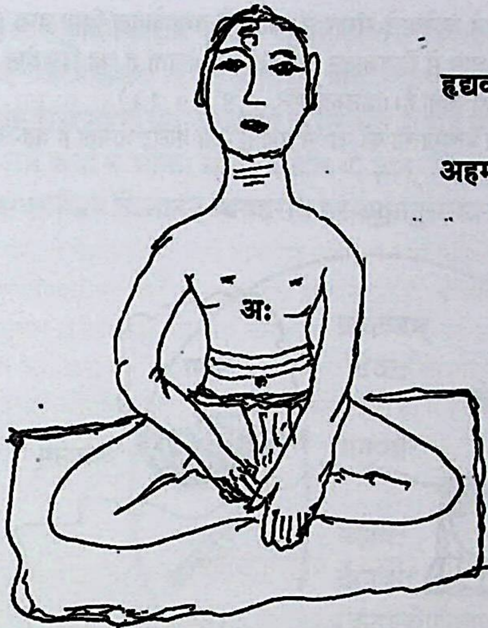
(घ) अर्ध मात्रा तुरीयावस्था है। इसमें स्थूलांश में तुरीय विश्व। २. सूक्ष्मांश में तुरीय तैजस। ३. कारणांश में तुरीय प्राज्ञ तथा ४. तुरीय साक्ष्यंश में तुरीय-तुरीय होता है।

अब उपर्युक्त 'ओम्' के स्वरूप तथा उपासना के फलश्रुति को कहा जा रहा है— १. शुभेच्छा। २. विचारणा और तनुमानसी ये अकार तुरीयांश उपासना का फल है और इसकी उपासना परिपक्वता से उपासक 'अ-उ-म्' इन तीनों भूमियों में विहार (विचरण) करता हुआ मुमुक्षत्व स्थिति को प्राप्त होता है अर्थात् वह मोक्ष की इच्छावाला हो जाता है। ४. सत्यापत्ति-उकार तुरीयांश अवस्था है और इसमें विहार करता हुआ साधक ब्रह्मविद् होता है। ५. असंसक्ति—यह तुरीयांशावस्था है, इसमें विहार करता हुआ साधका ब्रह्मविद् कहलाता है। ६. पदार्थाभाविनी अर्धमात्रा तुरीयावस्था है और इमसें विहार करता हुआ साधक ब्रह्मविद् वरीयान् होता है। ७. तुर्यगा—यह तुर्यातीतावस्था है। इसमें साधक विहार करता हुआ साधक ब्रह्मविद्वरिष्ठत्व को प्राप्त होता है। (वाराहोपानि. ४)

• • ❁ • •

**एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।**
**एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।** (ब्रह्मबिन्दूपनि. १२)

एक ही परमात्मा प्रत्येक भूतों में अन्तर्यामी रूप से व्यवस्थित है। सभी भूतजात प्रपञ्च में साक्षी (अन्तर्यामी) आत्मा एक ही रूप से है, शरीर भेद होने से उसमें भेद नहीं है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा प्रत्येक जल में भिन्न-भिन्न रूपों (अनेक) में दिखाई देता है, परन्तु बिम्ब (चन्द्र) एक ही होता है, कूप नदी-घट-खायी आदि के जल के भेद से वह भिन्न भिन्न दीखता है, परन्तु है वह चन्द्र एक ही। (ब्रह्मबिन्दूपनि. १२)




साधक द्वारा हृदय में 'अः' का निरन्तर द्वादशवार जप (प्राणायाम) करने के अन्तर जो आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की स्थिति बनती है, वही हकार अद्वितीय आत्मस्वरूप' ब्रह्म है, ऐसा जानो या जानना चाहिये।

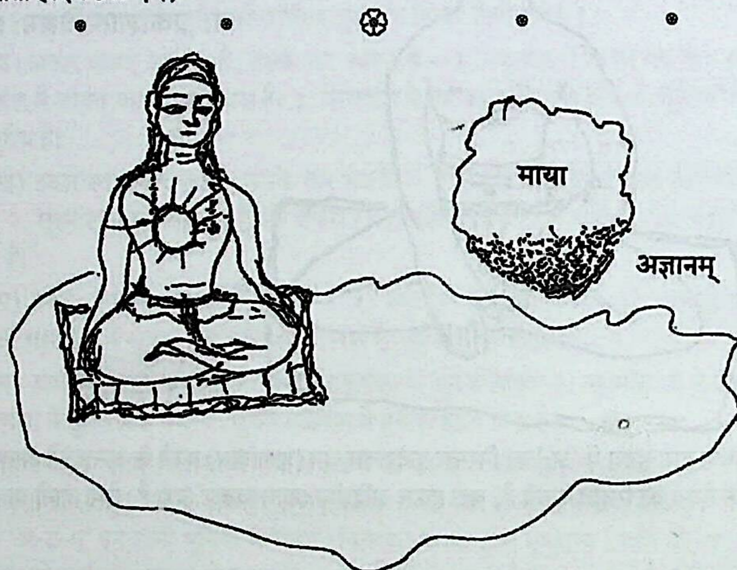


यज्जगद्भासकं भानं, नित्यं भाति स्वतः स्फुरत्।
स एव जगतः साक्षी, सर्वात्मा विमलाकृतिः।। (कठरुद्रोपनिषद्)
प्रतिष्ठा सर्वभूतानां, प्रज्ञानघनलक्षणः।
ब्रह्मवेदनमात्रेण, ब्रह्माप्नोत्येव मानवः।।९।।
तद्विद्याविषयं ब्रह्म, सत्यज्ञानसुखाद्वयम्।
संसारे च गुहावाच्ये, मायाज्ञानादिसंज्ञके।।१०।।
निहि ब्रह्म यो वेद, परमे व्योम्नि संज्ञके।
सोऽश्नुते कलान् कामान् क्रमेणैव द्विजोत्तमः।।११।। (कठरुद्रोपनिषद्)

जो जगत् का प्रकाशक है, नित्य प्रकाश के रूप में अपने ही द्वारा प्रकाशित है, वही जगत् का साक्षी है, निर्मल स्वरूप वाला वही सबका आत्मा है। वह प्रज्ञानघन स्वरूप है, सभी प्राणी उसी में प्रतिष्ठित हैं। मानव न ही कर्म के द्वारा, न सन्तानादि द्वारा और न ही किसी अन्य साधन के द्वारा बल्कि-ब्रह्मानुभव के द्वारा ही उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। वह सत्य-ज्ञान-आनन्द-अद्वितीय ब्रह्म-माया-

अज्ञान गुहा आदि नामों से संसार में कहे जानेवाले संसार में व्याप्त हैं तथा केवल विद्या द्वारा ही जाना जाता है, जो परम व्योम नामक नित्य धाम में विराजमान इस ब्रह्म को जानता है वह द्विजश्रेष्ठ क्रमशः सभी कामनाओं को प्राप्त कर पूर्णकाम हो जाता है। (कठरुद्रोपनि. ८,९,१०,११)

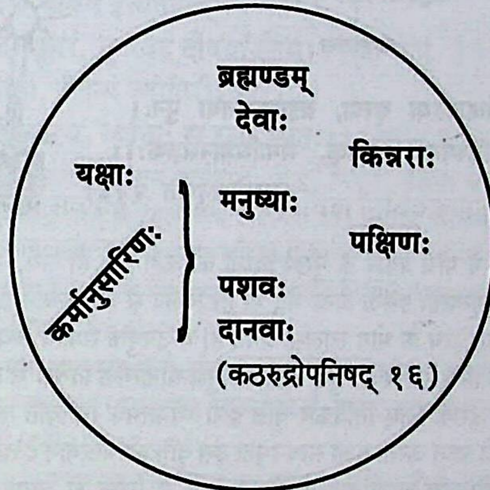
अज्ञान और मायाशक्ति के साक्षी प्रत्यगात्मा को जो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानता है वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। (कठरु. १२)




प्रतीक चित्र द्वारा आध्यात्मिक चिन्तन की ओर संकेत है। यहाँ अज्ञान-माया और समाधिस्थ आत्मबोधानन्दलीन साधक का प्रतीक चित्र दिया गया है और इससे पहले कठरुद्रोपनिषद् के आध्यात्मिक विषय पर विचार किया जा चुका है। अतः प्रसंगागत विषय उसी से सम्बद्ध प्रतीक चित्र का वाचक होना चाहिये। अतः सर्वप्रथम अज्ञान चित्रांश पर विचार करते हुए आगे बढ़ते हैं— शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म-ईश्वर, चैतन्य, जीवचैतन्य, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और फल ये सप्तविध तत्त्व कहे गये हैं। इसमें व्यवहार को लेकर ही भेद है। मायाकृत उपाधियों से अत्यन्त मुक्त ब्रह्म-शुद्ध चैतन्य कहलाता है। माया के सम्बन्ध से वह ईश है और अविद्या (अज्ञान) के वशीभूत वही जीव है एवं अन्तःकरण के सम्बन्ध से वही प्रमाता ज्ञाता कहलता है। उस अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध से वह प्रमाण संज्ञा वाला है। वह चेतन जब तक अज्ञात है, तब-तक प्रमेय कोटि में आता है और वही ज्ञात हो जाने पर फल कहलाता है। अतः प्रज्ञसाधक अपने आपको 'मैं सकल उपाधियों से मुक्त हूँ' इस प्रकार चिन्तन करे। इत्थं भूत (इस प्रकार) साधक ब्रह्म साक्षात्कार कर परम पुरुषार्थ मोक्ष शब्दवाच्य परमपद को प्राप्त करता है। यही इस प्रतीक चित्र द्वारा कहा गया है।

एकं ब्रह्माहमस्मीति, ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।। (कठरुद्रोपनिषद् १२)

वैराजव्यष्टिरूपं जगदखिलमिदं नामरूपात्मकं स्यात्,
अन्तस्थप्राणमुख्यात्प्रचलति च पुनर्वेति सर्वान् पदार्थान् ।
नायं कर्ता न भोक्ता सवितृवदिति यो ज्ञान-विज्ञानपूर्णः,
साक्षादित्थं विजानन् व्यवहरति परमात्मानुसन्धानपूर्वम् ।।(शतश्लो. १३)




जो व्यक्ति इस जगत् को नामरूपात्मक व्यष्टि वैराज रूप तथा अन्तःस्थ मुख्य प्राणों के द्वारा चलता है और पुनः सभी पदार्थों को यह जीव जानता है, इस रूप से जगत् को जानने वाला है, वह सत्य को नहीं जानता, क्योंकि यह आत्मा न तो कर्त्ता है न भोक्ता है, यह सविता (सूर्य) के समान सभी के प्रकाशक और साक्षी मात्र है यह ज्ञान-विज्ञान परिपूर्ण है इस रूप से निश्चय ज्ञान सम्पन्न वह आत्मा को साक्षात् जानता हुआ जीवन का शारीरिक निर्वाह को वहन करता हुआ पर आत्मानुसंधान करते हुए अविद्याकृत बन्धन से मुक्त हो जाता है। (शतश्लो. १३)

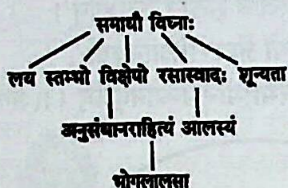
सूक्ष्मभूतों को शिवरूप ईश्वर ने पञ्चीकृत करके उसी से ब्रह्माण्ड आदिकी सृष्टि की। ब्रह्माण्ड के अन्दर प्राणियों के पुराकृत कर्मों के अनुसार देव-दानव-यक्ष-किन्नर-मनुष्य-पशु-पक्षी आदि योनियों की सृष्टि की। (कठरु.उ. १६)

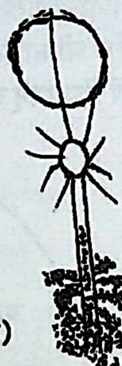
• •  • •

**स्वप्नजागरिते सुप्तिं, भावाभावौ धियां तथा।**
**यो वेत्त्यविक्रियः साक्षात्, सो हमित्यवधारय।।** (वह्वृचोप. २२)

स्वप्न-जागरित और सुषुप्ति अवस्था तथा भावाभाव कलाएँ जो बुद्धि को आश्रित होकर स्थित हैं, ये सबके सब उस ब्रह्मस्वरूप निर्विकार की विक्रिय (विकार) रूप उपाधि है। इन उपाधियों और उनके

भावाभाव धर्मों से सर्वथा रहित साक्षात् परमात्मा स्वरूप मैं हूँ, ऐसा बुद्धि में दृढ़ रूप से धारण करो (बह्वृचोपनि.२२)



**निर्विकारतया वृत्त्या, ब्रह्माकारतया पुनः।**
**वृत्तिविस्मरणं सम्यक्, समाधिज्ञानसंज्ञकः।।**
**(अपरोक्षानुभूति २२४)**

समाधि अवस्था में पाँच प्रकार के मुख्य विघ्नों को कहा गया है। लय, २. स्तम्भ, ३. विक्षेप, ४. रसास्वाद और ५. शून्यता। इसके अन्य भेद भी हैं। विक्षेप से अनुसन्धानराहित्य और रसास्वाद से आलस्य है। अनुसन्धानराहित्य के भोग लालसा प्रभेद है। ये उपयुक्त समाधि अवस्था के विघ्न हैं। अतः साधक सजग स्थिति में ही इससे बचते हुए सक्रिय अनुसन्धानात्मक विवेक से ही साध्य को प्राप्त कर सकता है, वह साधक उसके लिए निर्विकार वृत्ति द्वारा ध्येयात्मक चित्तवृत्ति को प्राप्त करे और पुनः ब्रह्माकाराकारित वृत्ति को प्राप्त करता हुआ साधनभूता उस वृत्ति को भी त्याग दे तथा आत्मा-परमात्मा को ऐक्य कर सकल उपाधिशून्य त्याग वृत्त हो केवल भाव में स्थित हो जाय। ज्ञानसंज्ञक समाधि है। (अपरोक्षानुभूति २२४)

**यदात्ममात्रं निर्भासं, स्तिमितोदधिसंस्थितम् ।**
**चैतन्यरूपवद्ध्यानं, तत्समाधिरिहोच्यते ।।** (अग्निपु.२२६/१)

जब साधक ध्यानावस्था में सभी विकल्पों पर विजय प्राप्त कर परमानन्द में स्थित हो जाता है, और आत्मा के चेतन मात्र का अवबोध रह जाता है तथा स्वयं चैतन्यरूप से ही मात्र स्थिति रह जाती है तो उसे यहाँ समाधि कही गयी है। (अग्निपु.२२६/१)

**एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः।**
**जन्मवृद्ध्यादिरहितः, आत्मा सर्वगतोऽव्ययः।।**
**परं ज्ञानमयोऽसङ्गी, गुणजात्यादिभिर्विभुः।** (अग्निपुराण ३८०/४४)
**क्रतुः ब्रह्मसुतो ज्ञानी, तच्छिष्योऽभूत्पुरुस्त्यजः।**

**निदाघः प्राप्तविद्यो, नगरे वै पुरे स्थितः।।** (अग्नि पु. ३८०/४४)

**पुमान् सर्वगतो व्यापी, आकाशवदयं यतः।**
**अतोऽहं प्रत्यगात्मास्मीत्येतर्थे भवेत्कथम्।।** (अग्नि पु. ३८०/४४)
**एकमेवमिदं विद्धि, न भेदः सकलं जगत्।**
**वासुदेवाभिधेयस्य, स्वरूपं परमात्मनः।।**
**एकः समस्तं त्वं चाहं विष्णु सर्वत्रगो यतः।**
**ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यं इत्येतद्वाङ्मयं मतम्।**
**काव्यं स्फुटदलङ्कारं, गुणवद् दोषवर्जितम्।।** (अग्नि पु. ३३६)
**अक्षरं परमं ब्रह्म, चैतन्यं ज्योतिरीश्वरः।**
**आनन्दः सहजस्तस्य, व्यक्तिः स रसः स्मृतः।।** (अग्नि पु. ३३९)

आत्मा अद्वितीय, व्यापक, समान (एकरस), शुद्ध, निर्गुण, प्रकृति से परे है। वह जन्म-मृत्यु-उपचय-अपचय रहित, सभी वस्तु में आत्मारूप से स्थित और अव्यय स्वरूप है। यह सबसे पर और ज्ञानमय, संगरहित तथा गुण और जाति से रहित और विभु है।

ब्रह्मा के पुत्र क्रतु ज्ञानी थे। उनके शिष्य पुस्त्यज निदाघ ने उनसे विद्या (ब्रह्मविद्या) प्राप्त नगर और ग्रामों में रहा करते थे। (अग्नि पु. ३८०/४४०/४४)

पुरुष (आत्मा) सभी वस्तुजात में है और आकाश के समान यह सर्वव्यापी और सर्वगत भी है, इसलिए मैं (जीवात्मा) प्रत्यगात्मा (परमात्मा) स्वरूप ही हूँ, इससे इतर धर्मवाला कर्त्ता-भोक्ता-सुखी-दु;खी कैसे हो सकता हूँ। (अग्नि पु. ३८०/४४)

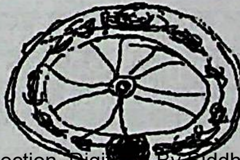
यह जो इदं पद से जगत् व्यवहृत हो रहा है वह एक (अद्वितीय) ही है, इसमें भेद ही नहीं, क्योंकि यह सकल जगत् वासुदेव परमात्मा का स्वरूप है इसलिए मैं और तुम (जीवात्मा और परमात्मा) सभी में व्याप्त विष्णु ही है।

सभी पद और वाक्य ध्वनिवर्णात्मक है इसलिये उसे वाङ्मय कहा जाताा है। गुणों से युक्त, सभी दोषों से रहित (अदुष्ट) को काव्य कहते हैं। अक्षर ब्रह्मस्वरूप, चेतन और ईश्वरर (नियन्ता) है। आनन्द उस अक्षर ब्रह्म के सहज स्वरूप है और उस आनन्द की अभिव्यक्ति को रस कहते हैं। (अग्नि पु. ३३६, ३९)



**मायाविशिष्टमीशानं जगदाकारतां गतम्।**
**संसारचक्रमित्याहुः, संसाराख्यनदीति च।।** (अनुभू. १२/२१)

**जीवोऽहङ्कारोपहहितः**
**चकवद् भ्राम्यते।**
**उपाधिहीनं त**
**ब्रह्म**



**मायोपहित ईशानः।**
**जन्मसु प्रेरयेदमुम्।**
**बिभर्ति द्वयमीशानः।**

**जगत्स्याद् व्यक्तमव्यक्तम्।**
**चिदात्मा तु विमुक्तिभाक्।।**
**ईशानीशावज्ञतज्ज्ञौ, भोक्ता भोजयिता च तौ।**
**तयोर्निर्वाहिता माया, ब्रह्मण्यारोपितं त्रयम्।।**

मायाविशिष्ट ब्रह्म ही जागदाकार होता है अर्थात् जगद्रूप से प्रतीति का विषय होता है। जिसे संसारचक्र कहते हैं, कोई इसे संसारसागर या नदी नाम से कहते हैं। अहंकारोपहित चैतन्य जीव कहा जाता है और मायोपहित चैतन्य ईशान (ईश्वर) कहलाता है। वही जीव को उसके कर्मानुसार जन्म प्रदान करने का कार्य करते हैं, इस प्रकार दोनों को जीव भाव के अहंकार और ईश्वर भाव के अहंकार को वही ईशान ही धारणा करते है। ईशान समष्टि शरीर में अहंकार (अहं अस्मि) और जीव व्यष्टि शरीर में अहंकार (अहं अस्मि) वाला होता है। यही अहंकार उपाधि कहा जाता है और इन उपाधियों से रहित शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है। यह जगत् व्यक्त (स्थूल-मूर्त) और अव्यक्त (सूक्ष्म-अमूर्त) ह्रप दोनों प्रकार का है। चिदात्मा विभक्ति का भाजन है। ईश और अनीश सृष्टि के प्रमुख दो भेद हैं। ईश सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं। अनीश ऐश्वर्याभाववाला जीव है, ईश सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। ईश भोजयिता है और जीव भोक्ता है। इन दोनों ईश और जीव रूप भेद कार्य का निर्वाहिका माया ही है। शुद्धसत्त्वप्रधाना माया और मलिन-सत्त्वप्रधाना अविद्या है, ये दोनों सत्त्व भेद से ही दो हैं परन्तु वस्तुतस्तु दोनों एक ही है। ये दोनों ही ब्रह्म में आरोपित है, सभी उपाधियों से रहित अर्थात् निरुपाधिक सन्मात्र ब्रह्म कहा जाता है। 'अस्ति' मात्र जो बोध्यव्य वस्तु है, वही सर्वगत-व्यापक-सन्मात्र ब्रह्म श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त ब्रह्म है। (अनु.प्र. १२/११)

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामायेऽस्य हृदिस्थिताः।**
**तदैव मर्त्यतां हित्वा, स जीवन् ब्रह्मतां व्रजेत्।।** (अनुभू. ११/११)

**हृदये ग्रन्थयः कामाः, ते भिधन्ते विवेकिनः। अहङ्कारचितोरैक्यं-भ्रान्तिः।**

**तदपगमे कामा, भासाश्चिते क्रमान्नश्यन्ति।**

**श्रवणम्-गुरुशास्त्राभ्याम्-श्रुतितात्पर्यावधारणम्।**
**मननम्-स्वयुक्तिभिः-मानान्तरविरोधशङ्कानिराकरणम्।**
**विज्ञानम्-स्वानुभूत्या-अभेदे-तृतीया-अनुभूतिरिति यावत्।।**(अनुभू. ११/३

जब कोई आत्मा की कामना करने वाला साधक प्रपञ्चस्वरूप-विकारभूत-मिथ्यारूप इस जगत् भाव को त्याग कर ब्रह्म दृष्टि से अनुभव करता हुआ व्यवहार करता है, तो इस शरीर से ही ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उसे 'यदयमात्मा सर्वम्' सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अयमात्मा ब्रह्म' ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिवाक्य उत्थित बोध के द्वारा वह ब्राह्मीभाव को प्राप्त हो जाता है। (अनुभू.प्र. ११/११)

सामान्य जीवात्मा के हृदय में अज्ञान की ग्रन्थियाँ होती हैं। वे. ग्रन्थियाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म से अनेक रूपों में प्रसरित होती हैं। काम, क्रोध, लोभ-मत्सर-राग-द्वेषादि के रूप में वे अनेक रूप से आत्मा को आच्छादित कर उसके स्वरूप बोध के बाधक हो जाते हैं, जिसे ज्ञानीजन अपने विवेक रूपी कर्तरी (कैंची) से भेद (काट) कर सकल अज्ञानमूलक भ्रान्ति को मिटा देते हैं और आत्मा के शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव का अनुभव करने लगते हैं। अहंकार और चित् (चेतन-आत्मा) की एकाधिकरण होकर एकता को प्राप्त होने पर ही शरीरादि में आत्मा की शरीररूप से भ्रान्ति होती है और उस भ्रान्ति को षट्साधन सम्पन्न अधिकारी साधक गुरूपदेश तथा श्रुतिवाक्य से उत्थित विवेक से उसे नष्ट कर देते हैं। उसके भ्रान्ति के अपगम (नष्ट) हो जाने पर काम (इच्छाएँ) खत्म हो जाता है और निर्मल काच में लगे मल को साफ कर देने के उपरान्त आत्म दर्शन के समान आत्मा स्वत: स्फुरित हो जाते हैं।

श्रवण-गुरूपदेश और शास्त्र (श्रुति-स्मृति-पुराणादि) के द्वारा उपनिषद् वाक्य के लक्षीभूत तात्पर्य का अवधारण हो जाता है। मनन-गुरूपदेश और शास्त्र के आत्मस्वरूप दर्शक वाक्यों के निरन्तर मनन करते रहने और युक्तियों से मन में उत्पन्न हुई विरुद्ध (बाधक) शंकाओं के निराकरण (समाधान) करने को कहते हैं। विज्ञान-गुरूपदेश-शास्त्रवचन और मनन के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध यावत् धारावाहिक चिन्तन से जीवात्मा-परमात्मा का अभेदानुभव रूप होता है। यहाँ 'अनुभूत्या' में अभेद अर्थ को कहने के लिए तृतीया विभक्ति है। (अनुभू.प्र. ११/३)

● ● ✿ ● ●

**प्रतिबिम्बभ्रमो नीराद्युपाधिवशतो यथा।**
**सन्निवेशोपाधितोऽयं, कुम्भादिविभ्रमः।।**
**भ्रान्तिसोपाधिकोपाधिनिवृत्यैव निवर्तते।**
**न बोधात्तेन भासन्ते, जानतोऽपि घटादयः।।**(अनुभू. ११/१)
**इन्द्रियोपाधिकाभ्रान्तिः, अक्षरोधान्न भासते**
**अहङ्कारश्च चिच्छाया, मिथ्याभूम्यादिवत्ततः।**
**चिदात्मोऽवशिष्टोऽयं, जीवो ब्रह्मैव नेतरः।।**(अनुभू. १)

जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब पड़ने पर उस-उस जलपात्र में अनेक रूप से चन्द्र प्रतिभासित होता है, जबकि चन्द्रबिम्ब एक ही होता है; परन्तु बिम्ब बोध (चन्द्र) के एकता बोध न होने के कारण चन्द्र की अनेक प्रतीति होती है। यदि बिम्ब बोध ग्रहण हो जाय तो उपाधिगत (अनेक चन्द्र) की प्रतीति नहीं रह जाती है। उसी प्रकार घटादि में परिणमित मृत्तिका का भी चिन्तन करना चाहिये, घटाकारतया दृष्ट घट उपादान (मिट्टी) की सत्ता से भिन्न सत्ता का नहीं है। वह सम्पूर्ण रूप से मृत्तिका ही है, परन्तु उपाधि सन्निवेश के कारण घटाकारतया प्रतिभासित होती है। अत: साधक जलचन्द्र और घट-मृत्तिका दृष्टान्त का मौलिक रूप से चिन्तन कर जगत्प्रपञ्च में भी वैसा ही चिन्तन करे कि जगदुपादानकारण आत्मातिरिक्त सत्ता प्रपञ्च की नहीं है। वह उपाधिभूततया प्रतिभासित हो रहा है। उपाधि मिथ्या होती है, भ्रम जनिका होती है, अत: जगतप्रपञ्च में बिम्ब आत्मा को ही साधक देखे–चिन्तन करे–अनुभव करे। (अनुभू.प्र. १)

उपाधि (साकारता) ही भ्रान्ति है। उपाधि का विनाश तत्त्व के चिन्तन से-युक्ति के द्वारा होता है, जब तक उसकी निवृत्ति नहीं होती तब-तक वह बनी ही रहती है। उसकी सत्ता की प्रतीति इसलिए होती है कि अधिष्ठान सत्ता (ब्रह्म) का बोध वहाँ नहीं होता। जब अधिष्ठान सत्ता का बोध हो जाता है, तब उपाधि की निवृत्ति (नाश) हो जाती है; जैसे घटादि में अधिष्ठान सत्ता मृत्तिका का बोध हो जाने पर यह घट सम्पूर्ण रूप से मृन्मय (मृत्तिका मात्र) ही है, घट में मृत्तिका के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह बोध तत्त्व के मनन द्वारा हो जाता है। उसी प्रकार जगत्प्रपञ्च में भी आत्मतत्त्व अधिष्ठान सत्तातिरिक्तसत्ताभाव का बोध होने पर उपाधि नष्ट (नाश) हो जाती है और तत्त्व बोध होने पर आत्मदर्शन सम्भव हो जाता है। (अनुभू.प्र. १)

● ● ✿ ● ●

बोधोद्देहादुत्क्रम्योत्कृष्टोऽभूज्जीवतां त्यजन्।
जीवत्वेऽपगते तस्य शिष्यते परमात्मता।।
प्रज्ञा[1]नमेकं [2]सर्वेषु यत्स, अत्मेति निर्णयः।
(१-स्फुरणम्। २-पदार्थेषु) टीका।
प्रज्ञानं निरुपाधित्वात्, नित्यं तल्लोपभासकम्।।
प्रज्ञानस्यात्मता मुख्या
प्रज्ञानं कर्तृदेहादि साक्षिभूतम्।
(स्वशरीरेऽस्ति तथा देहान्तरेष्वपि)
ब्रह्मादि स्वावरान्तेषु, तस्य स्यात्परमात्मता।
प्रज्ञानस्यास्य जीवत्वं, प्राणाधारतो यथा।
जगत्सृष्ट्यादिहेतुत्वात्, ब्रह्मात्वं तथेष्यताम्।। (अनुभू. १)
दर्शादिपितृमेधान्तैः, कर्मभिः बहुजन्मसु।
अनुष्ठितैर्विविदिषा, जायतेऽन्तिमजन्मनि।। (अनुभू. २)

देहादि उपाधि को अतिक्रमित करके और जीवात्माभाव (आत्मा-परमात्मा भेद) को उल्लंघित करके जब जीवात्मत्व (किञ्चिज्ज्ञत्व) का अपगम (नाश) हो जाता है, तब सर्वोत्कृष्ट परमात्मा ही शेष रह जाता है। प्रज्ञान आत्मा के स्फुरण को कहते हैं और वह स्फुरण सभी पिण्डभूत जगत् पदार्थ में स्फुरित हो रहा है। इस प्रकार का निर्णय ही प्रज्ञान है, क्योंकि प्रज्ञान उपाधिरहित वस्तु है और नित्य तथा सब का भासक भी है। इस प्रकार के प्रज्ञान के स्वरूप के चित्तचिन्तन दृढ़ होने के कारण ही उपाधि का नाश हो पाना सम्भव होता है। प्रज्ञान ही आत्मता की उपाधि क्षय में मुख्य कारण होता है। प्रज्ञान देहादि में जो कर्तृत्वादि होता है, उसका साक्षी होता है और वह साक्षी देहान्तर (दूसरे-शरीर) में भी उसी रूप में स्थित होता है। वह ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी भूतों में व्याप्त है, इस प्रकार प्रज्ञान की आत्मता रूप से चिन्तन-मनन ही साधक की उपाधि हान का हेतु होता है। (अनुभू.प्र. १)

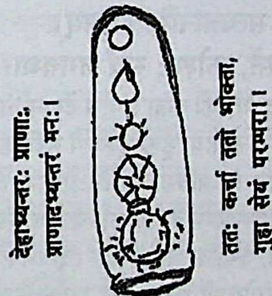
जिस प्रकार प्राण धारण करने पर आत्मा जीवात्मा कहा जाता है और सभी देहादि कल्पित धर्म उसी आत्मा में कल्पितत्वेन से अधिष्ठित हैं उसी प्रकार समस्त जगत् उसी आत्मा (ब्रह्म) में प्राणोपाधि धारण

द्वारा जीवात्मा रूप से बद्ध स्थिति में हैं और सबका (प्रपञ्च) का हेतु (उपादान कारण) ब्रह्म ही है। अतः उपादान सत्ताशून्य जगत् है। इस प्रकार का चिन्तन साधकों के दृढ़ हो जाने पर ब्रह्म ही परिशेषात् अद्वितीय रूप से उपलब्ध रह जाते हैं। (अनुभू.प्र. १)

दशपूर्णमास आदि पितृ निमित्तक पर्वों में उन पितरों के निमित्तक पितृमेध यज्ञ (श्राद्धादि विविध अनुष्ठान) अनन्त जन्मों में करते-करते कभी संयोग से बुद्धि कर्म में केन्द्रित होकर जानने की इच्छा करती है कि 'सर्वे जनाः मराः सन्ति' ये सभी मृत्यु को प्राप्त लोग हैं, ये लोग मर जाने पर भी मेरे द्वारा प्रदत्त पिण्डादि कैसे प्राप्त करते हैं। शरीर के नाश हो जाने पर भी वे कैसे भोजन और पान ग्रहण कर लेते हैं। वे यहाँ नहीं हैं, फिर भी उन्हें भोज्यादि अर्पित किया जा रहा है, इत्यादि जिज्ञासा होने पर श्रेष्ठ गुरु और श्रुति वाक्यों को ग्रहण कर चिन्तन-मनन द्वारा उसकी (पितरों की आत्मा की) अनश्वरता और व्यापकता का बोध उदित हो जाता है और कर्म बद्ध आत्मा ही जीव है, कर्त्ता है, भोक्ता है, मरता है, उत्पन्न होता है; इन उपाधियों से परे आत्मा-व्यापक-नित्य और अमर होता है। इस प्रकार का बोध उत्पन्न होने पर उस साधक का वह अन्तिम जन्म ही होता है। वह अमर हो जाता है। 'तमेव विदित्वा मृत्युमेति' श्रुतिप्रमाण द्वारा वह अमर हो जाता है; क्योंकि वह आत्मा को यथारूप से जानता है। (अनुभू.प्र. २)

❁

**न ब्रह्मणि मनोजन्यस्फूर्तिस्तस्मादगम्यता।**
**मनस्यन्तर्मुखे नश्येदविद्या तेन शक्तता।।(अनुभू. २/६३)**




**पञ्चकोशगुहायां यदज्ञानं कारणं स्थितम्।**
**तद्व्योम परमं तस्मिन्, निगूढं ब्रह्म तिष्ठति।।**

ब्रह्म का बोध मन के द्वारा (मनन कर्म द्वारा) सम्भव नहीं है, क्योंकि मनन शक्ति उसकी अपनी नहीं होती, वह भी (मन भी) अपने व्यापारविशेष की शक्ति ब्रह्म से ही प्राप्त कर मनन करता है। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केनोप. ५) इसलिए इन्द्रियों के उस ब्रह्म में अगम्यता ही सिद्ध होती है। ब्रह्म के चेतन होने के कारण उसके स्फुरण से हम जान पाते हैं कि 'यद्यत् चैतन्यत्वं तत्तत् ब्रह्मता' जो जो चेतन है, वही-वही ब्रह्म का स्वरूप वाला है। मन का तो ब्रह्म चिन्तन से लय (नाश) ही होता है और जो आविद्यक होता है, वह मिथ्यावस्तु होता है; ज्यों-ज्यों ब्रह्मविषयक चिन्तन होते हैं; त्यों-त्यों वे (अज्ञान)

नष्ट होते जाते हैं। अतः 'यन्मनसा न मनुते, यच्चक्षुसा न पश्यति' इत्यादि केनोपनिषद् वाक्यों से ब्रह्म की शक्तता (शक्तिमान्-शक्तिवाला) सिद्ध होता है। (अनुभू.प्र. २/६३) पंचकोशरूपी गुहा में जो अज्ञान स्थित है, जिसके कारण-अन्नमयकोश (शरीर) और प्राणमयकोश (पंचप्राणों) आदि को हम आत्मा समझ बैठते हैं, सो वह ब्रह्म नहीं है, वह तो उन सबसे परे हृदयरूपी पद्मकोंश के व्योम में छिपा हुआ अत्यन्त निगूढ़ रूप से स्थित है; क्योंकि देह से प्राण परे है और प्राण से मन परे है, उससे परे कर्ता है और उससे परे भोक्ता है। इस तरह परम्परा से पूर्व-पूर्व त्याग पूर्वक अन्त में जो शेष रूप से बचता है, वही व्योम (आकाशवत्) स्वरूप आत्मा (ब्रह्म) है। 'नेति नेति' श्रुति इसी अभिप्राय को व्यक्त कर ब्रह्म को निर्दिष्ट करती है। (अनुभू.प्र. १/२१)

• • ❁ • •

**बाह्यदृष्टिः जगद्भानं तत्सत्यत्वधीरपि।**
**विवेकात्सत्यताप्येति, जगभानं तु योगतः।।** (अनुभू. प्र. १/२१)
**अभीष्टविषये लब्धे, धीः प्रत्यावृत्य हृदयगतम्।।**
**ब्रह्मानन्दं क्षणं भुक्त्वा, बाह्यं कामयते पुनः।।** (अनुभू. प्र. २६)
**अन्तर्दृष्ट्या विवेकी तु, ब्रह्मानन्दं सदेक्षते।**
**अन्तर्भवन्ति क्षणिकाः, सर्वे तस्मिन्निरन्तरे।।** (अनुभू. प्र. २८)
**उपासनाच्चित्तशुद्धौ, ब्रह्मातत्त्वमवेक्षते।** (अनुभू. प्र. ८५)
**गुहाहितं ब्रह्मयत्तत्, सत्यज्ञानमिति श्रुतम्।**
**तस्य ज्ञानस्य दृश्यास्ते, कोशाः सर्वं जगत्तथा।।** (अनु.प्र. ८६)

साधक को जगत् प्रपञ्च (दृश्य) को बाह्य रूप से देखना चाहिए और जगत् की सत्यता की बुद्धि को भी बाह्य रूप से ही अनुभव करना चाहिये। दृक्-दृश्य में मौलिक सत्यता का अन्तर विवेक द्वारा ग्रहण करना चाहिये कि जगत् दृश्य वस्तु में अविद्यांश और ब्रह्मांश के भेद का चिन्तन कर ब्रह्मांश सत्ता सत्स्वरूप है और अविद्यांश सत्ता मिथ्यारूप है, जानना चाहिये। जगद्रूपता असत्स्वरूपा होने के कारण उससे संयोग सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग द्विष्ट (दो) में होता है यह नियम है, फिर इस तरह के नित्य असत् जगत् से इन्द्रियों का संयोग भी असत् और उसका फल (परिणाम) भी असत् होता है, परन्तु अज्ञानवश सामान्य जीवात्मा उसे सत् समझता है और परम्परया उसके फल को भी सत् समझ कर मिथ्या दुःख-सुख का अनुभव करता है। परन्तु विवेकी साधक अपने विवेक ज्ञान के बल के अन्तर (सत्यासत्य) को समझ कर वाह्य दृष्ट वस्तु को हृद्गत ब्रह्माभेद रूप से अनुभव कर बाह्य और आभ्यन्तर में उसकी एकता पाकर आनन्दानुभूति को प्राप्त होता है। वह बाह्य पदार्थ को देखकर अन्तर्दृष्टि करके क्षण भर रुक कर विवेक ज्ञान से उसके तत्त्व को ग्रहण करता हुआ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब जगत् ब्रह्म का स्फुरण-स्पन्दन मात्र है। सभी ब्रह्म ही है और 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' इस तरह 'आनन्दं ब्रह्म' आनन्द ही ब्रह्म है का अनुभव करता है। वह साधक हृद्गत कोश में स्थित ब्रह्म को निखिल जगत् के हृद्गत कोश में दर्शन कर लेता है और यह क्षमता उसे उपासना यम-नियमादि षट् सम्पत्ति से सम्पन्न होकर

विरक्ति कें अवलम्बनपूर्वक गुरु और श्रुतिवाक्यों में निष्ठा स्थापना पूर्वक मननादि से चित्त के शुद्ध हो जाने पर प्राप्त हो पाता है और वह हृद्‌गत बुद्धिगुहा में स्थित सत्य-ज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्म को ही जगद् दृश्य भी समझकर परमानन्द को प्राप्त करता हुआ परमशान्त मोक्षपद को प्राप्त करता है। (अनुभू.प्र. ३६, २८, ८५, ८६)

• • ❀ • •

**स्वबुद्धिदोषेण-सन्देहः।**

| | |
|---|---|
| **सन्देहत्रयम्** | **ब्रह्मास्ति न वा-१** |
| | **अज्ञानी मुच्यते न वा-२** |
| | **तत्त्वविन्मुच्यते न वा-३** |

**कामित्वमालोचकत्वं, सृष्टृत्वं प्रवेष्टृता।**
**भोग्याकारश्च पञ्चेते, ब्रह्मसद्भावहेतवः।। (अनु.प्र. १०७)**

साधक को अपने प्रारम्भिक उपासना काल में उत्थित तीन सन्देहों का निराकरण मनन पूर्वक विवेक द्वारा करना पड़ता है—१. ब्रह्म है कि नहीं? २. अज्ञानी मुक्त हो सकता है अथवा नहीं? ३. तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो सकती है अथवा नहीं? इन तीनों शंकाओं के निराकरण गुरूपदिष्ट; शास्त्र उपदिष्ट वाक्य से और युक्त्या समाधान हो पाता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से प्रथम का निराकरण 'तमेव विदित्वा मृत्यमेति' से द्वितीय तथा 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' से तृतीया शंका का निराकरण कर लेने पर ब्रह्मचिन्तनाभिमुख होता है और निरन्तर उपासना के द्वारा चित्तशुद्धिपुरस्सर तत्त्वबोध को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है।

ये पाँच ब्रह्म सद्भाव प्राप्ति के हेतु कहे गये हैं—१. कामित्व-'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्यामः' यह ब्रह्म की कामित्व (ईक्षण) का बोध। २. आलोचकत्व—'नेह नानास्ति कञ्चन' श्रुति वाक्य को निष्ठा पूर्वक मनन करना-आलोचित कर ब्रह्म सद्भावतापन्न होना। ३. सृष्टृत्व—'तत्सृष्ट्वा तमेवाप्राविशत्' श्रुति- वाक्य से ब्रह्म की सृष्टृता ज्ञान के द्वारा ब्रह्मसद्भाव स्थापन। (अनुभू.प्र. १०७) ४. तमेवाप्राविशत्' से सृष्टि में ब्रह्म की प्रवेष्टृता द्वारा ब्रह्मसद्भाव स्थापन और 'भोक्ता ईश्वरः भोग्यः प्रपञ्चः' का मनन कर ब्रह्मसद्भाव की स्थापना हृदय में करनी चाहिये। (अनु.प्र. १०७)

• • ❀ • •

**तदात्मानमेवोऽयं, सच्चिदानन्दलक्षणम्।**
**अकार्षीज्जगदाकारं, स्वयमेव स्वमायया।। (अनु.प्र. १२०)**
**तदात्मानं स्वयमकुरुत।(तै.उ.)**
**वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो, मृत्युश्चातीतजन्मनि।**
**धर्मज्ञा अप्यतत्त्वज्ञा, इदानीं बिभ्यतीश्व रात्।। (अनु.प्र. १३०)**
**'भीषाद्वातः पवते.'। (तै.उ.)**
**सर्वेषां यत्सुखं तत्तु, [illegible] (अनु.प्र. १३३)**

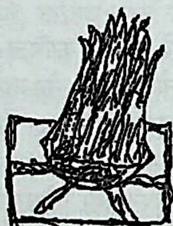
**सर्वेषां कामाप्तिरेषात्र, रसाख्यानन्द उच्यते।**
**अध्यात्ममधिभूताश्चाधिदैवं चैक एव सः।।** (अनु.प्र. १३४)

यह आत्मा ही सत्-चित्-आनन्द लक्षण (स्वरूप) वाला है और यह अपनी माया (शुद्ध सत्त्व प्रधाना) के द्वारा स्वयं जगदाकार स्वरूप से प्रकट होता है। तैत्तरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक् में श्रुति कहती है कि उस परमात्मा ने स्वयं इस जड़ चेतनात्मक रूप में अपने को बनाया है। वायु-अग्नि-सूर्य-इन्द्र और मृत्यु सभी अतीत जन्मा है और वे सभी उसी परम कारण में लय को प्राप्त होते हैं, तथा उनसे भयभीत (डरते) हैं एवं उनके भय से अपने व्यापार में संलग्न होते रहते हैं। 'भीषाद्वातः पवते' उनके (परमात्मा) के भय से ही नियमपूर्वक वायु चलता है, सूर्य समय से उदय होता है इत्यादि। (तै. उ.) सभी वस्तुजातों में जो सुख उपलब्ध होते हैं, वे निष्कामी योगीजन प्राप्त करते हैं और सभी प्रकार की इच्छा की पूर्ति ही यहाँ रस नामक आनन्द कहा जाता है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव सबके सब एक ही हैं। अनेक प्रतीति मिथ्याज्ञान है। योगी-साधक-संन्यासी को अनेक रूप से दृश्य जगत् प्रपञ्च का एक परमात्मारूप से दर्शन होता है और वही एकात्म दर्शन परमार्थ है; क्योंकि 'यत्र सर्वे एकीभवन्ति' उसकी (ब्रह्म की) दृष्टि हो जाने पर सभी एक रूप से दिखाई देता है। सभी एक हो जाते हैं। (अनु.प्र. १२०/१३०/१३३/१३४)

• • ❁ • •

**ज्वालायां रोहितं रूपं, बहुलं तत्तु तैजसम्।**
**किञ्चिच्छुक्लमपामेतत्, किञ्चित्कृष्णं भूमिगम्।।**

**रूपत्रयभूतगते**
**कारणव्यतिरेकेण**
**जगतः चाक्षुसस्योत्थं**
**तेजोऽबन्नत्रयस्यात्र**
**आदित्यचन्द्रविद्युत्सु**
**गृहीत्वैताव्याप्तिं**



**विविक्ते भौक्तिकोऽनलः।**
**वाचैवारभ्यते वृथा।।**
**मिथ्यात्वं वक्तुमादितः।**
**चाक्षुसस्योदिताजनिः।।**
**मिथ्यात्वं वह्निवन्नयेत्।**
**कार्यमिथ्यात्वमुह्यताम्।।**

(अनु.प्र. ३)

**व्याप्तिः-(यत्कार्यतत्कारणातिरेकेण मिथ्या इति) टी.।**

उस परमात्मा की अग्नि की ज्वाला में जो रोहित (रक्तवर्ण) स्वरूप है, जो प्राय: बहुलरूप से तेज में पाये जाते हैं, वह और कुछ जल में भी शुक्ल तैजस ह्रप से है तथा भूमि में जो कृष्ण तैजस है, ये तीन रूप भूतगत है, इससे भिन्न भौतिक अनल है। भौतिक अनल में भी कारण रूप से वही परमात्मा हैं, क्योंकि कारणाभाव से कार्याभाव निश्चित ह्रप से दृष्ट होता है और यदि कारण से भिन्न कार्य में कल्पना की जाय, तो वाचारम्भ भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए कारणातिरिक्त कल्पना व्यर्थ ही है। इस जगत् का जो चाक्षुषप्रत्यक्ष है, वह मूलत: मिथ्या ही है और यह जो यहाँ तेज-अप् (जल) आदि में रूप को कहा गया है वह भी चाक्षुष ही है। सूर्य-चन्द्र और विद्युत् आदि में जो वहि (तेज) देखते हैं, वह भी मिथ्या ही

है। इन सबों में जो कारण की व्याप्ति है, वही ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वही परमात्मस्वरूप है शेष तो कार्यभूत पदार्थ है, जो मिथ्या ही होते हैं। मूलश्लोकगत व्याप्ति की व्याख्या में भी टीकाकार का यही मत है कि कारण व्यतिरिक्त कार्य की सत्ता नहीं होती, क्योंकि कार्य-सत्ता मिथ्या है। वह कारण प्रतीति ही कार्य प्रतीति में अन्तरित रूप से ज्ञात होता है। अतः वस्तुजात में कारण व्याप्ति को ग्रहण कर परमात्मा को जानना चाहिये। (अनुभवप्र. ३)

• • ✿ • •

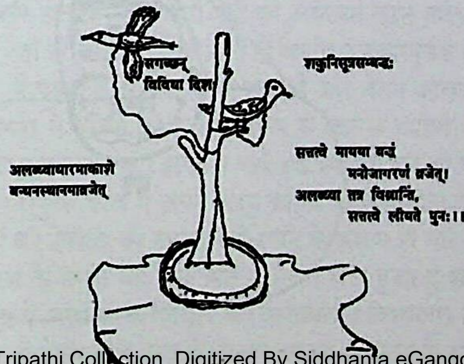
**स्वपिति** } **अज्ञानां-तिङन्तम्-शयनकर्ता।**
**विवेकिनां-सुबन्तम्-नाम-स्वम्-अपीतः।**

**स्वप्नजागरयोर्जीवः, सतत्वाद्भिन्नवद्भवेत्।**
**सुषुप्तौ सम्यगेकत्वं, याति सद्वस्तुना सह।।**

स्वपिति' तिङन्त क्रिया पद का अर्थ अज्ञानियों के लिए ग्राह्य होता है, परन्तु विवेकियों (ज्ञानियों) के लिए तो यह सुबन्त (संज्ञा) पदवत् प्रयुक्त (ग्राह्य) होता है। स्वम्=अपने (आत्मा) में अपीति=स्थित, जो होता है उसे वे स्वपिति संज्ञा देते हैं। स्वप्न और जागरण अवस्था में जीव सत्तत्व से भिन्न स्थिति में होता है। यथा—जाग्रदवस्था में 'अहं गच्छामि' क्रिया सम्पन्न कर्त्ता (अहंकारवाला) होता है। उस जीव में कर्तत्त्व और क्रिया दोनों धर्म अहंकारजन्य होते हैं और सत्तत्त्व (आत्म) निष्क्रिय-निरवयव है, अतः दोनों में सत्त्वत्वात् कारणात् (सत्तत्व हेतु होने के कारण) भिन्नवत् है। इसी तरह स्वप्नावस्था में भी 'अहं करोमि गच्छामि, सुखी, दुःखी' इत्यादि कर्तृत्वादि होते हैं, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में 'सुखमहमस्वाप्सम्', 'किञ्चिदपि नावेदिषम्' सुखपूर्वक सोया मैं कुछ भी नहीं जाना, यह जगने पर स्मृति (अनुभव) होती है। अतः वहाँ क्रिया और कर्तृत्वाभाव है और जो सोया वही अनुभव किया, दोनों अभेद (एकत्व) है। वहाँ सुषुप्ति में सद्वस्तु (आत्मा) के साथ एकत्व को प्राप्त स्थिति होती है।

• • ✿ • •

**जीवत्वमात्मनः प्राणः, धारणान्न स्वभावतः।**
**सद्रूपत्वं स्वतस्तत्तु, स्फुटं स्वपिति नामतः।।** (अनु.प्र. ३/३)



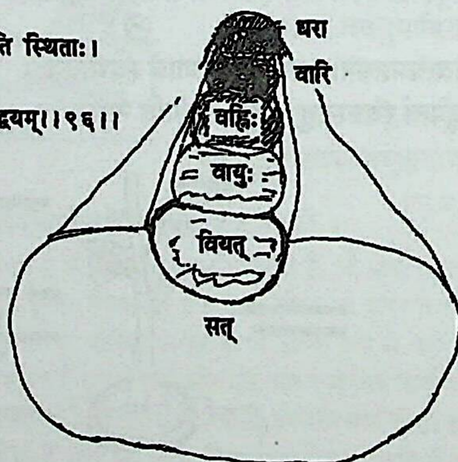
आत्मा के प्राणों के संग होने के कारण ही वह जीवात्मा कहलाता है। वस्तुतस्तु वह आत्मा अपने स्वभाव से वैसा नहीं है। आत्मा का स्वतः स्वरूप तो सद्रूपत्व ही है। सुषुप्ति अवस्था से उठने पर यह स्फुट रूप से प्रमाणित होता है; क्योंकि जगने पर मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना कि कब सोया-कब तक सोया और कब जगा। सुषुप्ति के पूर्व और पश्चाद् को वह जानता है, परन्तु तन्मध्य (बीच) काल की कोई स्थिति के सम्बन्ध में नहीं जानता, केवल सुखानुभूति को वह व्यक्त करता है। इससे आत्मा की सद्रूपता स्पष्ट हो जाती है। (अनु.प्र. ३/३)

जीवात्मा वृक्ष की डाल से बँधी हुई पक्षी के समान है, यह प्रतीक चित्र द्वारा तो सरलतम ढंग से कह दिया गया है, जिसे देख कर सामान्य से सामान्य बुद्धि के लोग भी समझ सकते हैं। किसी वृक्ष की डाल से पक्षी को किसी लम्बे धागे से बाँध दिया जाय, तो वह आकाश में उड़ता हुआ थक कर उसी वृक्ष पर बैठता है; क्योंकि आकाश में उसे बैठने का आधार नहीं मिलता। अन्ततः वह वृक्ष पर पुनः बैठ कर ही विश्रान्ति को प्राप्त करता है। उसी प्रकार यह जीवात्मा माया सूत्र से बद्ध होकर इधर उधर विभिन्न भोगों को भोगता हुआ भी विश्रान्ति नहीं पाता और अनन्त भोगों के भोग से और अधिक थक जाता है। सारे भोग के करण (इन्द्रियाँ) जीर्ण हो जाते हैं, काम करना बन्द कर देते हैं और वह जब थक हार कर अपने आधार (आत्मा) में स्थित होता है, तो साधारता पाकर परम विश्रान्ति को पाकर सुखानुभूति को प्राप्त करता है, यही प्रतीक चित्र का मुख्य अभिप्राय है।

* * ✿ * *

**देहे-देहे प्रति छाया, रूपोऽभूत् स्वात्मबुद्धये।**<br>
**चिच्छाया वपुः स्थूलमिन्द्रियाण्यात्मबोधने।**<br>
**द्वाराणीत्याह मन्त्रोऽयं, रूप-रूपमिति स्फुटम्।।**

**सन्मूलाः सकला देहा,**<br>
**इदानीं च सति स्थिताः।**<br>
**अन्ते सत्येव लीयन्ते,**<br>
**विद्याचतसत्त्वमद्वयम्।।९६।।**



स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह और कारण देह यह तीन देह (शरीर) है। इन तीनों देह में आत्मा की छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ने से इनमें आत्मा का तादात्म्येन अहमाकार व्यवहार होता है।'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' परमात्मा इन भौतिक शरीरों और इन्द्रियों की रचना कर उसमें प्रविष्ट हुआ। किसी रूप में प्रविष्ट हुआ? 'रूपं-रूपं प्रतिरूपं बभूव' जो शरीर जैसा है, जो इन्द्रियाँ जैसी है और देह के जो अंग जैसे है, वैसे ही उनके ही रूप में होकर प्रविष्ट हो गये। इसलिए दोनों के मिथुनीभाव के कारण अज्ञानियों को उसका विवेक कर पाना कठिन होता है। साधनासम्पन्न ज्ञानीजन उस सकल स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीर, प्राण-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय सहित निखिल शरीरावयवों को सन्मूलक ही समझते हैं और अन्त में उसी कारण ब्रह्म में वे लीन होते हैं। ऐसा वे साधक जानते हैं। वे जिसमें उत्पन्न-धारण और लय प्राप्त करते हैं वहीं अद्वय सदात्मा (परमात्मा) ब्रह्म है। इस तरह वे विवेकी साधक ज्ञानीजन निश्चय करते हैं। (अनु.प्र. ३)

• • ❁ • •

**चिच्छायावानहङ्कारोऽधीते वेदचतुष्टयम्।**
**त्वं तु साक्ष्यैव तस्यातः, सदसि त्वं न चेतरः।।** (अनु.प्र. ३/१११)
**सुप्तौ सद्रूपमज्ञात्वा, सदैक्यं प्राप्तवांस्ततः।**
**सतो नागनं स्मार्यं, अपामस्मरणं यथा।।११९।**
**(नाना नदीनां सिन्धौ)**
**म्रियमाणस्य वागादि, वृत्तिः मनसि लीयते।**
**मनो वृत्तेर्लयो प्राणे, प्राणवृत्तेस्तु तेजसि।।१०४।**
**मूढस्य तद्वदेवास्य**
**सत्यानृताभिसन्धित्वं, वैसम्यं ज्ञानिमूढयोः**
**मर्त्योऽहमिति सन्धाय, म्रियते जायते च सः।**
**ब्रह्माहमिति सन्धाय, मुच्यते न च जायते।।१३७।।**

अन्तःकरण तैजस वस्तु है और अन्तःकरण में चेतन आत्मा की छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ने पर उस छायावाला जो अहंकार होता है, वही चारों वेदों का अध्ययन करने वाला होता है। परन्तु तुम जो आत्मा स्वरूप वाला हो, वहाँ भी साक्षीमात्र से ही रहते हो अर्थात् अहंकारपूर्वक ही सामान्यजन कर्म करते हैं, यथा—'अहं पठामि' मैं पढ़ता हूँ अहंकार से ही होता है और चेतन आत्मा तो साक्षी मात्र होता है। अतः साधक को उक्त स्थल में आत्मा को साक्षी स्वरूप से जानना चाहिये, क्योंकि आत्मा (चेतन) सत्स्वरूप ही होता है और कुछ अन्य नहीं। इसलिये वहाँ उक्त स्थल में मन को शासित करना चाहिये कि तुम साक्षी-चेतन मात्र हो। सुषुप्ति काल में अपने सद्रूप का जो अनुभव होता है, उसको बार-बार मनन करना चाहिये। उस सद्रूप की ऐक्यता का स्मरण नहीं रखने के कारण ही नदियों के समुद्रजल के साथ समता स्वरूप के विस्मरण के समान वह जीव भाव में स्थित होता हुआ दुःख प्राप्त करना है। नदियाँ अपने जलात्मा और समुद्र के जलात्मा के ऐक्यता के (जलात्मत्वेन विस्मरण) अभाव के फलस्वरूप ही एक नहीं है, जलात्मत्वेन तो ऐक्य ही है ऐसा ही चिन्तन आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में एकीकरण ज्ञान

हेतु सहायक है। म्रियमाण (मरनवाले) की वागादि (वाणी आदि) इन्द्रियाँ मन में (अपने कारण) में लय प्राप्त करता है मन प्राण में, प्राण तेज में लय प्राप्त करता है और इसी क्रम में लय होता हुआ आत्मा में लय प्राप्त होता है। ऐसा चिन्तन तो विवेकियों-ज्ञानियों का होता है, परन्तु मूढ़ों (मूर्खों) का तो सत्यानृत मिथुनीभाव शरीर को आत्मा समझ कर मरण जनन निरन्तर बने रहता है। यही ज्ञानियों और अज्ञानियों के बुद्धि में भेद है। अज्ञानी का तो मैं जन्म लिया हूँ और हमारी एक दिन मृत्यु भी होगी, इस तरह के बुद्धिस्थ अज्ञान ही जन्म-मृत्यु का कारण होता है और ज्ञानियों का मैं ब्रह्म हूँ और यह 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' मैं न कभी जन्म लिया, न जन्म लूँगा और न मरूँगा, मैं तो अज स्वरूप हूँ। (अनु.प्र. ३/११२/२८/१०४/१३७)

• • ❁ • •

**आत्मप्रतिनिधिः प्राणः, सम्भेदात्मलक्षकः। (४/१८)**
**पितृमात्रादिशब्दैश्च, प्राणः प्रोक्तः शवो न तु। (११/२२**
**ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञानहीनो, भूमाऽविच्छेददर्शनात्।**
**रूपं, मायाकार्यमिदं जगत्।।४१।। (अनु.प्र.-४)**
**चिच्छायावानहङ्कार-ज्ञाता**
**चक्षुरादिजाबुद्धिवृत्तिः-ज्ञानम् त्रिपुटी (स्वप्न जागरयोः)**
**रूपरसादयः-ज्ञेयाः।**
**वेदान्तवाक्योत्थधीवृत्तौ प्रतिबिम्बितं** 

**स्वप्रकाशात्मचैतन्यं कृत्स्नाज्ञानस्य बाधकम्। तिरोधत्ते।**
**भूम्नःशक्तिः—माया। 'परास्य शक्तिर्विविधा'। श्रुतिः**
**सत्ताभानप्रीतयोऽत्र वीक्षन्ते सर्ववस्तुषु।**
**सच्चिदानन्दरूपोऽतो भूमा सर्वत्र तिष्ठति।।६५।**

आत्मा का प्रतिनिधि प्राण है, क्योंकि वह आत्मा का लक्षक होता है। पिता-माता को जो शब्द (वाक्य) द्वारा पिण्डादि दिये जाते है, वे उनके प्राण को उद्देश्य कर दिये जाते हैं, उनके शव को नहीं। इसलिए जीवात्मा अपने को मरणशील समझता है। (अनु.प्र. ४/१८/२२)

ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान तीनों प्रकार के बोध से हीन (रहित) जो नित्य (निरन्तर) अनवच्छिन्न बोध है वही भूमा (ज्ञान-बोध) है। ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों से साकारता (प्रकारता) बोध होता है, जो अवच्छेदक (विच्छेदक) होता है—सोपाधिक होता है-मायिक होता है और सम्पूर्ण जगत् प्रकारता स्वरूप ही है, अतः मायिक है—मिथ्या है। (अनु.प्र. ४/४१)

चित् की जो अन्तःकरण में छाया पड़ती है, उसी को अहंभावेन ग्रहण करने के कारण चित् (आत्मा) ज्ञाता कहा जाता है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न जो बुद्धिवृत्ति है, उसको ज्ञान कहते हैं और रूप तथा रस आदि ज्ञेय विषय हैं। यह त्रिपुटी है और स्वप्नावस्था तथा जाग्रदवस्था दोनों में रहते हैं। वेदान्तवाक्य से उत्थित (उत्पन्न) जो बुद्धि वृत्ति उसमें प्रतिबिम्बित स्वप्रकाशात्मक चैतन्य वह सम्पूर्ण

अज्ञान का निवर्तक होता है और उन सम्पूर्ण विषयक अज्ञान के नष्ट हो जाने पर जो ऐक्यानन्द की अनुभूति है, वह भूमानन्द कहलाता है। भूमा की शक्ति माया है और जिसे परा शक्ति के नाम से श्रुति प्रतिपादन करती है। उसी परा शक्ति माया को अधीन कर मायी भूमा जगत् का सर्जक होता है। जगत् प्रपञ्च में सर्वत्र जो सत्ताभान की सत्-चित् आनन्दात्मक प्रीति स्वरूप है, वही भूमा है और वह सभी वस्तुओं में उक्तरूप से प्रतिष्ठित है। 'अहं' शब्द जो व्यवहृत है। वह अहंकार से सहकृत चिदात्मा को ही बोधित कर प्रयुक्त होता है। अहंकारा बोधपूर्वक चिदात्मा में लीन हो जाने पर तो चिदात्मा ही शेष रह जाता है और माया समाप्त हो जाती है। वही भूमा शब्द वाच्य ब्रह्म है। (अनु.प्र. ६५)

• • ❀ • •

**अहं शब्दः साहङ्कारं चिदात्मानं ब्रवीति।**
**अहङ्कारे बोधेन लीने, चिदात्मैवं शिष्यते।।**

**सुखदुःखप्रदारब्धः, कर्मवेगश्चतुर्विधः—१.तीव्रो, २.मध्यो, ३.मन्दः, ४.सुप्तौ।**

(अनु.प्र.-४)

**१. वेगे-पश्वादितुल्यः, नात्मानमीक्षते। आत्मनि प्रीतिरस्तीति भवेदात्म रतिस्तदा। २. मध्यवेगे तु भोगानां यदाप्राधान्यं तदा स अवकासं कृत्वा आत्मानं वदन् बालवत्क्रीडति। ३. मन्दवेगे भोगान्तिरस्कृत्य प्रायेण धिया आत्मानं चिन्तयन् द्वन्द्वसुखं प्राप्नोति मिथुनवत्। ४. सुप्तवेगे अतिनिर्विघ्नः निर्विकल्पसमाधिभाक् आत्मानन्दा-वशेषः सन् मुक्तवदद्वय आस्ते।**

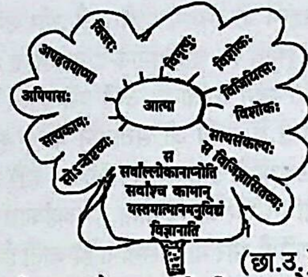
सुख और दुःख को प्रदान करने वाले वेग का आरम्भ चतुर्विध होते हैं—१. तीव्र, २. मध्य, ३. मन्द और ४. सुप्त।

१. तीव्रवेग—वह वेग जो पशु आदि के तुल्य होते हैं और जो आत्मा को बिल्कुल नहीं देखता है—नहीं जानता है। उसके शरीर में ही आसक्ति होती है और जिसके शरीर में आत्मबुद्धि होगी, उसे आत्मा (चेतन) में रति कैसे होगी? नहीं हो सकती है। २. मध्यवेग—उसके भोगों की प्रधानता होती है और वह बालक के समान आत्मा को अनवकाश मानता हुआ उसके साथ क्रीडन करता रहता है। ३. मन्दवेग—वह भोगों को तिरस्कृत कर प्रायः बुद्धि से आत्मा का चिन्तन करता हुआ सुख-दुःख को प्राप्त करता है मिथुनवत् (दो का साथ रहना) अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख का आगम होता है, ऐसा मानता है। ४. सुप्तवेग—अत्यन्तनिर्विघ्नतापूर्वक निर्विकल्पक समाधि सम्पन्न होकर आत्मानन्दावशेष का अनुभव करता हुआ वह अद्वयभाव में स्थित होता है। (अनुभू.प्र. ४)

• • ❀ • •

**'स स्वराड् भवति' पतिते देहे।**
**मायया कल्पिता लोकाः, ते सर्वे मुक्तस्य भूमरूपतां प्राप्नुवन्ति।**
**न मृत्युं पश्यति ज्ञानी, न रोगं नापि दुःखिताम्।**
**सर्वं स्वात्मतया बुद्ध्वा, सर्वमाप्नोति सर्वथा।।८६।।**

**विदेहमुक्तो ब्रह्मत्वात्, सर्वं सृजति मायया।**
**येन यद्वीक्ष्यते तस्मै, तं रूपं स्वं प्रदर्शयेत् ।।८७।।**




(छा.उ.)

देह के नष्ट (लय) हो जाने पर वह स्वराज (राजा) के समान हो जाता है, इस श्रुति सिद्धान्त के अनुसार वह इस लोक को माया द्वारा कल्पित जानकर भूमा स्वरूप को (सर्वत्रवस्तु में आत्मानन्दानुभूति) प्राप्त कर वह ज्ञानी न मृत्यु को देखता, न रोग को जानता है और न दुःख का अनुभव करता है तथा सभी वस्तुओं में स्वात्मा बुद्धि से व्यवहार करता हुआ सर्वरूपत्व को प्राप्त हो जाता है। वह ब्रह्ममय ज्ञानवान् होने के कारण विदेह मुक्ति को प्राप्त कर जाता है, क्योंकि वह जगत् प्रपञ्च को मायाकृत जानता है। वह जो भी देखता है, वह ब्रह्म दृष्टि से देखता है और सर्वमय उसके हो जाने के कारण अपनी आत्मा को ही सब में देखता और अनुभव करता हुआ वर्तता है। (अनु.प्र. ८६,८७)

• • ❁ • •

**कामा विषयानन्दाः तेस्वात्मानन्दस्य खिलाः।** (अनु.प्र. ५/११)
**पुरुषः अक्षिणि दृश्यते।** (श्रुतिः)
**पूर्णत्वात् परमात्मा अक्षिणि-जाग्रत्साक्षितया विद्वद्भिः सुभाव्यते।**
**'एतदभयममृतं ब्रह्म'।** (श्रुतिः)
**प्रजापत्युक्तितात्पर्यं, नानुबुद्धमुभावपि।**
**राजवासनया चित्तं, तदीयं राजसं खलु।।१८।।** (१-इन्द्रविरोजनौ)

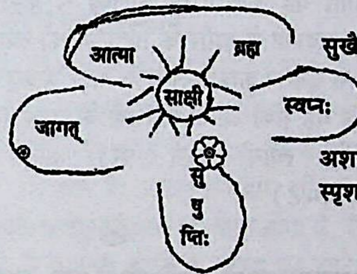
इस भौतिक देह की जरावस्था से यह आकाशाख्य ब्रह्म जीर्ण नहीं होता है, इसके वध से उसका नाश नहीं होता है। यह ब्रह्मपुर सत्य है; क्योंकि इसमें सम्पूर्ण कामनाएँ सम्यक् प्रकार से स्थित हैं, यह आत्मा है और वह धर्माधर्मशून्य है तथा जरारहित मृत्युरहित, शोकरहित, भोजनेच्छाशून्य, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, जिस प्रकार लोक में प्रजाजन राजा की आज्ञा का अनुवर्तन करती है और वह जिस सन्निहित वस्तु की कामना करती है तथा जिस-जिस देश एवं भूभाग की इच्छा करती है, उसी के आश्रित होकर जीवन धारण करती है। प्रजाओं की परतन्त्रता होती है, वे राजा के अधीन होती है, उसी तरह सभी कामनाएँ आत्मा के अधीन ही है। विषयानन्द की जो इच्छाएँ इस शरीर द्वारा की जाती है, वही स्वात्मानन्द के बिल हैं; क्योंकि श्रुति कहती है—'जो यह नेत्रान्तर्गत पुरुष दिखाई देता है, वही आत्मा है'। 'यच्चक्षुषः चक्षुः' (के.उ.) जो चक्षुओं का चक्षु है। यह परमात्मा पूर्ण होने के कारण ही चक्षु में जाग्रत् अवस्था के साक्षिभूत है और विद्वानों के द्वारा जानने योग्य है। यह आत्मा सकल भयरहित अमृतस्वरूप है। प्रजापति ब्रह्मा के पास ब्रह्म विद्या को जानने के लिये गये हुए देवता के प्रतिनिधि इन्द्र और असुर के प्रतिनिधि विरोचन ने उस प्रजापति के उपदेश किये गये वचन के तात्पर्य को सम्यक् नहीं समझ पाये;

क्योंकि राजस वासना से चित्त दूषित होने के कारण ब्रह्मविद्या के उपदेश का तात्पर्य ग्रहण नहीं हो सका, क्योंकि यह विद्या शम-यम-नियम-प्रत्याहारादि सम्पत्षट्सम्पन्न निर्मल हृदय सत्पात्र के द्वारा ही धार्य हो सकता है। (अनु.प्र. ५/११/१८,२९)

❁

**विरोचनस्तामसत्वात्, शीघ्रं देहात्मतामसुरानुपादिक्षत्।** (अनु. प्र. ५/२९)
**छायया अन्यथा त्वं स्यात् साक्षी चैकविधः स्थितः।**
**आत्मात्वं निर्विकारस्य, शक्यते बोद्धमञ्जसा।।२४।।**
**तथापि पापबाहुल्यात्, प्रतिबद्धधियावुभौ।**
**छायात्मतां शरावोक्त्या, दृष्टां कृत्वात्यतुष्यताम्।।२५।।**

आत्तो वै स शरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। (श्रुतिः)




सुखैदुःखादिवर्जनात्।

अशरीरं था न प्रिया-प्रिये स्पृशतः।। (श्रुतिः)

**स्वतः साक्षीः सम्प्रसादः देहतादात्म्यवर्जनात्।**
**अविद्यया स्यात्कालुष्यं,**
**जागरे-स्थूलसूक्ष्माभ्यां, तादात्म्याद् व्याधयोऽखिलाः।**
**आधयश्चास्या सन्तीदं महत्कालुष्यमिष्यते।।५७।।**
**इषत्कालुष्यता स्वप्ने, सूक्ष्ममात्राभिमानतः।**
**सुप्तौ तेनापि हीनत्वात्, अयमात्मा प्रसीददति।।५८।।**

विरोचन असुर के प्रतिनिधि थे। असुर तमोगुणप्रधान चित्तवृत्ति के प्रायः होते है इसलिए तमोगुणप्रधान होने के कारण वे दक्ष प्रजापति द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्या के तात्पर्य को ग्रहण नहीं कर पाये और उसने शरीर को ही आत्मा समझ बैठा। फिर प्रजापति ने कहा कि यह जो जल में छाया पुरुष है, वही ब्रह्म तुम हो। यह पुरुष सबके साक्षी हैं, इस छायापुरुष और आत्मपुरुष की एकता का चिन्तन करो, वही ब्रह्म है। यह आत्मा निर्विकार है। इसमें उपचयापचय नहीं होता, यह नित्य है, एक रस है। नित्य एवं एक स्वभाव है, इसकी जानकारी में शीघ्रता-दीर्घता रूप काल हेतु नहीं है, इसका तो विवेक हेतु है। विवेक से इसका सम्यक् ज्ञान सम्भव है। लेकिन पाप के बहुलता (तमोगुणप्राधान्य) के कारण वे दोनों (रजोगुणी-तमोगुणी इन्द्र और विरोचन ने शराव (मिट्टी के पात्रविशेष) गत छाया पुरुष को देख कर उस अध्यात्म

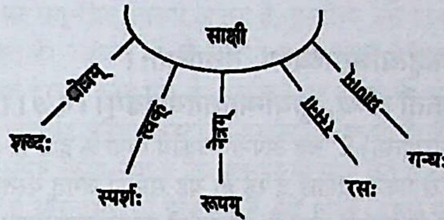
तथ्य को नहीं जान सके और भ्रान्तिग्रस्त ही रह गये। प्रजापति ने पुन: उपदेश किया—इस शरीर में सुख-दु:ख होता है। सुख-दु:ख का आश्रय साक्षात् रूप से शरीर ही है और उस शरीर धर्म को त्यागने पर जो उससे परे स्वरूप प्रिय-अप्रिय में समान भाव (विकार रहितत्व) रहे, वही आत्मा का स्वरूप है। जागत् अवस्था में स्वप्नावस्था में दु:ख और सुख का जो अनुभव करता हो, वह आत्मा का धर्म नहीं है, क्योंकि ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय चित्तवृत्ति के उपाधि के कारण तदाकार रूप से सुखी दु:खी का अनुभव होता है। सुषुप्ति अवस्था में यह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय चित्तवृत्ति के अभाव होने के कारण वहाँ सुख-दु:खात्मक अनुभव नहीं होता। वहाँ न प्रियता की सामग्री की उपस्थिति रहती है और न अप्रियता की वस्तु की उपस्थिति होती है। इसलिए न वहाँ हर्ष होता है और न भय होता है। इसके विपरीत जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में प्रिय सामग्री से हर्ष और अप्रिय वस्तु से भय उत्पन्न होता है। इसलिए सुषुप्ति कालिक आत्मस्थिति को ही आत्मा का स्वभाव जानो। ये हर्ष-भय-काम-क्रोधादि शरीर के तादात्म्यभाव के कारण होते हैं, इसे (शरीर के साथ आत्मता) त्यागो। यह अविद्या के कालुष्य से प्राप्त होते हैं। आत्मा तो साक्षी मात्र है, आनन्दस्वरूप है। जाग्रत् अवस्था में शरीर के तादात्म्य को त्यागो। जाग्रत् अवस्था में कालुष्य (पाप) अधित होते है। स्वप्न में भी कुछ न कुछ कालुष्य है। अत: जाग्रत् और स्वप्न के स्थूल और सूक्ष्म कालुष्य का त्याग कर दो; क्योंकि यह सभी आधि-व्याधियों के जनक (उत्पादक) हैं। इसके त्याग कर देने पर (तीनों अवस्थाओं के त्याग करने पर) आत्मा में सम्प्रसादन प्राप्त करोगे। (अनु.प्र. ५,२४,२५,५७,५८)

● ● ✿ ● ●

**ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये, प्राणिनो मे वपुः स्मृताः**
**अदुष्टा सूर्यभायद्वत्, चाण्डादिस्थाप्यसौ।। (अनु.प्र. ५/७७)**
**द्रष्टाऽहं कृत्यवच्छिन्नः, दर्शनं चक्षुषः क्रिया।**
**दृश्यं रूपमिदं सर्वा, त्रिपुटी भाति साक्षिणि।।९०।।**

ब्रह्मा आदि से लेकर स्थावर पर्यन्त जो शरीर है, वह आत्मा (ब्रह्म) का ही है। सभी दृश्य स्वरूप परमात्मा का है। परमात्मा शरीरी है। सूर्य की किरणें सभी पदार्थों पर समान रूप से ही प्रसरित होते हैं। सूर्य पवित्र-अपवित्र-स्थूल-सूक्ष्म के विचार को नहीं रखता। वह सामान्य रूप से अपने प्रकाश को सब पर फैला कर प्रकाशित करता है। उसी प्रकार परमात्मा सबके प्रकाशक हैं। सबके साक्षी हैं। अहं कृति से अवच्छिन्न चेतन (अन्त:करण) कर्त्ता है, चक्षु की क्रिया दर्शन है और यह सम्पूर्ण जगत् दृश्य है, यह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय रूप त्रिपुटी का साक्षी आत्मा है। साक्षी चेतन श्रोत्र-त्वक्-नेत्र-रसना-और घ्राण इन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साधनों के द्वारा अपने अपने विषय को देखता हुआ है। साक्षी के प्रकाश से भासित इन विषयों को इन्द्रियाँ जानती हैं। ये इन्द्रियाँ-प्राणादि समस्त विषय मन को समर्पित कर देते है और मन उन-उन इन्द्रियों और प्राणों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर विषयों को जानता है। वह इसलिए सर्वसाधारण धर्मवाला कहलाता है। (अनु.प्र. ५/७७,९०)

● ● ✿ ● ●




**साक्षिणः भासकत्वेऽपि, रूपगन्धादिभित्तये।**
**चक्षुर्घ्राणाद्यक्षजातं, सर्वसाधारणं मनः।।**
**अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तं वेदमध्यापयतीत।**
**एकादशवर्षं क्षत्रियं, द्वादशवर्षं वैश्यम्।।** (श्रुतिः)
**न विनानुष्ठितं कर्म, वेदनं पर्य्यवस्यति।**
**ब्रह्मधीस्तावदैव स्यात्, फलादेति परा मता।।** (अनु.प्र. ६/१०)

आठ वर्ष के ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करा कर उसको वेदाध्ययन कराना चाहिये। इसी प्रकार क्षत्रिय बालक को ग्यारह वर्ष में और वैश्य को द्वादश वर्ष में कराना चाहिये। (श्रुति) कर्म के अनुष्ठान किये बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। कर्मानुष्ठान द्वारा इन्द्रियों सहित अन्तःकरण के तम और रज गुणों का आधिक्य नष्ट होकर सतोगुणाधिक्य को प्राप्त होता है, जिसे अन्तःकरण की शुद्धि कही जाती है। अन्तःकरण की शुद्धि के अनन्तर सद्गुरु के वाक्य का उपदेश एवं श्रुत्यादि वाक्यों के मननादि द्वारा विवेकोत्तरकाल में धारणा की प्राप्ति होती है। धारणा दृढ़ होने पर ध्यान और ध्यान के परिपक्वता होने पर समाधि तथा समाधि के सम्यक् परिपाक होने के अनन्तर अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है, तदन्तर चित्तवृत्यादि उपाधित्यागपूर्वक अभेद वेदन और अभेद वेदनान्तर वेदनादि धर्म का भी लय कर केवलभाव की प्राप्ति होती है। इसी को ब्रह्मभाव, केवल भाव, निर्विकल्प अवस्था आदि विभिन्न शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यही फल है और इसी को परात्मता कहते हैं, यही परा गति है। (अनु.प्र. ६/१०)

⊛ ⊛ ✿ ⊛ ⊛

**पुरुषो मायया सर्व-जगद्रूपेण भासते।**
**सर्वं पुरुष एवातः, वस्तुतत्त्वावलोकने।।५४।।**

चैतन्यं साक्षी ब्रह्म।

अज्ञोऽहं इत्यविद्याग्रन्थिः।



देहत्रय गुहायाम्।

'आविः सन्निहितं गुहाचरम्
तत्सत्यं अमृतम्' इति धीः बोधः।

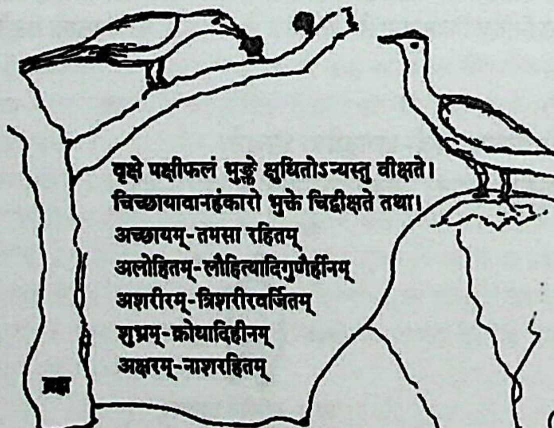


**अहङ्कारस्य कर्तृत्वचित्यध्यस्य, तथाचितः।**
**स्फूर्तिं चाहं कृतौ ग्रन्थिं, कुर्यान्मायातयोर्दृढम्।।६७।।**

यह जो पुरुष (परमात्मा) है, वह अपनी स्वकीय माया के द्वारा ही (अद्वितीय स्वरूप होते हुए भी) जगद्रूप (अनेक रूप) से प्रकट दिखाई दे रहे हैं। यह सम्पूर्ण जगत् वस्ततुः वही पुरुष ही है, परन्तु यह दर्शन तात्त्विक दृष्टि से ही सम्भव होता है। तत्त्वज्ञ ही परमात्ममय जगत् को देखता है। अज्ञानी तो दोषाधिक्य के कारण नानात्व रूप से ही जगत् को देखता है। नानात्व मिथ्या है, एकत्वेन परमात्मत्वेन दर्शन ही परमार्थता है। चैतन्य साक्षी ही ब्रह्म है। 'मैं अज्ञ हूँ, नहीं जानता हूँ, अमुख को नहीं समझता हूँ' यही अज्ञान की ग्रन्थि (गाँठ) है। उसी गाँठ के कारण जीवात्मा स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण देहत्रय गुहा में स्थित आत्मा को नहीं जानता, नहीं देख पाता है। उस आवि (आत्मा) से व्याप्त यह निखिल चराचर जगत् है। सम्पूर्ण जगत् ईशावास्य है (परमात्मा से आच्छादित है) यही सत्य है, यही अमृत है और यही तात्त्विक बुद्धि परमार्थता है, शेष इससे भिन्न ज्ञान मिथ्या है। कर्तृत्वादि अनुभूति अहंकार रूप कार्य है। यह अहंकार चित्तवृत्ति में अध्यस्त (प्रतिफलित प्रतिबिम्ब) है। अहंकार की स्फूर्ति (स्फूरण) को ही ग्रन्थि कहा जाता है। उसी अहंकार रूप स्फूर्ति से माया ने दृढ़तापूर्वक ग्रन्थिद्वारा जीवात्मा को बाँध रखा है। इसलिए जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। उस ग्रन्थि का उन्मोचन तत्त्वज्ञान से सम्भव होता है। (अनु.प्र. ६/५४, ६७)

• • ❁ • •

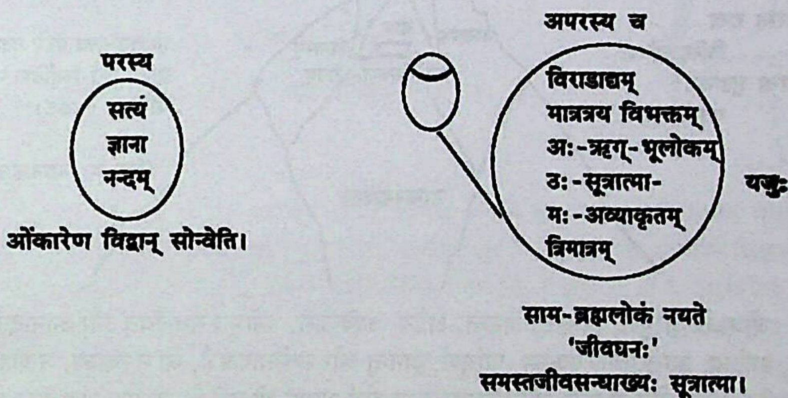
**परमव्याकृतं यस्मादवरं स सच्चिदात्मा-परावरः।** (अनु.प्र.-६)
**अहङ्कारः-युङ्क्ते।**
**भोक्तरि मग्नः-शोचति। चिद्-वीक्षते**




(अनु.प्र.-६)

परम व्याकृत से परे सत्-चित् स्वरूप आत्मा है, इसलिए उसे परावर कहते हैं और व्याकृत (जगत् सृष्टि) को अवर कहते हैं। अहंकार ही भोग करने वाला होता है, इसलिए अहंकार भोक्ता है। चिदात्मा तो उससे परे है, वह देखता हुआ मात्र है, इसलिए वह साक्षी है। भोग में मग्न होने के कारण भोक्ता केवल सोचता है। वह भोग का अनुभव करता है, इसलिए जीवात्मा है। प्रतीक चित्र द्वारा इसी तथ्य को दर्शाकर सुलभ ढंग से सुस्पष्ट किया गया है कि वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, एक तो क्षुधा के वशीभूत होकर फल की भक्षण करता है और दूसरा तो देख रहा है, जो साक्षी (द्रष्टा) मात्र है। अन्त:करण में जो चित् (चेतन) की छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ती है वही अंहकार है, वही भोक्ता पक्षी रूप है। वस्तुत: चित् देखता मात्र है। अच्छाय जो होता है, वह छाया नहीं है, प्रतिबिम्ब नहीं है, वह बिम्बस्वरूप है वह तमोगुण रहित होता है, वह अलोहित है अर्थात् रजोगुण से भी रहित है। वह अशरीर है अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है। वह शुभ्र (निर्मल) है, क्योंकि क्रोध-मोह-लोभ-तृष्णा-ममता-अहंता ईर्ष्या-मात्सर्यादि गुणों से सर्वथा रहित है, वह निर्मल, स्वच्छ, निरञ्जन है। वह अक्षर है, नाशरहित है, नित्य है, शुद्ध बुद्ध-मुक्तस्वरूप है, वही ब्रह्म है, वह न तो कर्त्ता है और न ही भोक्ता है, वह तटस्थ है, इसलिए साक्षीमात्र है। (अनु.प्र. ७)

## ॐकारः प्रतीकं स्यात्। (अनु प्र. ७)

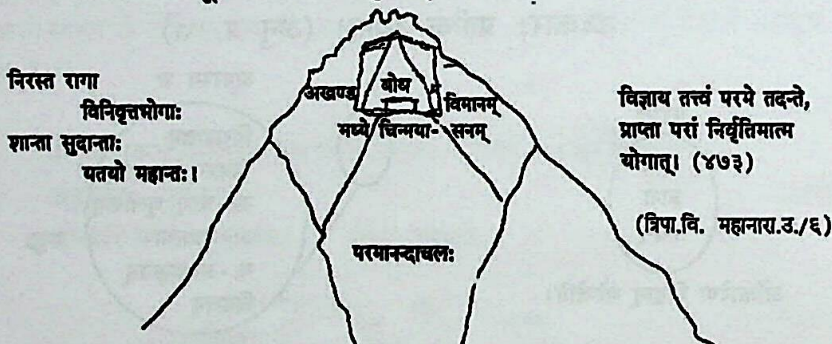



ॐकार प्रणव ब्रह्म का प्रतीक है 'ब्रह्म प्रति कति नयतीति प्रतीक:' इक् गतौ' जो ब्रह्म को प्राप्त करावे, उसे प्रतीक कहते हैं। प्रणव भी ब्रह्म को ही प्राप्त कराता है। 'प्रकृष्टेन नयति ब्रह्माणमिति प्रणव:' जो सुनिश्चत और सम्यक् रूप से ब्रह्म को प्राप्त करा देता है, वह प्रणव है। वह प्रणव रूप ॐकार विराड् आदि वाचकत्वेन ब्रह्म वाचक और प्रापक होता है। प्रणव स्वरूप ॐकार तीन मात्राओं में विभक्त है—अ:+ऊ:+म:=ॐ (ओम्) इस रूप से उसे समझना चाहिये। 'अ:' ऋग् वेद और भूलोक तथा विराड् वाचक है। ऊ: यजुर्वेद अन्तरिक्षलोक हिरण्यगर्भ वाचक है और 'म:' सामवेद सूत्रात्मा ब्रह्मलोक वाचक है। तीनों मात्राएँ एकात्मरूपता प्राप्त करने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है। यह तटस्थ लक्षण

ब्रह्म है। स्वरूप लक्षण ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' कहा है। जो सत्य स्वरूप-ज्ञानस्वरूप-आनन्द स्वरूप ब्रह्म है, वही स्वरूप लक्षण है। उस स्वरूप लक्षण ब्रह्म को प्राप्त कराने के कारण ही प्रणव प्रतीक ब्रह्म कहलाता है। श्रुति कहती है—'ओंकारेण विद्वान् सोन्वेति' ओंकार से विद्वान् ब्रह्म को प्राप्त करता है। अतः प्रतीकोपासना का महत्त्व अपने जगह महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रतीक साधन है और ब्रह्म साध्य है। यह नियम है कि साधन के द्वारा साध्य प्राप्तव्य होता है। (अनु.प्र. ७)

• • ❁ • •

परिपूर्णमनाद्यन्तं, अप्रमेयमक्रियम्।।४६५।।
सद्घनं चिद्घनं नित्यं, आनन्दघनमक्रियम्
अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम्
निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं, निर्विकल्पं निरञ्जनम्
अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्
सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं, शुद्धं बुद्धमनीदृशम्
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम्।।४७२।। (वि.चू.)




जो सर्वत्र परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रेय, अविकारी, घनीभूत सत्-चित् और आनन्द है, एक, नित्य, अक्रिय, अन्तरात्मा, एकरस, परिपूर्ण, अनन्त और सर्वव्यापक है, जो न त्याज्य, न ग्राह्य और न ही किसी में स्थित होने योग्य है और जिसका अन्य कोई आधार भी नहीं है, जो गुण तथा कला से रहित, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निर्मल है एवं जिसका रूप वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जो मन-वाणी का विषय नहीं है, जो सत्य, वैभवपूर्ण, स्वतःसिद्ध, शुद्ध, बोधस्वरूप और सकल उपमाओं से रहित है, ऐसा अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है, उसे नानात्व पदार्थ कुछ भी नहीं है। (वि.चू. ४६५/६६/७२)

जिनका किसी भी जगद्वस्तु में राग नहीं है और भोगेच्छा का सर्वथा अन्त हो चला है तथा जिनका चित्त शान्त एवं इन्द्रियाँ संयत हैं, वे महात्मा-साधक संन्यासीजन ही इस परमात्मतत्त्व को जानकर अन्त में अध्यात्मयोग के द्वारा परम शान्ति को प्राप्त हुए है और होते हैं। अपने अज्ञानरूप बन्ध का संसर्ग नष्ट हो जाने पर सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति में शास्त्र, युक्ति, गुरु के उपदेशरूप

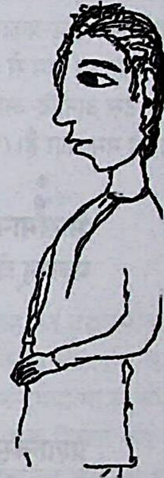
वाक्य और स्वान्त:करण से सिद्ध होने वाला अपना अनुभव प्रमाण (हेतु) हैं। श्रुतिवाक्य के समान ही गुरु का उपदेश भी ब्रह्म का मात्र तटस्थरूप का ही बोध कराता है, अत: विद्वान् साधक को ईश्वरानुगृहीत बुद्धि से परमात्मा का साक्षात् कर संसारसागर का सन्तरण करना चाहिए। अपने स्वानुभव द्वारा अखण्ड आत्मा को स्वयं जानकर सिद्ध हुआ साधक पुरुष निर्विकल्पभाव को प्राप्त हो आनन्दैकरसानुस्वादपूर्वक नित्य आत्मा में स्थित रहे, यही परमानन्द अचलानुभूति मोक्ष-मुक्ति-निर्माण-विदेहभाव आदि नामों से वेदान्त-उपनिषदादि सिद्धान्तसिद्ध स्वरूप परमात्मा-जीवात्मा का अभेद ब्रह्मात्म्येक भाव है। (त्रिपाद वि.महा ना.उ. ३०/६)

• • ❁ • •

**भासमानमिदं सर्वं, सर्वगं**
**भानरूपं परं पदम्। सच्चिदानन्दं**
**पश्यन् वेदान्तमानेन, ज्ञानचक्षु**
**सद्य एव विमुच्यते।। निरीक्षते।।१८।।**

(वाराहोप नि. २/१४)

**स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रम्;**
**सर्वदा सर्वे देहिनाम्।।२४।।**
**प्रपञ्चानुभवः सदा न हि,**
**स्वस्वरूपबोधानुभवः सदा खलु।।३१।।**



साधक वेदान्त वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट नानात्व निषेधक वाक्यों को तथा सृष्टि के प्रत्येक वस्तुओं में ब्रह्म की व्यापक स्मारक वाक्यों को ध्यानगत रखकर उपासना करे जिससे कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' द्वारा नानात्व निषेध बुद्धिपूर्वक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' द्वारा निखिल वस्तुओं में ब्रह्म की ही आधिष्ठानिक स्थिति की बुद्धि दृढ़ हो; का निरन्तर चिन्तन-मनन करे। इस तरह निरन्तर अभ्यास के द्वारा सभी भासमान (प्रतीयमान) वस्तुओं में उस व्यापक ब्रह्म की नित्य दृष्टि (ज्ञान) (प्राप्त होता है वह ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है, इस तरह आभ्यन्तर और बाह्म वस्तुओं में अनुभूति प्राप्त करे। प्रयत्न तथा युक्ति एवं गुरु तथा वेदान्त वाक्य की सहायता से सभी वस्तुओं में ब्रह्म दृष्टि को प्राप्त होने पर वह साधक मुक्त हो जाता है। (वाराहोपनि. २/९४)

उस ब्रह्म का स्वरूप वस्तुतस्तु चिन्मात्र ही है और वह सभी देहधारी प्राणियों में व्याप्त है। इस संसार प्रंपञ्च का बोध निरन्तर नहीं होता, परन्तु अपने स्वरूप का ओध निरन्तररूप से अनुभव होता है।

• • ❁ • •

**यस्मिन् संलीयते शब्दः, तत्परं ब्रह्म गीयते।** (महावा. र. ६/४६)
**महाचिदेकैवेहास्ति, महासत्तेति चोच्यते।**

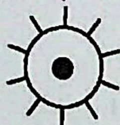
**निष्कलङ्का समा शुद्धा, निरहङ्काररूपिणी।।९।।**
**सकृद्विभाता विमला, नित्योदयवती शुभा।।११।।**
**सा ब्रह्म परमात्मेति, नामभिः परिगीयते।।१२।**
**अनाद्यानन्दकूटस्थः ज्ञानानन्तसदात्मने**
**अभूतद्वैतजालाय, साक्षिणे ब्रह्मणे नमः।।** (पञ्चपादि. १)

जिसमें शब्द का लय हो जाय, उससे परे ब्रह्म है, ऐसा श्रुति-स्मृति का कथन है। वह महाचित् नामक ब्रह्म इस प्रपञ्च जगत् में महासत्तात्मक है। वह सभी पापों से रहिता-अद्वितीया-शुद्धा-निरहंकार स्वरूपिणी-एका-प्रकाशस्वरूपा-विमला-नित्या उदयवती और शुभा नाम से जो कही जाती है, वही ब्रह्म और परमात्मा नाम से वेदान्त के श्रुति वाक्यों द्वारा गायी गयी है।

उस अनादि-आनन्दस्वरूप-कूटस्थ-ज्ञानस्वरूप-अनन्तर-सदात्मा द्वैतरूप से भासित-सबके साक्षी ब्रह्म को नमस्कार है। (पञ्चपादि. १)

● ● ✿ ● ●

**भासमानमिदं, सर्वं, भानरूपं परं पदम्।**
**पश्यन् वेदान्तमानेन, सद्य एव विमुच्यते।।**

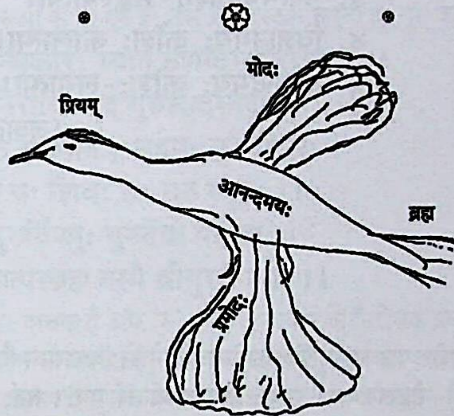


**प्रशान्तसर्वसङ्कल्पं, विगताखिलकौतुकम्**
**विगतशेषसंरम्भं, चिदात्मानं समाश्रय।।२३।।**
**एवं पूर्णधियो धीराः समानीरागचेतसः।**
**न नन्दन्ति न निन्दति जीवितं मरणं तथा।।२४।।** (अन्नपूर्णा उ./५)

यह दृश्यमान जगत् प्रतिभास मात्र है अर्थात् मिथ्यारूप ही है और भान (अनुभव विज्ञान रूप ब्रह्म) इससे परे है, अतः वेदान्त सिद्धान्त के प्रमाणों के द्वारा इसे जानना चाहिये। वेदान्त ब्रह्मसूत्र गीता आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों तथा प्रमुखतः उपनिषदों में गर्भित विद्याओं और सद्गुरु एवं स्वात्म प्रयत्न एवं युक्तियों से सतत् प्रयास (चिन्तन-मनन) के द्वारा साक्षात् ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आत्मा-परमात्मा का अभेद (अपरोक्ष) ज्ञान ही मोक्ष अथवा मुक्ति है, यह ध्यान रहना चाहिये।

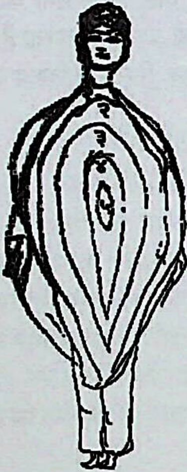
सभी प्रकार के संकल्पों से रहित और चेष्टा (क्रिया) से रहित एवं सकल विक्षोभ से शून्य जो चित्स्वरूप आत्मा है, जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव-अज-निराकार-निर्विकार नीरस-निर्द्वन्द्व और परमानन्द स्वरूप है, ऐसे स्वरूप का आश्रय करो। उसमें स्थित होओ अर्थात् आत्मस्थ होओ। क्योंकि इस प्रकार से जो आत्मा को जानता है, वही पूर्णधी है। जो पूर्णधी होता है, वह समा अवस्था को प्राप्त पुरुष है अर्थात् शोक-दुःख-सुख-हानि-लाभ-मान-अपमान-निन्दा स्तुति उसके लिए समान होता है, क्योंकि वह

नीराग (रागरहित) हो जाता है, उसके (नीराग-रागरहित के लिए) जीवन और मरण सभी व्यवहार व्यावहारिक (मिथ्या) मात्र होता है। वह न किसी की निन्दा करता है और न ही प्रशंसा ही करता है और वह न किसी से निन्दित तथा प्रशंसित ही अपमे को अनुभव करता है। वह निन्दा-स्तुतिरूप जगद् व्यवहार से परे हो जाता है।




प्रकृत उपस्थित प्रतीक विषयक प्रसंग में आत्मा का आनन्दादि स्वरूप कह कर ब्रह्मात्म्यैक्य ही साधक के साधना का परम लक्ष्य है, ऐसा उपस्थित कर परम पुरुषार्थरूप मोक्षत्व का दिग्दर्शन कराया गया है। साधक प्रतीक हंस रूप आत्मा का ब्रह्मरूप से उपासना करें। वह ब्रह्म आनन्दमयात्मा स्वरूप है, उसके दो पक्ष पंख हैं, उत्तर पक्ष मोदरूप और द्वितीय दक्षिण पक्ष प्रमोद रूप है। मुख प्रियता रूप और पुच्छ में ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। इस तरह आनन्दमय ब्रह्म में प्रियादि अवयवों का योग का शरीरत्व श्रवण होता है।-

'तस्य प्रियेव शिरः' मोदो दक्षिणपक्षः, प्रमोद उत्तरपक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।' (श्रुति) इष्ट वस्तु का दर्शन जन्य जो सुख विशेष उसे प्रिय कहा जाता है और वहीं ब्रह्मशिर है अर्थात् शिरःरूप ब्रह्म का ध्यान करणीय है। इष्ट वस्तु का लाभ जन्य कहा जाता है तथा वह आनन्दमय आत्मा का दक्षिण पक्ष मोद है। उक्त स्वरूप का ध्यान मोद रूप से ध्येय है। इष्टवस्तु का भोगजन्य जो सुख विशेष वह प्रमोद है और वह आनन्दमय आत्मा का वामपक्ष उक्तरूप से उपासनीय है। इस प्रकार प्रिय-मोद-प्रमोद अवयव में सामान्यबुद्ध्या अनुगत जो सुखाभासरूप आनन्द है, वही आनन्दमय आत्मा का आत्मा (स्वरूप) है। सबके अन्तर्भूत परब्रह्म आनन्दमय का पुच्छ (प्रतिष्ठा) है अर्थात् पुच्छरूप से ब्रह्म की प्रतिष्ठा का ध्यान करना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि जो विद्या कल्पित द्वैत प्रपञ्च का अवसादरूप है अर्थात् अधिष्ठान रूप अद्वितीय ब्रह्म है, वही आनन्दमय ब्रह्म का पुच्छरूप से प्रतिष्ठा-अधिष्ठान रूप है- **'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तै.उ. ३-६) **'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति'** (तै.उ. २/८)। **'आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन'** (तै.उ. २/९) **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ. ३.३/९/२८)। उसी को श्रुतिवाक्यों द्वारा आत्मा का आनन्दमय स्वरूप विनिश्चित किया गया है।



१. अन्नमयः कोशः-भूतात्मा।
२. प्राणमयः कोशः-इन्द्रियात्मा।
३. मनोमयकोशः-सङ्कल्पात्मा।
४. विज्ञानमयः कोशः कालात्मा।
५. आनन्दमयः कोशः-लयात्मा।

(जबालोपनिषद्)

यह पञ्चभौतिक शरीर पञ्च महाभूत विकारोत्पन्न होने से विकारमय है। आत्मा उन विकारों से जन्य पंचकोशों से आवृत है- **देहाभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः। ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा।।** (पंचदशी ३/२) इस अन्नमय शरीर के भीतर प्राणमय शरीर है, प्राणमय शरीर के भीतर मनोमय शरीर है, मनोमय शरीर के भीतर विज्ञानमय (कर्ता) शरीर है और विज्ञानमय शरीर के भीतर आनन्दमय (भोक्ता) शरीर है। **अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते। कोशास्तैरावृतः स्वात्माविस्मृत्या संसृतिं व्रजेत्।।** (पंचदशी १/३३) इसी अन्नमयादि कोश से आवृत आत्मा के विस्मरण (विवेक के अभाव) से यह जीवात्मा संसृति (जननादि प्राप्ति रूप संसार) को प्राप्त होकर कर्तृत्व-भोतृत्वाहंकाराभिभूत होकर अत्यन्त दुःखमय भोग को भोगता है। साधक-ज्ञानी-भक्त जिज्ञासु जन इस पंचकोश के विवेक से अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक के (प्रत्यगात्मा के विवेचनपूर्वक पृथक्करण) द्वारा आत्मा का पृथक बोध ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है- **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पंचकोशविवेकतः। स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते।।** (पंचदशी १/३७) अतः साधक जिज्ञासुओं को पंचकोशविवेक दिशा में चिन्तन-मनन कर आत्मा का इन कोशों से पृथक् बोध प्राप्त कर अपने परमात्म-परं ब्रह्म स्वरूप को ध्येय बना कर चिन्तनादि करना चाहिये। ध्येय है कि अन्नमय सभी कोषों में स्थूलतम और अन्य कोश पूर्ववर्ती कोशों से उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम हैं।- अन्नमय कोष को भूतात्मा, प्राणमय को इन्द्रियात्मा, मनोमय को संकल्पात्मा, विज्ञानमय को कालात्मा, और आनन्दमय को लयात्मा कहते हैं। (जावालोपनिषद्)

• • ❁ • •

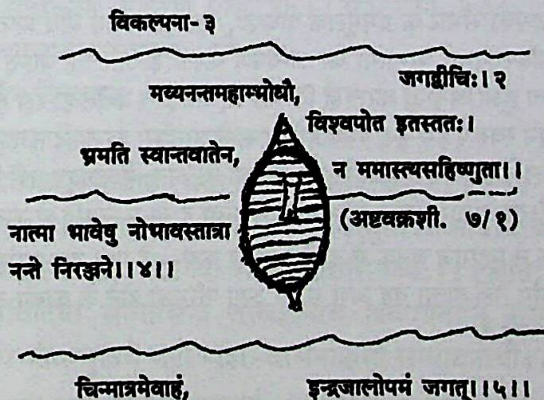
**सर्वात्मभावनावन्तं, सेवन्ते सर्वसिद्धयः।** (दक्षि. स्तो. वार्ति. २२)
**सच्चिदानन्दरूपा, बिन्दुनादान्तरात्मने।**
**आदिमध्यान्तशून्याय, गुरूणां गुरवे नमः।।**

जो व्यक्ति सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को ही देखता है—अनुभव करता है, उसको सभी प्रकार की सिद्धियाँ आकर वरण कर लेती हैं और मनोवाञ्छित फल को प्रदान करती हैं। 'स पूर्णकामः' यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत विजानतः'। (श्रुति)

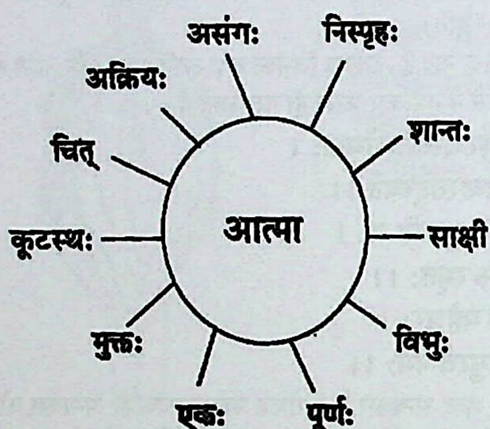
सत्-चित्-आनन्द स्वरूप और बिन्दु तथा नाद है  स्वरूप जिसका तथा आदि-मध्य और अन्त से रहित स्वरूप वाले जो गुरुओं के भी गुरु है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ। गुरु कहते हैं—

**गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।**
**अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुशब्दस्तदुच्यते ।।**
**ईश्वरो 'गुरु आत्मेति', अहमः गुरु हि सः ।**
**शिवप्रोक्तो यः शिवः सः गुरु स्मृतः ।।**
**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।**
**गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।**

'गु' शब्द अन्धकार वाचक है और 'रु' शब्द अन्धकार के निरोधक प्रकाशवाचक है। अन्धकार को निरोध करने की शक्तिवाला जो प्रकाश है, उसे गुरु कहते हैं। अन्धकार अज्ञान का बोधक है और प्रकाश ज्ञान का बोधक है और जो उपदिष्ट ज्ञान के द्वारा अज्ञानी शिष्य के अज्ञान को निवृत्त करके यथार्थ तत्त्व (परमात्मा) का साक्षात्कार (अपरोक्ष बोध) करा दे, वह गुरु कहलाता है। गुरु में शिव में कोई अन्तर नहीं होता, वे दोनों तत्त्वतः एक ही होते हैं। गुरु ब्रह्मविष्णुशिवात्मक स्वरूप साक्षाद्ब्रह्म ही है। इसलिये साधक को सर्वतोभावेन मनसा-वाचा कर्मणा पवित्र भाव से गुरु की सेवा-शुश्रुषा करनी चाहिये। (दक्षि.स्तो.वार्ति. २२)



**असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी।** (अष्टावक्र गीता १/५)

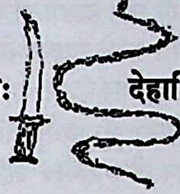



**भ्रमात्संसारवानिव।।१२।।**

साधक शिष्य को गुरूपदिष्ट उपदेश का चिन्तन मनन-ध्यान-धारणा-परिपक्व हो जाती है तो मन की विकल्पना (संकल्प) रूप संसार दुस्तरसागर के समान भयंकर प्रतीति होने लगती है और उसे संसार से विरक्ति होने लगती है। विरक्ति के परिपक्व होने पर मन की विकल्पना (संकल्पविकल्पात्मकता) नष्ट हो जाती है। 'संकल्पविकल्पात्मकं मन:' मन संकल्प और विकल्प स्वरूप वाला होता है। अत: मन के स्वरूप का ध्येय आत्मा में लय हो जाने पर उसे जगद्रूपी सागर के तरंग में जीवरूपी पोत पर आरुढ़ मन इधर-उधर दिशाहीन तैरता हुआ प्रतीत होता है और पोत (जहाज) को अन्त:करण की वासानारूपी बात (वायु) यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ (इस इष्ट विषय वस्तु से उस इष्ट विषय वस्तु में) ले जाकर भ्रमाते रहता है। जब उसको संसार के भ्रममूलक बोध हो, तब वह यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिये उस जगत् के मूलाधार अधिष्ठानभूत परमात्मा का अन्वेषण करता है और वह शान्त चित्त को प्राप्त कर स्थिरता को प्राप्त करता हुआ अनुभव करता है कि यह जो जगद्भाव प्रतीत हो रहा है, वह सत्य नहीं है, क्योकि वह ब्रह्म निरञ्जन स्वरूप है—निरवयव है और सभी जगद्वस्तु का उपादान कारण है, इसलिए उस पादान ब्रह्म में इन्द्रजाल के समान भ्रमरूप से यह भासता है। अत: मैं जगद्रूप नहीं हूँ। शरीर नहीं हूँ। मैं चिन्मात्र स्वरूप ब्रह्म हूँ। इस प्रकार साधक को यथार्थ ज्ञानान्तर दु:ख से निवृत्ति हो जाती है।

ब्रह्मर्षि अष्टावक्र ने महाराज जनक से उपदेश वचन कहा—हे पुत्र! तुम असंग आत्मा स्वरूप हो। आत्मा का किसी से संग नहीं होता। वह अणु से भी अणु परिमाण होने के कारण असंग-निराकार और सम्पूर्ण विश्व का साक्षी मात्र है।

बोधोऽहं ज्ञानखड्गः



देहाभिमानपाशः

स्वप्रकाशो निरञ्जनः।।१५।।
एकं सर्वगतं व्योम, बहिरन्तर्यथघटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म, सर्वभूतगणे यथा।।२०।।



अहंकार को ज्ञानरूपी खड्ग (तलवार) से काट दो; क्योंकि अहंकार (देहाभिमान) पाश (बान्धनवाली रस्सी) है और उससे (अहंकार से) जीव बद्ध हो जाने पर अपने स्वरूप को विस्मृत हो जाता है और अपने को कर्ता-भोक्ता आदि रूप से भ्रमवश जानने लगता है, परन्तु हे वत्स जनक तुम स्वप्रकाश स्वरूप हो-निरञ्जन स्वरूप ही तुम हो। जिस तरह घटाकाश और महाकाश में तात्त्विक भेद नहीं होता, वह उपाधिभेद से व्यवहृत होता हुआ भी तात्त्विक दृष्टि से एक और अभेद स्वरूप ही होता है, वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा में आत्मतत्त्वेन अभेद है और उपाधिभेदेन वह भिन्नवत् दिखता है, जो मिथ्या है।

• • ✿ • •

अहो निरञ्जनः शान्तः, बोधोऽहं प्रकृतेः परः।। (अष्टाव.गी. २/१)
देहातीतं सदाकारं, सुदुर्दशं भवादृशैः। (अपरोक्षानु. ३०)
(१- श्रुत्याचार्यश्रद्धाशून्यैः, टी.)
अहं शब्देन विख्यातः, एक एव स्थिरः परः।।३१।।
अहं द्रष्टृतया सिद्धः, देहो दृश्यतया स्थितः।।३२।।
चैतन्यस्यैकरूपत्वात्वाद्, भेदो युक्तो न कर्हिचित्।।४३।।

य आत्माऽपहतपाम्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः। सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।। (श्रुतिः)

यथा विविदिषा संन्यासिना तत्त्वज्ञानाय श्रवणादीनि सम्पादनीयानि, तथा विद्वत्संन्यासिनापि जीवन्मुक्तये मनो नाश-वासनाक्षयौ सम्पादनीयौ।। (जीवन्मु. वि.)

'अहो आश्चर्ये' अहो का अर्थ आश्चर्य और खिन्नता अर्थ प्रकटन हेतु प्रयुक्त है। गुरु द्वारा उपदिष्ट होने पर स्वात्म बोध को प्राप्त साधक शिष्य दुःखपूर्वक कहता है कि यह महद् आश्चर्य का

विषय है कि मेरा जो निरञ्जन-शान्त और ज्ञान स्वरूप जो स्वरूप है वह प्रकृति से परे है, लेकिन मैं प्रकृति का कार्य शरीर रूप से जानता था। आज अपने स्वरूप को ब्रह्म रूप से जान और पहचान कर मुझे अपने पूर्व अज्ञान पर आश्चर्य और दुःख है। (अष्टावक्रगी. २/१)

मैं देहातीत हूँ। सदा सत्य स्वरूप हूँ। परन्तु श्रुति और आचार्य में श्रदद्धा नहीं रखने वालों के लिये इस आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना सम्भव नहीं है; क्योंकि 'शान्तो दान्त: उपरत: तितिक्षुः समाहित: श्रद्धाचितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (श्रुतिः) अर्थात् शान्त-दान्त-उपरत-तितिक्षु-समाहित-श्रद्धाचित पुरुष ही आत्मा में आत्मा को दर्शन करता है। **शान्त-** निषिद्ध शब्दादिक विषयों से मन को रोकने वाले पुरुष को कहते हैं। **दान्त-** निषिद्ध शब्दादिक विषयों से बाह्य चक्षुरादिक इन्द्रियों को रोकने वाले पुरुष को कहते हैं। **उपरत-** उपरति उपरामता या संन्यास है और उपरति वाले पुरुष को उपरत कहते हैं। तितिक्षु-शीत-उष्ण-सुख-दुःख द्वन्द्वों को सहन करने वाले पुरुष तितिक्षु है और **समाहित** स्थिर चित्त वाले को कहते हैं। **श्रद्धाचित** श्रीगुरु के वाक्यों तथा वेदान्त (श्रुति) वाक्यों में श्रद्धा ही है धन जिसका वह श्रद्धाचित्त है। (अपरोक्षानु. ३०)

अहं शब्द से एक अद्वितीय निश्चल आत्मा (ब्रह्म) का ही अर्थ प्रसिद्ध है और वह अहं शब्दवाच्य आत्मा सर्वद्रष्टा (देखने वाला) अर्थ को प्रकट करने वाला है, यह भी विख्यात है तथा शरीर दृश्यतया (दृश्य रूप से) प्रसिद्ध है। अत: अहं का आस्पद आत्मा निश्चल-द्रष्टा (साक्षी) तथा शरीर दृश्य (विषय) जगद्रूप (मिथ्या) प्रकृति है, ऐसा जानना चाहिये। (अपरोक्षानु. ३१, ३२)

चैतन्य की एकरूपता (अद्वितीय) स्वरूप ही परमार्थिक सत्य है। चेतन-आत्मा में भेद नहीं होता है। चेतन के आत्मस्वरूप होने से तथा अद्वितीय होने के कारण एकत्व (अद्वितीयत्व) ही सिद्ध होता है, क्योंकि एक में भेद नहीं होता, अपितु दो में होता है। (अपरोक्षानु. ४३)

जो आत्मा सकल पापों (मलों) से रहित, अजन्मा, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित है और सत्यकाम, सत्यसंकल्प वाला है, वह विशेष रूप से जानने योग्य है, अत: उसे जानो। (श्रुति)

जिस प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाले संन्यासियों के गुरु और शास्त्र के द्वारा श्रवण मनरन-निदिध्यासनादि कर्म का सम्पादन करणीय होता है, उसी प्रकार विद्वान् संन्यासियों को भी जीवन्मुक्ति के लिये मनोनाश और वासना के क्षय के लिए शास्त्रादि वचनों के मननादि और तदनुकूल युक्तियों का आश्रय कर्म सम्पादनीय होता है।

• • ❁ • •

**यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो, विभिन्नं सर्वसाक्षिणम्।**
**पारमार्थिकविज्ञानं, सुखात्मानं स्वयं प्रभम्।**
**परं तत्त्वं विजानाति, सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्।।**
**महदादि जगन्माया, मयं मय्येव कल्पितम्।**
**केवलं चित्सदानन्दो, ब्रह्मैवात्मा यथार्थतः।।**

जो शरीर-इन्द्रिय आदि से भिन्न है, वही सर्वसाक्षी ब्रह्म है और उस ब्रह्म के पारमार्थिक विज्ञान स्वरूप-आनन्दस्वरूप स्वप्रकाश आत्म तत्त्व को जानता है, वही अतिवर्णाश्रमी (संन्यासी) होता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी होता है। महत् (बुद्धि) आदि जो जगत् (संसार) है, वह मायिक स्वरूप है और मुझ (आत्मा) में ही कल्पित है; क्योंकि मैं (आत्मा) यथार्थतः सत्-चित्-आनन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ। ऐसा जानने वाले साधक के वासना और मन का क्षय हो जाता है।

## वासना

**द्विविधा-** {
**शुद्धा-जन्मविनाशिनी-देहार्थं ध्रियते ज्ञात-ज्ञेया।**
**मलिना-पुनर्जन्मकरी-अज्ञानसुघनाकाराघनाहङ्कारशालिनी।**

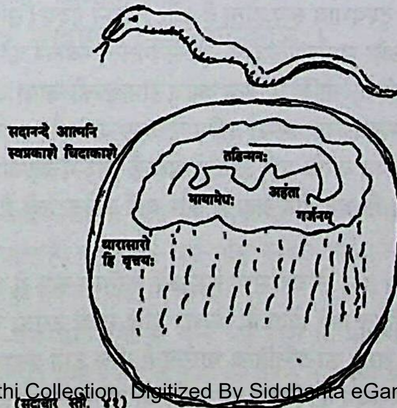
→ **त्रिधा-** {
**लोकवासना**
**शास्त्रवासना**
**देहवासना**

वासना दो प्रकार के होते हैं— १. शुद्धा और २. मलिना।

१. शुद्धा जन्म विनाशिनी होती है और वह शुद्धा वासना देहरक्षण मात्र के ज्ञातज्ञेय व्यवहारवती होती है।

२. मलिना पुनजन्मकरी होती है और वह अज्ञानसुघनाकारा अहंकारशालिनी होती है। साधक के लिए यह मलिना वासना परम हेया है। पुनर्जन्मकरी मलिना वासना पुनः तीन प्रकार की होती है— १. लोकवासना, २. शास्त्रवासना और ३. देहवासना।

**दुराशाक्षीरपानेन, भोगानिलबलेन च।**
**आस्थादानेन चारेण, चित्ताहिर्याति पीनताम्।।** (योगवाशिष्ठ)




(सदाचार स्तो. ४१)

दुराशा रूपी क्षीर (दुग्ध) को पीकर और भोगरूपी अनिल (वायु) को खाकर तथा उसमें आस्थारूपी चाल (गति) से विहार करके चित्तरूपी सर्पिणी सर्वदा पुष्ट हुआ करती है। (योगवाशिष्ठ)

जीवात्मा के हृदयाकाश में मायारूपी मेघ छाये हुए हैं और उस मायारूपी मेघ (बादल) के मध्य मनरूपी बिजली छिटकती रहती है। मन का संकल्प-विकल्प रूप कर्म ही चंचल बिजली है और वह माया मेघ जीवात्मा के अहंकाररूपी गर्जन भी करती है तथा अन्तःकरण की चित्तवृत्तियाँ ही धारासार (सघनवृष्टि) है, जिससे जीव के वासना रूपी क्षेत्र (खेत) के आर्द्र कर काम-क्रोध-लोभ-मोह-राग-द्वेष आदि फलों से लदे हुए वृक्ष को पुष्ट करती है। इसी माया मेघ में मनरूपी बिजली जब तेज छिटकती है, तो जीवात्मा चकाचौंध में पड़कर भ्रमित हो जाता है और पहचान शक्ति (विवेक) शून्य हो जाता है। (सदाचार स्तो. ४१)

• • ✿ • •

ज्ञानं-दिग् दृश्ययोर्भावं, विज्ञानं-दृश्यशून्यता।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति किञ्चन।। (सदाचार स्तो. ४३)
परोक्षशास्त्रजं ज्ञानं, विज्ञानं चात्मदर्शनम्।
सश्वन्नश्वरमेव विश्वमखिलं निश्चित्य वाचागुरोः।
नित्यब्रह्मनिरन्तरं विमृशता, निर्व्याजशान्तात्मना।।
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता, संविन्मये पावके।
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुः, इत्येषा मनीषा मम।। (मनीषपञ्चकम्)
सदासर्वगतोऽप्यात्मा, न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवावभासते, स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्।। (आत्मबोध १६)
देहेन्द्रियगुणान् कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन, गगने नीलतादिवत् ।।२०।।

ज्ञान दिग् (दिशा) और दृश्यभाव रूप होता है और विज्ञान दृश्य (सृष्टि) की शून्यता (मिथ्यात्व) को कहते हैं। ब्रह्म की नित्यत्व और सार्वकालिकत्व एवं सर्वगतत्व स्वरूप को स्वात्मरूप से विमर्श करके शान्त भाव को प्राप्त करना चाहिये, ताकि मायिक व्याज समाप्त हो जाय। जो भी हुए और जो भी होने वाले पाप (मल) हैं, उसे संविन्मय (विज्ञानमय) अग्नि में जला कर और प्रारब्ध से प्राप्त अपने शरीर को अपने प्रारब्ध के ही अधीन समर्पित करके यही ज्ञान ही ब्रह्म है और मैं ब्रह्मबोध स्वरूप हूँ, यह निश्चय ही साधकों के परम लक्ष्यप्राप्ति है। मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ और यहाँ अनेक नहीं है, सब अद्वितीय ब्रह्म ही हैं। (सदाचार स्तो. ४३)

सर्वगत आत्मा के स्वरूप होने से वह सभी वस्तुओं में नित्य रूप से व्याप्त है, ऐसा होते हुए भी सर्वत्र (सभी वस्तुओं में) प्रकाशित नहीं होता है, केवल बुद्धि में ही उसका स्फुरण (प्रकाशन) होता है, जिस प्रकार स्वच्छ काच में ही वस्तु का प्रतिबिम्ब भासता है ठीक उसी प्रकार तैजस बुद्धितत्त्व में आत्मा का प्रतिबिम्बन होने से अहं आलम्बन का विषय बनता है, जो प्रतिभास मात्र ही है।

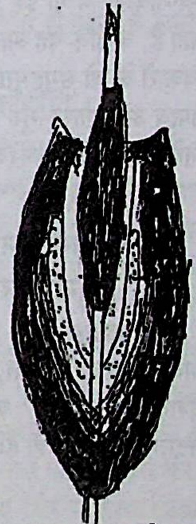
देह-इन्द्रियों और गुणों तथा कर्मों को निर्मल सत्-चित् स्वरूप आत्मा में ही अध्यस्त जानो, जो कि विवेक (निर्मल ज्ञान) के नहीं रहने के कारण सूझ नहीं रहा है। इसलिये उसमें स्वात्मा का व्यवहार करते आ रहे हो। परन्तु विवेक विज्ञान के उदय हो जाने पर तो वह आत्मा में ही मिथ्या रूप से अध्यस्त है, ऐसा बोध हो जायेगा, जैसे आकाश के रूप नहीं होने पर भी नीलतादि (अज्ञान के कारण) प्रतीति का विषय होता है। (आत्मबोध १६, २०)।

**प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता।**
**स्वभावः सच्चिदानन्द-नित्यनिर्मलता गतः।।** (आत्मबोध- २३)

जिस प्रकार सूर्य का स्वभाव प्रकाशमय है, अग्नि का स्वभाव (स्वरूप) दाहकता का है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव सत्-चित्-आनन्द स्वरूप तथा सकलमल रहित स्वच्छ (निर्मल) और नित्य है। (आत्मबोध २३)

**अन्नप्राणमनोमयविज्ञानन्दपञ्चकोषाणाम्।**
**एकैकान्तरभाजां भजति विवेकात् प्रकाशतामाता**
**यः स्फुरति बिम्बभूतः सभवेदानन्द एव।**
(स्वात्मनिरूपणम्-८)

**सकलात्मा। प्रागूर्ध्वमपि च सत्त्वात्**
**विकारित्वादबाध्यमानत्वात्।।१४।।**



**१. वपुरिदमन्नमयात्मकोषः।**
**२. वपुष्यवच्छिन्नो वायुविशेषः प्राणमयः कोषः।**
**३. रागद्वेषविधेयो मनोमयःकोषः।**
**४. चित्प्रतिबिम्बा बुद्धिः विज्ञानमयः।**
**५. सुप्तिगतसुखलेशे सुखमानी आनन्दमयकोशः।**

जीवात्मा के शरीर में पाँच कोष होते है, इन पाँचों कोषों में आत्मा का स्पन्दन समान रूप से प्राप्त हुए भी प्रत्येक कोष का अपना विशेष लक्षण हैं, वे—१. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, ४. विज्ञानमय और ५. आनन्दमय—ये पाँच कोष हैं।

१. **अन्नमयकोष**—अन्न से उत्पन्न हुआ यह स्थूल देह ही अन्नमय कोश है। जो अन्न से ही जीता है और अन्न के विना नष्ट हो जाता है। यह त्वचा-चर्म-मांस-रुधिर-अस्थि और मल आदि का समूह स्वयं से नित्य एवं शुद्ध आत्मा नहीं हो सकता, यही विवेक है।

२. **प्राणमयकोष**—पंच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश है। प्राण से युक्त यह अन्नमयकोश अन्न से तृप्त होकर सभी प्रकार के कर्मों को करने में सक्षम और प्रवृत्त हो पाता है।

३. **मनोमयकोष**—ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही 'मैं' और 'मेरा' (अहं-मम) आदि विकल्पों का हेतु है तथा यही मनोमय कोष कहलाता है। यह नाम आदि भेद कलनाओं से जाना जाता है और यह मनोमय कोष बड़ा बलवान् है तथा पूर्व के अन्नमय-प्राणमय कोषों को व्याप्त कर स्थित होता है।

४. **विज्ञानमयकोष**—ज्ञानेन्द्रियों के सहकृत वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्तापन के स्वभाववाला विज्ञानमय कोश कहलाता है, जो पुरुष के जन्म मरण रूप संसार का कारण होता है।

५. **आनन्दमयकोष**—आनन्द स्वरूप आत्मा के बिम्ब से प्रतिफलित प्रतिबिम्ब से चुम्बित होकर तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति आनन्दमय कोश है। वह प्रिय-आमोद-प्रमोद इन तीन गुणों से युक्त है और अपने अभीष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकट होता है। पुण्यकर्म के परिपाक होने पर उसके फलस्वरूप सुख का अनुभव करते समय भाग्यवान् पुरुषों को इस आनन्दमयकोश का स्वयं से ही अनुभव होता है, जिससे वह सम्पूर्ण देहधारी जीव विना प्रयत्न के ही अति आनन्दित होते हैं। आनन्दमयकोष की उत्कट अर्थात् तीव्र प्रतीति सुषुप्तिकाल में ही होता है, तथापि जाग्रत् अवस्था और स्वप्नावस्था में भी इष्ट वस्तु के दर्शन (प्राप्ति) से यत्किञ्चित् भान होता ही है। यह परमात्मा आनन्दमय नहीं है, क्योंकि यह आनन्द सोपाधिक और प्रकृति का विकार है और शुभ कर्मों के कार्य हैं और प्रकृति के विकारों के जो समूहभूत शरीर उसका आश्रित है। यही इसका विवेक है। श्रुति वचनों तथा गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपाय और शास्त्र-गुरु तथा स्वविवेक के अनुकूल युक्तियों से पाँचों कोशों के निषेध कर देने पर उसके निषेध की अवधिरूप (शुद्ध) बोधस्वरूप साक्षी-आत्मा बचा रह जाता है।

• • ✿ • •

**सत्यं ज्ञानमनन्तं च, निर्गुणानन्दमव्ययम्।**
**शुद्धो निरञ्जनो निरुपाधिः ब्रह्म।।**

वह ब्रह्म सत्य-ज्ञान और अनन्त (आदि-अन्त)रहित ) है, सभी गुणों से रहित, आनन्दस्वरूप अव्यय (अवयव रहित) शुद्ध (निष्पाप) निरञ्जन (निष्कलंक) और सकल उपाधि से रहित है। यदि मूल में 'शिव पुण्यकं तम्? का उत्तर है कि वह व्रत शिवत्व ब्रह्म के स्वरूपलक्षण का अहंत्वेन बोधानन्तर तदात्म्यैकता रूप ही है।

**मुक्तिः**

**१. सारूप्या, २. सालोक्या, ३. सानिध्या, ४. सायुज्या, ५. कैवल्या शिवभक्तिज्ञानजननी। 'सम्पूर्णं जगत् शिवमयः' एतज्ज्ञानमनुशीलनीयम्**




भगवतः शिवस्य
दृष्टित्रयम्।

**मुक्ति**—मुक्ति पाँच प्रकार की यहाँ कही गयी है—

१. **सारूप्या**—साधक के द्वारा गुरु के उपदेश तत्त्वमस्यादि वाक्य का सतत चिन्तन, शास्त्रों के वचनों के चिन्तन मनन, युक्ति तथा तर्कों को माध्यम बना कर शिव के 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के स्वरूप में अपने स्वरूप (जीवात्मा) का लय कर तद्रूप को प्राप्त करना रूप है।

२. **सालोक्या**—भगवान् शिव के प्रति कैंकर्य कर्त्तव्य भाव उत्थान कर शिवलोक को प्राप्त करना रूप है।

३. **सानिध्या**—गुरु के उपदेश को प्राप्त कर उनके वचनों में श्रद्धा-निष्ठा रखकर शिवतत्त्व का भजन-कीर्तन-मनन-ध्यानपूर्वक उनके सानिध्य की स्वानुभूति प्राप्ति रूप है।

४. **सायुज्या**—शिवविग्रह के स्मरण-मनन-धारणा ध्यान कर उनके स्वरूपाकारित स्वरूप (अपना स्वरूप) को प्राप्त करना सायुज्य है।

५. **कैवल्या**—कैवल्या मुक्ति में प्रकृत्ति और उनके गुणकृत कार्य के साथ पुरुष के अनादि अविद्याकृत संयोग का अभाव हो जाना और अपने केवल स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना है अर्थात् पुरुष का प्रकृति के सर्वथा सम्बन्धाभाव (विच्छेद) हो जाना रूप है—

**'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति'।**

(पातञ्जलयोगसूत्र ४/३४)

**गुणाधिकारसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्, तत्स्वरूपमवधार्यते-कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्या सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति।** (पा.यो.सू. व्यास भाष्य ३४)

आचरितभोगापवर्ग, पुरुषार्थशून्य, कार्यकारणात्मक गुणों का जो प्रतिप्रसव (लय) है, वही कैवल्य है। अथवा वह स्वरूपप्रतिष्ठचितिशक्ति है, अर्थात् बुद्धिसत्त्व के साथ पुनः पुरुष की अभिसम्बन्ध शून्यता के कारण चितिशक्ति केवल होती है और उसका इसी प्रकार शाश्वत अवस्थान ही कैवल्य है। परन्तु वेदान्तियों के कैवल्य मोक्ष के सम्बन्ध में विचार अलग है। वे श्रुतिमूलक मोक्ष को ही ग्रहण करते हैं। कैवल्य शब्द का अर्थ 'केवलस्य अद्वितीयस्य भावः कैवल्यम्' जहाँ जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) का एकात्म-अद्वितीय रूप से अपरोक्ष ऐक्य लाभ हो, वह कैवल्यभाव है।

* * ✿ * *

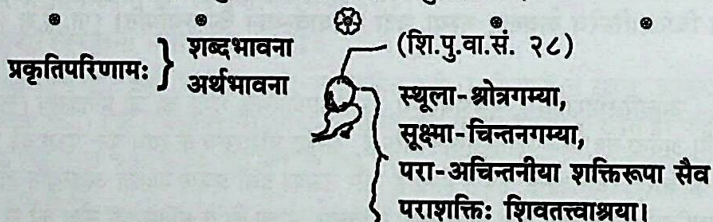
**ब्रह्मैवास्मीति व्यावृत्तिः, पूरकः प्राणायामः।**
**निषेधनं प्रपञ्चस्य-रेचकः प्राणायामः।**
**वृत्तिनैश्चल्यं-कुम्भकः प्राणायामः।** (अपरोक्षानुभूति ११९)
**चित्तोन्मेष-निमेषाभ्यां, संसारप्रलयोदयौ।**
**मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां, कर्मणां प्रलयोदयौ।।**

ब्रह्म का अमल (शुभ्र-विशुद्ध) स्वरूप का बोध ही ज्ञान है अर्थात् विमल ज्ञान ही ब्रह्म स्वरूप है। सम्पूर्ण जगत् के साक्षी स्वरूप से बोध ही परमात्मता (परमात्मा का भाव) है, क्योंकि उस परमात्मा ब्रह्म का किसी धर्म (गुण) से सम्बन्ध नहीं है, वह तो सभी धर्मों के साक्षी मात्र है और उनके इसी स्वभाव के कारण वे सच्चिदानन्द है। प्रतीक चित्राङ्कन उसी स्वभाव का बोधक है। (स्वात्मनि. ७१)

ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार की जो चित्तवृत्ति वह पूरक प्राणायाम कहलाता है और प्रपञ्च की निषेधात्मक चित्तवृत्ति रेचक प्राणायाम है। वह निषेध रूप चित्तवृत्ति—'ब्रह सत्यं जगन्मिथ्या' 'अर्थात् ब्रह्म मात्र ही सत्य है और जगत् मिथ्या है'। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का उदयरूप है। अत: 'अस्ति भाति प्रियं रूपं, नाम चेत्यंश पञ्चकम्। आदौ त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रुपं ततो द्वयम्। अस्ति सत्ता, भाति प्रतीति प्रिय सुख (आनन्द) ये तीन अंश का जो जगत् में बोध है, वही ब्रह्मांश स्वरूप है और रूप तथा नाम ये दोनों जगत् के स्वरूप हैं, इस तरह जगत् में पाँच अंश का मिथुनी भाव (मिला हुआ) रूप ही है। जो देखा और अनुभव किया जाता है।

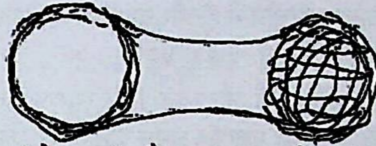
वृत्ति की निश्चलता को कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। जब साधक को चित्तवृत्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप चित्तवृत्याकारता की प्राप्ति हो, तो 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'नेति-नेति', 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' आदि श्रुत्यादि वाक्यों के मनन द्वारा उस चित्तवृत्ति का रक्षण करना चाहिये और जब वह निश्चल (स्थिर-अचल) हो जाय, तो उसे कुम्भक नामक प्राणायाम कहते हैं। (अपरोक्षानु. ११९)

चित्त के उन्मेष (देखना) और निषेध (बन्द करना) से संसार का उदय (उत्पत्ति) लय (नाश) होता है, यह ज्ञानियों के बोध हैं और चित्त के उन्मेष और निमेष से कर्मों (व्यापारों) के उदय अर्थात्—उत्पत्ति (प्रारम्भ) लय (समाप्ति) होते हैं, ये मुर्खों के विचार हैं। (शिवपु.वा.सं. ८)




प्रकृति के परिणाम दो प्रकार के प्रमुखत: होते हैं। (क) शब्द भावना और (ख) अर्थ भावना। शब्द भावना स्थूलरूपा है जो केवल श्रोत्र (कान) द्वारा ग्राह्य होती है। अर्थभावना सूक्ष्मरूप है, जो चिन्तन से प्राप्त करने योग्य होती है। इससे परे प्रकृति सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा वाग् रूपा है, जिसे पराशक्ति भी कहा जा सकता है, जो अचिन्त्य रूपा है, शिवतत्व के आश्रयीभूता है। (शिव.पु.वा.सं. २८)

स्वाज्ञानाज्ञानहेतु जगदुदलयलयौ सर्वसाधारणौ स्तो,
जीवेष्वास्वर्णगर्भ श्रुतय इति जगुर्हूयते स्वप्रबोधे।
विश्वं ब्रह्मण्यबोधे जगति, पुनरिदं हूयते ब्रह्मतद्वत्,
शुक्तौ रौप्यं च रौप्येऽधिकरणमथवा ह्यतेऽन्योऽन्यमोहात्।। (स्वा[illegible]लो. १२)



स्वात्मासम्बन्धी अज्ञान (बोधाभाव) और जगत् सम्बन्धी ज्ञानाभाव ही जगत् के उदय (उत्पत्ति-आरम्भ) और लय (नाश-समाप्त) का हेतु है। जीवात्मा के तो हृदयाकाश में स्वयं परमात्मा हिरण्यगर्भ का निवास है, ऐसा श्रुतिवाक्यों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'। (श्रुति) ऐसा जानने वाले वे होते हैं, जिन्हें स्वात्मप्रबोध हो गया है। ऐसे प्रबुद्ध ज्ञानी विद्वान् 'गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते, ततो न सज्जते' (गीता) गुण (प्रकृति के गुण) ही गुण में वरत रहा है जो कार्य-कर्म-व्यापार रूप से दिखाई दे रहा है, ऐसा जगत् को देखते और जानते हैं। उसी प्रकृति का कार्य रूप संसार के जीव एक दूसरे में हवन कर रहे हैं, ऐसा ज्ञानी जानते हैं। वहाँ होता-हव्य-हवन सभी ब्रह्म ही हो जाते हैं—

**'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।**
**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यः ब्रह्मकर्म समाधिना'।। (गीता)**

परन्तु अज्ञानी को 'सुक्तौ इदं रजतम्' की भाँति मिथ्या में मिथ्या प्रतीति रूप संसार का सत् स्वरूप से दर्शन होता है और इसलिए वे व्यवहार-व्यापार भी मिथ्या ही करते हैं, क्योंकि शुद्धि में रजताभाव के कारण वासना (लोभ) के वश ग्रहणरूप व्यापार भी मिथ्या ही होते हैं। ये सभी जगत् के हेतु अज्ञान का कार्य है। अतः वे अन्य में अन्य का हवन करते हैं, वह स्व-में-स्व का अर्थात् ब्रह्मरूप सामग्री नहीं होते अतः अन्य में अन्य का हवन ही उनके सारे कार्य व्यवहार और व्यापार होते हैं, जो मिथ्या है। प्रतीक चित्र इसी का वाचक है। (शतश्लो. २२)



**बुद्धिर्विनष्टागलिता प्रवृत्तिः, ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या।**
**एकमेवाद्वयं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति कश्चन।** (वि.चू. १७१-४२३)
**सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम्।** (वि.चू. १७१)
**सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम्।** (वि.चू. ४६७)
**अहेयमनुपादेयं निर्विकल्पं निरञ्जनम्।** (वि.चू. ४६९)
**नहि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे, देहोपयोन्यपि च प्रपञ्चे।**
**करोत्यहन्तां ममतामिदन्तां, किन्तु स्वयं तिष्ठति जागरेण।।** (वि.चू. ४५७)
**निवृत्तिः परमातृप्तिः, आनन्दोऽनुपमः स्वतः ।।** (वि.चू. ४२२)
**दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यया प्रस्तुतं फलम्।।**

जब शरीरादि विषयक आत्म बुद्धि नष्ट हो जायेगी और दृश्य जगत् वस्तु में तद्रूप में प्रवृत्ति गलित (नष्ट) हो जायेगी, उसके बाद ही ब्रह्म और आत्मा का एकत्वेन अभेद बोध हो सकेगा और वह बोध

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अर्थात् एकमेव अद्वितीय मैं हूँ और यह नानात्व मिथ्या है, यहाँ इस जगत् में सभी एक ही ब्रह्म है, द्वितीय तो मिथ्या ही है। (वि.चू. १७१,४२३)

वह ब्रह्म सत्यरूप से समृद्ध (परिपूर्ण) है और स्वतः सिद्ध स्वरूप है तथा शुद्ध (विमल-निर्मल) है तथा ज्ञान स्वरूप है, इस प्रकार की बुद्धि ही मोक्ष है। अन्दर बाहर सर्वत्र एकमेव अद्वितीय ब्रह्म की बुद्धि ही मुक्ति है। (वि.चू. १७२)

वह ब्रह्म सद्घन-नित्य-आनन्दघन-अक्रिय-अहेय-अनुपादेय-निर्विकल्प और निरञ्जन स्वरूप है और मैं वही उपर्युक्त लक्षण ब्रह्म हूँ, यही बोध मुक्ति है। (वि.चू. ४६७)

जो प्रबुद्ध हैं—विद्वान् हैं, उन्हें इदन्तामात्र जगत् प्रपञ्च में प्राप्त वस्तुएँ प्रतिभास रूप से ग्रहण होते हैं। प्रतिभास-मिथ्या-असत् ये सभी शब्द सामान्य रूप से पर्याय अर्थ का बोधक होता है अतएव वे विद्वान् उन प्रपञ्चरूप जगत् में अहंता और ममता बुद्धि नहीं रखते; क्योंकि अहं एवं मम शब्द का आस्पद आत्मा होता है और जगत् प्रपञ्चरूप वस्तु आत्म विषयक वस्तु नहीं है। वह आत्म विषयक वस्तु आत्मा के धर्म से भिन्न अज्ञान स्वरूप है तथा आत्मा का धर्म ज्ञानस्वरूप होने के कारण प्रकाशस्वरूप है। आत्मा प्रकाश है और जगत्प्रपञ्च वस्तु प्रकाश्य है, प्रकाश्य का रूप अज्ञान स्वरूप एवं अन्धकार स्वरूप होता है, इसलिए वे विद्वान् (आत्मज्ञानी) सदा सचेत रहते हुए उन प्रपञ्च वस्तुओं को मिथ्या प्रतीति रूप से ग्रहण करते हैं। (वि.चू. ४५७,६७,६९)

जगत्प्रपञ्च में सत् बुद्धि के कारण निवृत हो चुके ऐसे विद्वान् (स्वात्मबोध) सदा आत्मा के अनुपम आनन्द में तृप्त रहते हैं। (वि.चू. ४२२) वे प्रबुद्ध-विद्वान् प्रारब्ध से प्राप्त दुःख (प्रतिकूल स्थिति) में उद्विग्न नहीं होते और वह यह प्रयास करते रहते हैं कि सम्पूर्ण रूप से अविद्या के कार्य असज्जगत् से विवृत्ति हो, क्योंकि विद्या का परम फल असत् प्रपक्ष के हेतु अविद्या से निवृत्ति ही है अर्थात् मोक्ष ही है। (वि.चू. ४२४)

• •  • •

दृशि स्वरूपं गगनोपमं परं, सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं, तदेव चाहं सततं विमुक्त ॐ ।।(उपदेश सा. १०/१)
व्योमवत्सर्वभूतस्थो, भूतदोषैर्विवर्जितः।
साक्षी चेताऽगुणः शुद्धो ब्रह्मैवास्मीति केवलः।। (उप.सा. १२/५)
आत्मनः कर्तृता मृषा, देहात्मबुद्ध्यपेक्षत्वात्।
नैव किञ्चित्करोमीति सत्या, प्रमाणजात्वात्।। (उप.सा. १२/१६)
जिघत्सा पिपत्सा शोकमोहौ जरामृती।
न विद्यन्ते, शरीरत्वात् व्योमवद्व्यापि नो मम।।

**रूपस्मृत्यन्धकारार्थाः प्रत्यया यस्य गोचराः।**
**स एवात्मा समो द्रष्टा सर्वभूतेषु सर्वगः।।** (उप.सा. १५/३४)

**दीपः यथा अयत्नः सर्वं प्रकाशयेत्।**

**शब्दाद्याकार बुद्धीः ज्ञः**

**तद्वत् प्रकाशयेत्।।**

**पश्यति।।** (उपदेश सा. १६/६)

यह आत्मा दृष्ट-प्रपञ्च जगत् से परे ज्ञान स्वरूप, आकाश के सदृश्य निर्लिप्त है। यह आत्मा सदा एकमेव प्रकाशक, अज(जरा-मरण रहित), अद्वितीय, अक्षर, अलेपक स्वरूप, सर्वगत, अद्वय स्वरूप है और मैं वही आत्मा स्वरूप हूँ तथा 'ॐ' पद लक्षित ब्रह्म ही हूँ। (उप.सा. १०/१)

यह आत्मा आकाश के समान व्यापक और सभी दोषों से विवर्जित है अर्थात् जिस प्रकार आकाश सर्वभूतगत रहते हुए भी उनके दोषों से लिप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा (ब्रह्म) सर्वप्रपञ्चगत रहते हुए उनके धर्मों से निर्लिप्त है। वह आत्मा सर्वसाक्षी, चेतन, अगुण, शुद्धस्वरूप है और मैं वही निर्मल स्वरूप आत्मा(ब्रह्म) हूँ, यह सत्य प्रमाणों से निर्णीत विषय है।(उप.सा. १२/५)

आत्मा कर्तृत्व धर्म को स्वीकारना असत्य है, उसे देहादि से सम्बन्ध नहीं है। मैं(आत्मा) कुछ भी नहीं करता हूँ, यही प्रामाणिक है। (उप.सा. १२/१६)

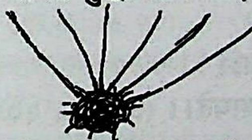
भूख-प्यास-शोक-मोह-जरा-मृत्यु से रहित यह आत्मा है, क्योंकि ये धर्म तो शरीर के हैं। आत्मा तो व्योमवत् (आकाश के समान) सर्वव्यापक है। शरीरादि व्याप्य है और आत्मा व्यापक है, ऐसा जानना चाहिये। (उपदेश सा. १३/४)

रूप-स्मृति-अन्धकार और अर्थ ये जिसके द्वारा प्रत्ययगोचर होते हैं, वे ही आत्मा है और वह सभी विकारों से रहित द्रष्टा है तथा सभी भूतों में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित है। (उप.सा. १५/३४)

जिस प्रकार दीप के प्रज्ज्वलित हो जाने पर वह दीपक-विना प्रयत्न के ही सभी को प्रकाशित करते रहता है, उसी प्रकार यह आत्मा शब्दादि आकार से बुद्धि को प्राप्त होकर ज्ञाता रूप से प्रपञ्च वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं और हम उसे उस रूप में देखते और जान पाते हैं। (उपदेश सा. १६/६)

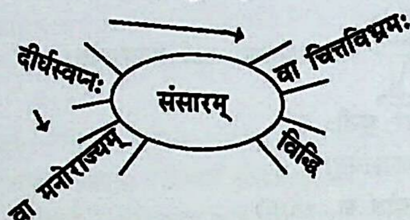
• • ✿ • •

**आत्मबुद्धिमनश्चक्षुर्विषयालोकसङ्गमात्।**
**विचित्रो जायते बुद्धेः प्रत्ययोऽज्ञानलक्षणः।।** (उप.सा. १५/३५)



**किं कुर्वन्तीह विषयाः मानस्यो वृत्तयस्तथा।**

**आधयो व्याधयो वापि, सम्यगदर्शन सन्मतेः।।**
**सम्यज्ज्ञानसमालोकः, पुमान् ज्ञानमयः स्वयम्।।**




**दृष्टेरात्मस्वरूपत्वात्, प्रत्यक्षं ब्रह्म तत्स्मृतम्।** (उप.सा. १७/४०)
**सत्यार्थी-शान्तं प्राज्ञं मुक्तं निष्क्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमाश्रयेत्।** ।(उप.सा.१७/५२)

आत्म-बुद्धि-मन और चक्षु विषय दर्शन के संगम काल में उन उन विषयों की आकारता को धारण कर लेते हैं, क्योंकि बुद्धि स्वयं में जड़ वस्तु है और जड़ का स्वरूप अज्ञान होता है। (उप.सा. १५/३५)

वे विषय और मन की वृत्तियाँ क्या करेंगी तथा वे आधियाँ एवं व्याधियाँ क्या कर लेंगी, जिनके सर्वत्र (सभी भूतों मे) ब्रह्म बुद्धि की सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गयीं है। उसके सम्यग् ज्ञान से समान दृष्टि हो जाने से वे साधक (मानव) स्वयं में ज्ञानमय हो जाता है। यह जगत् दर्शन स्वप्नकालीन दर्शन के समान मिथ्या है, अथवा चित्त का विभ्रम (भ्रान्ति) है अथवा वाणी और मन के संकल्प (मिथ्या अभिलाषा) मात्र है। इस विभ्रम से निवृत्ति स्वात्मा में अपरोक्ष (साक्षात्) दृष्टि की प्राप्ति होने पर ही होती है। (उप.सा. १७/४०)

जिस साधक को ब्रह्म का सम्यग्दर्शन की बुद्धि दृढ़ हो चुकी हो, ऐसे साधक-संन्यासी-यति और विरक्तों के ये पुरोदृश्य प्रपञ्च और मानस वृत्तियाँ तथा-आधियाँ और व्याधियाँ क्या विगाड़ सकती हैं? कुछ भी नहीं, क्योंकि—'तस्मिन् दृष्टे परावरे'। (श्रुति) 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' जिसने ब्रह्म दर्शन रूप सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर ली है, वह सूर्य के किरणों के समान समभाव से सबको देखते हुए अर्थात् समान रूप से व्यवहार करते हुए जलगत पद्मपत्र के समान उसमें लिप्त नहीं होते अर्थात् उन दोषों से सदा अलिप्त ही रहते हैं। यतः वे सम्यग्ज्ञान दृष्टि को प्राप्त होते हैं, अतः उनकी दृष्टि ज्ञानमय हो जाती हैं और वह इस संसार को दीर्घस्वप्न के समान अथवा चित्तविभ्रम या मनोराज्य मात्र की दृष्टि से देखता हुआ मिथ्या ही समझता है। (उप.सा. १७/४०)

जो सत्यार्थी (सत्प्रयोजनवाला) है, विद्वान् शान्तस्वभाव वाले, जगत्प्रपञ्च से परे मुक्त स्वभाव, कर्तृत्वरहित, ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय में जाये।

• • ✿ • •

**अजोऽहं चामरोऽजरोऽभयः सर्वज्ञः।**
**शुद्धः स्वतो मुक्तः इति बुद्धो न जायते।।** (उपदे. सा. १७/५९)
**सर्वावभासोऽज्ञः किञ्चदायस्पृशन् सदा।** (उपदे.सा. १८/१४)

साधक गुरु एवं श्रुतिवाक्यों का सम्यक् श्रवण-मनन करके विवेक ज्ञान की सहायता तथा युक्तियों के बल से ही अपने आत्मस्वरूप को मैं अज (अजन्मा) हूँ, अमर हूँ, अजर (वृद्धादि अवस्थारहित) हूँ, अभय हूँ, सर्वज्ञ हूँ, शुद्ध (निर्मल) हूँ, स्वतः मुक्त हूँ ऐसा जान पाता है। यह आत्मविषयक बोध स्वात्मना ही स्वात्मा का होना सम्भव है, अन्य विधि से यज्ञ-दान-कर्मानुष्ठानादि आत्मज्ञान में साक्षात् हेतु नहीं हो सकता। इन साधनों का प्रयोजन अन्तःकरणगत विषय संसर्गजन्य संस्काररूप मल से निवृत्ति पाना मात्र है। यथा ऐनकगत मलनिवृत्ति हेतु उसका प्रोक्षण करते है, परन्तु दर्पण में आत्मदर्शन का हेतु वह प्रोक्षण कर्म नहीं हो सकता। वहाँ आत्मदर्शन तो आत्मारूप दर्पण के प्रति सम्मुखीकरण करके उस रूप की प्राप्ति ही हो सकता है। अतः स्वतः मुक्तस्वरूप आत्मा मिथ्या-अज्ञान प्रकल्पन के कारण बन्धवत् प्रतीत होता है। यथार्थतः आत्मा बन्ध या मुक्तविषयक विचारण का विषय नहीं हो सकता। इसलिए कहा है—

**न निरोधो न चोत्पत्तिः, न बद्धो न च साधकः।**
**न मुमुक्षुर्नैव मुक्त इत्येषा परमार्थता।।३२।। (मण्डू.उ.वै.प्र.)**

अतः अन्ततः सभी व्यवहार कल्पना मात्र होने से मिथ्या ही है, विचार करने पर ये परमार्थ नहीं हैं। (उप.सा. १७/५९)

सभी जगत् प्रपञ्च आभास मात्र है, पारमार्थिक सत्य नहीं है। इस प्रकार का निश्चयात्मक बोध ही 'ज्ञः' है जो बिना संसर्ग के ही बोधगम्य है। 'ज्ञः' आत्मा है, वह सबका ज्ञाता होने के कारण 'ज्ञः' है। (उप.सा. १८/९४)



**नाद्राक्षमहमिति सुषुप्ते प्रत्ययं निषेधति।**
**स्वां दृष्टिं न वारयति।** (उपदे.सा. 18/97)
**अवगत्या हि संव्याप्तः, प्रत्ययो विषयाकृतिः।** (उपदे.सा. 17/128)
**सम्यक्संशयमिथ्योक्ताः प्रत्यया व्यभिचारिणः।**
**एकैवावगतिस्तेषु, भेदस्तु प्रत्ययार्पितः।।** (उपदे.सा. 18/121)
**आधिभेदाद् यथा भेदो, मणेरवगतेस्तथा।।** (उपदे.सा. 18/122)
**अशुद्धिः परिणामश्च, सर्वं प्रत्ययसंश्रयात्।**
**प्रघनं ग्रहणं सिद्धिः, प्रत्ययानामिहान्यतः।।** (उपदे.सा. 123)

सुषुप्तिकाल (अतिगाढ़ी निद्रा) में 'मैंने कुछ भी नहीं जाना, कुछ नहीं देखा आदि निषेध वचन ही अद्वितीय आत्मा का प्रतिपादक स्वानुभव है। वहाँ भी आत्मा अपनी ज्ञान (प्रकाश) दृष्टि (स्वभाव) का त्याग नहीं करता। (उप.सा. 18/97)

आत्मा के व्यापकत्व का स्वभाव सर्वगत है और दर्शनादि काल में विषयाकृति होकर वहाँ भी विद्यमान होता है। (उप. सा. 18/118)

व्यवहारकालिक सम्यक् प्रत्यय (ज्ञान) भी व्यभिचारी होने के कारण मिश्र ही है। अतः वहाँ जो अवगति (निर्विकल्पक ज्ञान) वही एक मात्र सत्य है और बुद्धि प्रत्यय उपाधिगत होने से विविधता के कारण विभिन्नता

को प्रकट करने वाला है, अतः मिथ्या है। (उप.सा. 18/121)

आधिभेद से (उपाधि भेद से) ही भेद प्रतीति होती है, परमार्थ रूप से भेद नहीं है। जिस प्रकार स्फटिक मणि के धवल वर्ण होते हुए भी जपाकुसुम की छाया पड़ने पर 'रक्तः स्फटिकः' लाल वर्ण का स्फटिक है, अबुद्ध द्वारा व्यवहृत होता है। उसी प्रकार अनेकता (विभिन्नता) धर्म वाला आत्मा के स्वरूप नहीं होने पर भी उपाधि के भेद से उसके विरुद्ध धर्म का आभास होता है। (उप.सा. 18/122)

जो भी अशुद्धि और उसका परिणाम अर्थात् अज्ञान और उसके फल होते हैं, वह प्रत्यय (अन्तकरण की वृत्ति) के आश्रय से होते हैं। जगत्प्रपञ्चवस्तु की सत्यता के मूल में अज्ञान कारण होता है और अज्ञान का परिणाम (फल) जगत्प्रपञ्च होता है। यह जगत्प्रपञ्च वस्तुओं में अनादि राग (आसक्ति) के कारण वैसा दीख पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जगद्वस्तु का सृजन अन्तःकरण (चित्तवृत्ति) में विद्यमान होता है, जो जगदाकार से परिणमित होकर जीव को दिखाई देता है। वह जगद्दृश्य ही अविद्या का परिणाम है और उस परिणाम के तथा रूप से दृष्ट होने के हेतु (कारण) अज्ञान ही है, जिससे प्रथम (विस्तार फैलाव) और ग्रहण की सिद्धि (प्राप्ति) का व्यवहार एक दूसरे से होता प्रतीत होता है। (उप.सा. 18/123)

• • ✿ • •

**देहादाभिमानोत्त्थो, दुःखीति प्रत्ययो ध्रुवम्।** (उपदे.सा. 161)
**अस्पर्शत्वाददेहत्वात्, नाहं दाह्यो यतः सदा।** (उपदे.सा. 164)
**विवेकात्मधिया दुःखं, नुद्यते चलनादिवत्॥** (उपदे.सा. 168)
**प्रत्यगात्मन आत्मत्वं दुःख्यस्मीत्यस्य वाधया।** (उप.सा. 18/189)
**नित्यमुक्तत्वविज्ञानं, महावाक्यान्न चान्यतः।** (उप.सा. 18/190)

देहादि में अहंकार से उत्पन्न प्रत्यय (ज्ञान) ही सुख-दुःख होता है। यह विचारित और विनिश्चित सिद्धान्त है; क्योंकि आत्मा के देह नहीं होने के कारण उसका किसी से संसर्ग नहीं हो सकता। अतः आत्मा के निरवयव, अक्रिय, निर्विकार, निर्विकल्प आदि स्वरूप होने के कारण वह सुखी, दुःखी, दाता, ग्रहीता, कर्ता, भोक्ता आदि व्यापारवाला नहीं हो सकता—

**चित्तन्न संस्पृत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।**
**अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक्॥** (माण्डू.उ. अलात प्र. 26)

तथा—'यत्र द्वैतमिव भवति' (बृ.उ. 2/4/14), 'य इह नानेव पश्यति' (क.उ. 2/1/10-11), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा.उ. 7/25/2), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (नृ.उत्तर. 7), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा.उ. 6/2/1)। अतः इस यावज्जगद्वस्तु मिथ्या है—कल्पित है। ब्रह्म के शिवा जगत् वस्तु का सर्वथा अभाव है, ऐसा जानना चाहिये। (उप.सा. 18/161,64)

शरीर में आत्म बुद्धि होने से ही दुःख उपस्थित होता है। विवेकज्ञान के द्वारा शरीर में आत्मबुद्धि के निरास हो जाने पर वह मिथ्या ही है। यथा—ट्रेन में अथवा बैलगाड़ी पर आरुढ़ व्यक्ति को स्वयं का चलना, पहुँचना, भ्रममान होना क्रिया का शरीर में आरोप बुद्धि प्राप्त होती है और वह अपने को जाता हुआ व्यापार वाला समझता है, जबकि गमन क्रिया (चलन व्यापार) उसमें नहीं ट्रेन या गाड़ी में रहती है, होती है। उसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जानना चाहिये। (उप.सा. 18/168)

प्रत्यगात्मा (प्रत्यक्चेत) में आत्मबुद्धि स्थिर हो जाने पर 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं लंगड़ा हूँ, मैं काना हूँ' इत्यादि कल्पित ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और उस कल्पित मिथ्या ज्ञान से छूटने के लिए उपनिषद् के महावाक्य 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दमयोऽयमात्मा' आदि वाक्यों का आश्रय ही एक मात्र उपाय है। सद्गुरु की कृपा और श्रुतिवाक्यों के मनन और धारणा से नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मा का अपरोक्ष दर्शन ही संसार दुःख की निवृत्ति कराने में समर्थ है। (उप.सा. १८/१८८,९०)

तच्छब्दः प्रत्यगात्मार्थस्तच्छब्दार्थस्त्वमस्तथा।
दुःखित्वाप्रत्यगात्मत्वं वारयेतामुभावपि।। (उप.सा. १८/१९७)
एवं च नेति नेत्यर्थं गमयेतां परस्परम्। (उप.सा. १८/१९८)
अभावरूपं त्वमसीह हे मनः। (उप.सा. १९/८)
द्रष्टा च दृश्यं च तथा च दर्शनं भ्रमस्तव कल्पितो हि सः। (उप.सा. १९/९)
न मेऽस्ति किञ्चित् न च सोऽस्मि कस्यचित्,
यतोऽद्वयोऽहं न चास्ति कल्पितम्।
अकल्पितास्मि पुराप्रसिद्धतः,
विकल्पनायाद्वयमेव कल्पितम्। (उप.सा. १९/१२)
विकल्पना चाप्यभवे न विद्यते। (उप.सा. १९/१३)

'तत्त्वमसि' श्रुति उपदिष्ट वाक्य में तत् पद से प्रत्यगात्मा ही ग्राह्य रूप से निर्दिष्ट है और इसी प्रकार उसी 'तत्' पद से 'त्वम्' पदार्थ भी निर्दिष्ट है, इसलिये तत्पदेन आत्मा मात्र का ग्रहण होने से दुःखित्वादि धर्म आत्मा का नहीं हो सकता। वह अचेतन प्रकृति का विकारधर्म है। अतः 'तत्' पदवाच्य अहं (कर्ता) 'त्वम्' (कर्म) को त्याग देने पर प्रत्यगात्मा का ही ग्रहण शेष रह जाता है। (उप.सा. 18/197)

इस प्रकार 'नेति नेति' यह शरीर आत्मा नहीं है और वह शरीर आत्मा नहीं है अथवा यह हाथ, पैर, चक्षु, गुदा, शिश्न, शिर, पादादि का क्रमशः निषेधपूर्वक केवल आत्मग्रहण द्वारा सर्व दुःखहानि पूर्वक अपरोक्ष आत्मा के दर्शन को मोक्ष कहते हैं। (उप.सा. 18/198)

अतः मन में जगत्प्रपञ्च का भाव ही द्रष्टा-दृश्य-दर्शनरूप भ्रम को सर्जन करता है। अगर इसी द्रष्टा-दृश्य-दर्शनरूप मन के धर्म को विज्ञान रूपी असि (तलवार) से काट दिया जाय, तो साक्षादात्मदर्शन सम्भव हो जाय और सभी अनर्थकारक अज्ञानजन्य दुःखों से निवृत्ति सम्भव हो जाय। (उप.सा. 19/8,9)

क्योंकि इस आत्मा के अद्वितीय स्वरूप होने के कारण न तो इसका कोई है और न ही किसी का यह है अर्थात् निखिल संसर्ग (सम्बन्ध) धर्म से रहित यह आत्मा स्वयं निर्लेप-निरञ्जन ब्रह्म है—

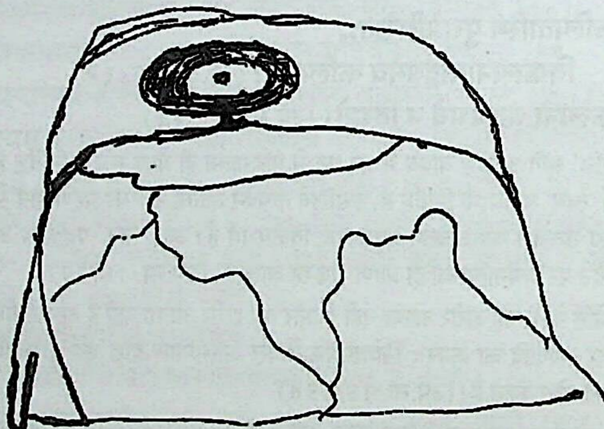
हिरणमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।। (श्वेता.उ.)

हृदयकाशरूप कोश (गुफा) में विरज (गुणों से रहित) निष्कल (उपाधिरहित) स्वच्छ और प्रकाश के भी

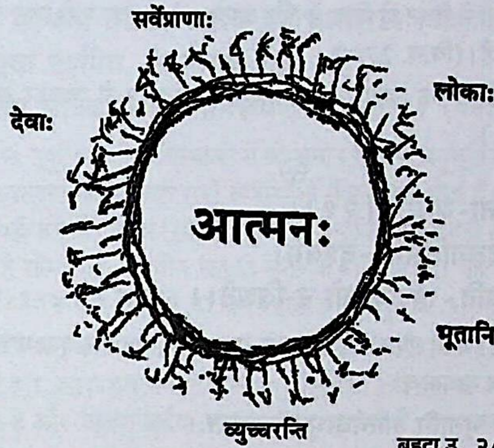
प्रकाशक ब्रह्म का वास है, ऐसा उपनिषद् के कई वाक्य उपलब्ध हैं, जिससे आत्मा के निरुपाधिक स्वरूप का प्रतिपादन होता है। अतः अद्वय आत्मा का विनिश्चय और नानात्व जगत् का निषेध प्राप्त होता है। आत्मा के सर्वाधिष्ठान होने से उसमें जगत्प्रपञ्च कल्पित है, जो नानात्व रूप दिखता है तथा जो कल्पित होता है, वह असत् होता है। अतः कल्पना मिथ्या के परित्याग से ब्रह्म (आत्मा) निष्फल-निरञ्जन-सकल संसर्गरहित अद्वितीय स्वरूप वाला है और ब्रह्म ही आत्मा है, कहा जा चुका है। (उप.सा. 19/12)

विकल्पना भी अभावरूप ही है। विकल्पना सन्देह या संकल्प को कहते हैं। जीव को स्वात्मा की विकल्पना नहीं होती अर्थात् 'मैं' नहीं हूँ इस प्रकार स्वसत्ता का सन्देह नहीं होता। जीव निरन्तर स्वात्मा का अवच्छिन्नधारावत् अनुभव 'अहम्' रूप से होता है, इससे स्वात्मा की निरन्तर अनुभूति निर्विवादरूप अनुभव सिद्ध है और वहीं आत्मा जीव का स्वस्वरूप है। इसी तरह जो नहीं है, उसकी कल्पना भी नहीं होती। (उप.सा. 19/13)

**प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः,**
**संसारिवच्चरति मुक्तिषु मुक्तदेहः।**
**सिद्धः स्वयं चरति साक्षिवदत्र तूष्णीम्,**
**चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः।।** (विवेक चू. ५५३)



जो साधक आत्मा को मुक्तस्वभाव से जान लिया है और स्वयं को स्वात्मभाव में स्थित हो चुका है तथा शरीर को स्वात्मभिन्नरूप से असत् वस्तु एवं 'प्रकृति का विकार है' ऐसा समझ लिया है वह मुक्त पुरुष प्रारम्भकर्म से कल्पित वासनाओं द्वारा संसारी पुरुष के समान नाना भोगों को भोगता हुआ सा प्रतीत होने पर भी वह स्वयं में कुलाल चक्र के मूल की भाँति अपने को अक्रिय भाव से अनुभव करता हुआ साक्षीमात्र भाव से मौन होकर रहता है, वह 'अप्राणो ह्यमनाः', 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः', 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्', 'समं सर्वेषु भूतेषु' इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रतिपादित स्वात्मस्वरूप को जानता हुआ उन-उन प्रारब्धकृत भोगों में उदासीन होता हुआ वर्तता है। (वि.चू. 553)




बृहदा.उ. २/१/२०

जिस प्रकार उर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओं पर चलता हुआ ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ (स्फुलिङ्ग) उड़ती है, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण-सम्पूर्ण लोक-निखिल देवगण और सम्पूर्ण भूतों की विविध रूपों में उत्पत्ति होती है। 'सत्य का सत्य' यही उस आत्मा का उपनिषद् है। यहाँ सत्य का सत्य (सत्यस्य सत्यम्) में अभेद में षष्ठी विभक्ति (अभेदे षष्ठी पा. सूत्र) मानना उचित होगा। 'अभेदे षष्ठी' के उदाहरण में 'राहोः शिरः' राहु का शिर प्रसिद्ध है। यहाँ राहु और शिर दोनों एक ही वस्तु है। (वृ.उ. २/१/२०)

• • ✿ • •

**असमाधिं न पश्यामि, निर्विकारस्य सर्वदा।**
**ब्रह्मणो मे विशुद्धस्य, शोध्यं नान्यद्विपाप्मनः।।** (उपदे.स. १५/३५)
**अमनस्कस्य का चिन्ता, चिन्मात्रज्योतिषः तमः।**
**स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः।।** (विवेक चू. २७९)
**ज्ञेयवस्तुपरित्यागे, विलयं याति मानसम्।** (महावा.र.)

जो साधक निर्विकार हो चुका है अर्थात् जिसने अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लिया है वह सदा समाधि की अवस्था में ही स्थित होते हैं उसे कभी भी समाधि से भिन्न अवस्था नहीं होती; क्योंकि वह तप द्वारा अन्तकरण सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों को नियमित कर विकाररहित कर शुद्धान्तकरण-पापरहित होकर 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' यह सभी ब्रह्म ही है ऐसा बोध प्राप्त कर लिया होता है। (उप.सा. 15/35)

जिसने मन पर विजय प्राप्त कर लिया अर्थात् सारे संकल्प-विकल्प से अतीत स्थिति को प्राप्त कर लिया, उसे कोई चिन्ता नहीं होती। वह तो सदा ही आत्मानन्द में स्थित होता है और सारे बन्धमुक्त हो ब्राह्मभाव को प्राप्त कर जाता है। चिन्मात्र (चेतनमात्र) ही यह जगत् है, ऐसी दृढ़प्रतीति प्राप्त कर लेने पर साधक का तम (अज्ञान) मिट जाता है, जैसे अन्धकारमय भवन में दीपक के जल जाने पर तम का तत्काल नाश देखा जाता है। आत्मा में स्थिति को प्राप्त कर मन का नाश किया जाता है। जो साधक सभी इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत

सर्वप्रकाशक सर्वनियन्ता आत्मा में स्थित हो जाता है और आत्मा को स्वस्वरूप से जान लेता है, उसका मन नाश (लय) को प्राप्त हो जाता है। (वि.च. 279)

ज्ञेयवस्तु जो जगत्प्रपञ्च है, उसके त्याग से और आत्मा को स्वरूप से जानकर साधक मन को लय (नाश) कर देता है। (महावा.र.)

● ● ❀ ● ●

**द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ता-बन्धः।।२१।।**
**अहं त्वं जगदित्यादिसर्गः-दृश्यम्।**
**यावदेतत्सम्भवति, तावन्मोक्षो न विद्यते।।** (यो.वा.सा. ३/१/२३)

द्रष्टा को जब तक दृश्य (जगत् प्रपंच) की सत्ता का अनुभव हो, तब तक बन्ध बना रहता है। दृश्य की सत्ता का दर्शन ही बन्ध है। जब साधक को–

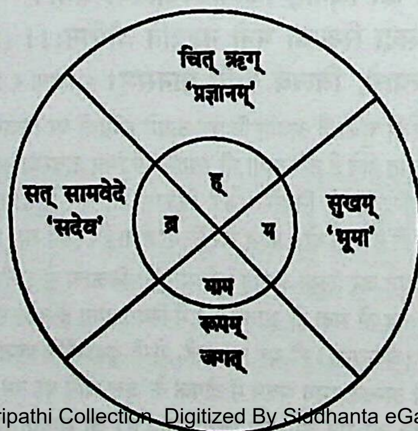
**यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूतविजानतः।**
**तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।** (ईशा वा.उ. 7)

जिस साधक को सभी भूतों में आत्मा का दर्शन होता है और सभी भूत आत्मा में अनुभव होते हैं, उसे शोक मोह नहीं होता अर्थात् वह अज्ञान के बन्ध से मुक्त हो जाता है। (यो.वा. 2/1/50)

अहं (मैं) त्वं (तुम) इस प्रकार भेद व्यवहार का बना रहना ही दृश्य है। जगत् के व्यवहार दशा को सत्य समझने वाला मैं-हम-तूँ-तुम आदि भेद को स्वीकारते हैं। उन्हें भेद बुद्धि होती है। उन्हें सृष्टि अनेक दिखायी देती है, इसी को दृश्य कहते हैं और जब तक इस प्रकार प्रतीति का विषय बना रहता है, तब-तक बन्ध है और जब तक द्वैत विचार बना रहता, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।

● ● ❀ ● ●

**जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनामागमापायभासनम्।**
**यतो भवत्यसावात्मा, स्वप्रकाशचिदात्मकः।।** (पंचदशी १२/५८)



**यत्त्वं पश्यसि तत्रैव, त्वमेव प्रतिभाससे।।** (अष्टा.गी. १५/१४)
**अदृष्ट्वा दर्शनैव, तदन्तस्थे क्षणं नहि।**
**अमत्वा सच्चिदानन्दं, नामरूपमतिः कुतः।।** (पंचदशी १३/१०२)

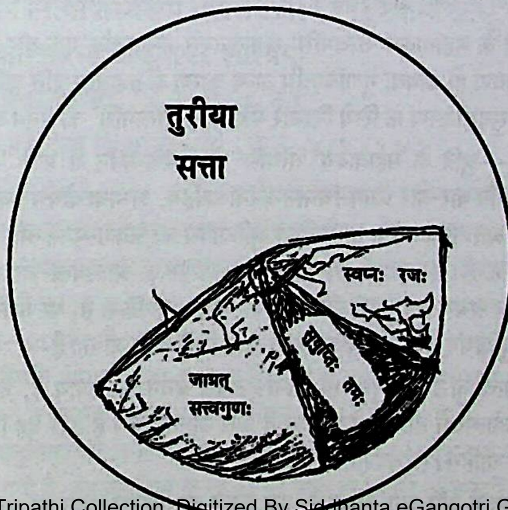
जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जो समान रूप से अनुभूति में प्राप्त हो, वही आत्मा है और वहीं चिदात्मा का स्वस्वरूप है तथा वही सभी अवस्थाओं में प्रकाशक होता है। वही आत्मा सत् है ऋत् है और प्रज्ञानघन है और वही ब्रह्म है। सदेव (सत् ही) साम है; क्योंकि श्रुति कहती है—'सदेव सौम्य इदमग्रमासीत् ऐकमेवाद्वितीयम्' हे सौम्य यह अद्वितीय सत् ही सृष्टि के आदि में था। वह सत् ही भूमा है आनन्द है और जाग्रत् अवस्था में 'माम' रूप से व्यवहार का विषय होता है। (अनुभू.प्र. 13/18,22)

जो तुम पुरोवर्ति वस्तु को देख रहे हो, वहाँ जो अद्वितीय (अद्वैत-अभेद) वस्तु आत्मा का प्रतिभासन हो रहा है, वह तुम ही हो। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (कठोप. 2/18) वह आत्मा (ब्रह्म) आकाश के समान सर्वगत है, व्यापक है और 'आत्मा ब्रह्मैव नापरः' आत्मा ब्राह्म ही है, इस प्रकार साधक जीवात्मा मनन करना चाहिये। (पंचदशी)

जब दर्पण को न देखा जाय और उसके मध्य ईक्षण (मैं हूँ) न किया जाय और सच्चिदानन्द को न जाना जाय, तो नाम और रूप आदि उपाधि की मति कैसे होगी? कथमपि नहीं होगी। उपाधि के दर्शन कल्पन-चिन्तन और मति से ही उसकी उपस्थिति होती है, अतः नाम-रूप आदि विकल्प (उपाधि) से रहित केवल निरञ्जन शुद्ध चेतन ब्रह्ममात्र ही दृग्दृश्य है, ऐसी मति होने पर ही अपरोक्ष ब्रह्म का साक्षात् होता है। (अष्टावक्रगीता 15/14, पंचदशी 13/102)

• • ❁ • •

**सञ्चारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडापरे ब्रह्मणि।** (वि.वे.चू. ५३९)



जीवात्मा की अवस्था तीन प्रकार की होती है-जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। सिद्ध योगी-ब्रह्मविद् की अवस्था तुरीया होती है। सत्त्वगुणप्रधान अवस्था जाग्रत् अवस्था है। रजोगुणप्रधान स्वप्नावस्था है और तमोगुणप्रधान सुषुप्ति अवस्था होती है। इन्हीं गुणों से अभिभूत जीवात्मा जीवभाव को प्राप्त होता हुआ कर्त्ता-कर्म-काम-इच्छा-द्वेष-प्रयत्नादि वाला होता है और तत्तत्कर्म का भोक्ता भी होता है, परन्तु परमात्मा में स्थित (आत्मनिष्ठ) योगी तुरीयावस्था को प्राप्त कर अर्थात् तीन गुण और उसके कार्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से अतीत ब्रह्मात्म्यैक्यभाव में स्थित हो निर्द्वन्द्व होकर आत्मानन्द में निरन्तर स्थित होता है। यही प्रतीक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। जो ब्रह्मविद होता है, वह परब्रह्मपरमात्मा रूपी वीथि—गली अथवा कुञ्ज में नित्य विहार करता है। (वि.चू. 539)

• • ❀ • •

**अहं ब्रह्मेति ज्ञानस्यादाढ्यहेतवः-**

**१-श्रुत्यनेकता। २-अर्थस्यासम्भाव्यत्वम्। ३-विपरीता भावना।(पंचदशी ७/१९)**

**१- श्रवणात्। २- मननात्। ३- निदिध्यासनात्- निवर्तते।**

**देहाद्यात्मत्व सत्यत्वधीः-विपर्ययभावना। (१११)**

**चिदेवात्मा जगन्मिथ्या-निदिध्यासावसानः। (१२३)**

भाग्य से परमकारुणिक गुरु के प्राप्त हो जाने पर उत्तम अधिकारी साधक शिष्य को गुरु द्वारा उपदिष्ट श्रुति के महावाक्य 'तत्त्वमसि' के श्रवणानन्तर स्वयं का ब्रह्माकार बोध हो जाय, तब भी उसके दृढ़ीकरण की आवश्यता होती और उसके तीन हेतु है—

1. श्रुत्यनेकता—श्रुतिवाक्य में अनेकता के कारण उसके ब्रह्मात्म्येकतात्पर्य का ग्रहण नहीं होने की स्थिति में अभिधा ग्रहण होने की आशंका होती है। अतः निरन्तर एकार्थ बोधक श्रुति वाक्य का निरन्तर श्रवण ब्रह्मात्म्यैक बोध दृढ़ीकरण के लिए आवश्यक है।

2. मननात्—श्रुति के महावाक्य 'तत्त्वमसि' श्रवणानन्तर मननपूर्वक एक बार 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध हो जाने पर भी श्रुत्यन्तर श्रवण हो अथवा गुणविपर्यय अन्य कारण से ब्रह्मबोध वृत्ति बाधित हो सकती है, अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध के सुदृढ़ीकरण के लिये निरन्तर महावाक्य 'तत्त्वमसि' का मनन करते रहना चाहिये।

3. निदिध्यासनात्—श्रुति के महावाक्य 'तत्त्वसि' के श्रवण-मनन से प्राप्त 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध के दृढ़ीकरण हेतु पूर्व की भाँति बार-बार ध्यान-चिन्तन करना चाहिये, अन्यथा बोधभंग का प्रसंग साधक के लिये उपस्थित हो सकता है। अतः ब्रह्मात्म्यैक तात्पर्यीभूत श्रुतिवाक्य का श्रवण-मनन और निदिध्यासन ब्रह्मात्म्यैक में दाढ्यार्थ परमावश्यक है। (पंचदशी 7/99) अब योगारूढ़ आत्मवेत्ता जो अभी-अभी गुरुमुख से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का श्रवण कर 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध प्राप्त किया है, पर आत्म विज्ञान दृढ़ नहीं हुआ को क्यों और कैसे ब्रह्मबुद्धिभंग का अवसर उपस्थित होता है को कहा जा रहा है—

(क) देह में आत्मत्व बुद्धि का पुनः हो जाना। उससे बचने का उपाय है, देह में आत्मत्व बुद्धि के विपर्ययभावना अर्थात् आत्मा में ही यह देह स्थित है और आत्मा सत्य है और देह मिथ्या है, इस प्रकार की भावना को सुदृढ़ करना चाहिये। (पंचदशी 7/111)



(ख) चित् ही आत्मा है और जगन्मिथ्या है, इस प्रकार का निरन्तर ध्यान का अवसान (विराम) हो जाना

और इससे बचने का उपाय यह है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का निरन्तर (अविच्छिन्न) निदिध्यासन बना रहे। इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। (पंचदशी 7/123)

**भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि, तापः संसारिकः स्मृतः। (१४४)**
**इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः।**
**इत्यविस्मरतो हानिः, का वा प्रारब्धभोगतः।। (१७४)**
**(आत्मधीरेव विद्या) ।।१८६।।**

जगत् का सत्य बोध भ्रान्ति है और उसका एक ही उपाय है कि जगद् प्रतीति भ्रान्ति है—मिथ्या है और सकल दुःख का मूल है। इस प्रकार से निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। (पं.द.)

इस जगत् का अनेक रूप से प्रतीति इन्द्रजाल के समान मिथ्या है और उस इन्द्रजालिक प्रपञ्च के क्षयापचय रूप अचिन्त्य विषय मेरा नहीं है तथा प्रारब्धशेषात् जो उपस्थित है, उसे प्राप्त करता हुआ उसके मिथ्यात्व का मौलिक चिन्तन करते रहना जिससे ब्रह्म के सत्यत्व और जगत् की मिथ्यात्व बुद्धि पुष्ट बना रहे। (पं.द.)

जगत् प्रपञ्च से बुद्धि का परिहार कर आत्मबुद्धि का बना रहना ही विद्या है। जगत् का सत्यत्व मिथ्या है और जगत् में ब्रह्म बुद्धि विद्या है 'सा विद्या या विमुक्तये'। विद्या वही है, जो जगत् बन्ध से छुटकारा दिला सके। (पं.द.)



**ब्रह्मसूत्रम्-प्रदीपाधिकरणम्। (अ. ४/पा. ४, सूत्र-१५)**
**प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति।।१।।**
**स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि।।२।।**
**सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपं ब्रह्मसर्वेण।** (शाङ्करभाष्य ब्र.सू. १/१/८)
**'अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरं शास्त्रम्'**
**'इदं सर्वं यदयमात्मा'** (वृ.उ. २/४/६)
**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (वृ.उ. ४/५/१५)

जिस प्रकार अनेक दीप के जलने पर भी उन दीपकों में एक ही अग्नि प्रकाशित होती है, उसी प्रकार वह मुक्तात्मा पुरुष अपने संकल्प से रचे हुए समस्त शरीरों में प्रविष्ट होकर दिव्यलोकों के भोगों का उपभोग कर सकता है; क्योंकि—'तदैक्षत् एकोऽहं बहुस्याम्' उसने ईक्षण किया कि मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ इस प्रकार श्रुति का मत है। इसी प्रकार 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा (छा.उ. 7/26/2) वह एक प्रकार तीन-पाँच-सात और नौ प्रकार से शरीर को धारण कर लेता है। अर्थात् वह एक से अनेक और अनेक से एक में अपनी स्थिति सामर्थ्य वाला हो जाता है। श्रुति में यथा उपर्युक्त स्थान पर जो किसी प्रकार का ज्ञान न रहने की 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयेत न कंचन स्वप्नं पश्यति' (वृ.उ. 4/3/19) तथा 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (वृ.उ. 2/4/14) तथा नदी की भाँति समुद्र में मिल जाने की बात कही गयी है, वह कार्यब्रह्म के लोकों को प्राप्त होने वाले अधिकारियों के विषय में नहीं है;

अपितु लय अवस्था को लेकर वैसा कथन है। प्रलय काल में भी प्राणियों की स्थिति सुषुप्ति की भाँति ही रहती है, इसलिये उसका पृथक् उल्लेख सूत्र में नहीं किया गया है। लय अवस्था और सायुज्य मुक्ति इन दोनों में से किसी एक को उद्देश्य कर के कथन है, क्योंकि ब्रह्मलोक में जानेवाले अधिकारियों के लिये तो स्पष्ट वहाँ के दिव्य भोगों के उपभोगों की तथा अनेक शरीर धारण करने की एवं यथेष्ट लोकों में विचरण करने की बात श्रुति में उन-उन स्थलों पर कही गयी है। इसलिये यहाँ किसी प्रकार के विरोध या असम्भव की बात नहीं है।

ब्रह्म सर्वगत होने के कारण तथा सर्वात्म स्वरूप होने के कारण उस-उस जगद्वस्तु में सवर्णता को प्राप्त है।

अविद्या (अज्ञान) से कल्पित भेद (अनेकता) के निवृत्ति पर्यन्त शास्त्र (आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः) श्रवण करना चाहिये, क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन द्वैतबुद्धिनिवृत्ति यावत् प्रवर्तन धर्म है।

यह दृष्ट जगत् प्रपञ्च सबके सब आत्मा (ब्रह्म) ही है। (ब्रह्मसूत्र प्रदीपाधिकरण शो.भा.)

जो ये सबको जानने वाले ब्रह्म है, उसे कौन किस प्रकार से जानेगा? अभिप्राय है कि जो आत्मत्वेन ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया है, वह किसको किस प्रकार देखेगा? 'आत्मैवाभूत विजानतः' वह तो सबको आत्म रूप से सर्वात्मता को प्राप्त कर लिया है। जानना क्रिया तो कर्ता-कर्म उपस्थित होने पर ही सफल हो सकता है, परन्तु ऐसे उपर्युक्त सर्वात्मभाव को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी तो कर्त्ता-कर्म-करण को अतिक्रमित कर सर्वात्मता प्राप्त है। अतः वह किसको किस प्रकार देखेगा—जानेगा? किसी को नहीं; क्योंकि एक (केवल) में कर्तृत्व-कर्मत्व-क्रियात्व-करणत्व सम्भव नहीं है। (छा.उ. 4/5/15)'



**शरीरत्वं मिथ्याज्ञाननिमित्तम्** (शां. भाष्यम्, बृ.उ. ४/५/१५)

**'शरीरसम्बन्धमनित्यम्'** (शा. भाष्यम् बृ.उ. ४/५/१५)

**'धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वमसिद्धम्'** (शा. भाष्यम्., बृ.उ. ४/५/१५)

**'यथाऽहिर्निल्वयिनी बल्मीके मृता प्रत्यस्ताशयीतैवमेवेदं शरीरं शेते'। ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः।** (शां.भा.ब्र.सू. १/१/४)

**'अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव'।** (छा.उ. ४/४/७)

शरीरत्व मिथ्याज्ञान का ही निमित्त है; क्योंकि यदि सत्य होता तो वह तीनों काल में एक जैसा रहता। सत्य तो 'त्रिकालाबाधाबाधित्वम्' तीनों काल में एक रस होता है, वह किसी अन्य से बाधित नहीं होता। परन्तु शरीर के सम्बन्ध में ऐसा देखा नहीं जाता। वह क्षण-क्षण में विकार को प्राप्त होता है। अतः विकारित्व शरीर सत्यभिन्न मिथ्या है।

शरीर से आत्मा का सम्बन्ध भी मिथ्या ही है; क्योंकि आत्मा का निरवयवत्व और अद्वितीयत्व श्रुति-स्मृति प्रसिद्ध है और सम्बन्ध सावयव तथा द्वैत में ही सम्भव होता है। अतएव शरीर से आत्मा का सम्बन्ध अविद्या मूलक तथा मिथ्या कल्पना ही है।

धर्म और अधर्म आत्मा का नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा परमार्थतः निरुपाधिक है। धर्माधर्म सोपाधिक अधिकरण में ही सम्भव होता है। आत्मा का निरवयव-निरूप-निर्मल-निरञ्जन-निधर्मक स्वरूप होने के कारण उसका धर्माधर्म से सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः धर्माधर्म आत्मकृत् नहीं है, देहकृत् ही है। (शां.भा.)

जिस समय उसके हृदयस्थित सकल कामनाओं का नाश हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मात्म ज्ञानी मरणधर्मा से मुक्त होकर अमृत हो जाता है और यही इसी शरीर में उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि अनात्मविषयक कामनाएँ ही अविद्यारूप मृत्यु है, अतः मृत्यु का वियोग हो जाने पर वह विद्वान् जीवित रहते हुए भी अमृत हो जाता है। वह किस प्रकार ऐसा होता है? कहते हैं—वह इस शरीर में रहते हुए ही मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए देहान्तर-देशान्तर की अपेक्षा नहीं है, इसलिए उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है और वह सर्प के काँचुली की तरह बाल्मीक (बाँबी) पर मृत परित्यक्त अर्थात् सर्प के अनात्मभाव से प्रक्षिप्त के तुल्य पड़ा रहता है, शरीर सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष के द्वारा परित्यक्त मरे हुए के समान पड़ा रहता है और यह अशरीर अमृत प्राण तो अमृत ब्रह्म ही है, तेज ही है, ऐसा अनुभव करता है। (शा.भा.ब्र.सू. 1/1/4, बृ.उ. 4/4/7)

**सूक्ष्मता व्यापिते ज्ञेये, गन्धादेरुत्तरोत्तरम्।**

**प्रत्यगात्मावसानेषु, पूर्वपूर्वप्रहाणतः।।** (उपदे.सा. ९/१)

**अहमेकः सदा शुद्धः, चिन्मात्रः सर्वगोऽद्वयः।** (उपदे.सा. ९/३)

**ब्रह्माद्यास्थावरान्ता ये, प्राणिनो मम पूः स्मृताः।** (उपदे.सा. ९/४)

**मच्चैतन्यावमानत्वात्, सर्वप्राणिधियां सदा।**

**सर्वज्ञस्य विपाप्मनः।।** (उपदे.सा. ९/६)

यथा किसी देश से आगत तेज सुगन्ध के प्रति उसके लाभार्थी पूर्व-पूर्व स्थूल देश त्यागपूर्वक उत्तर-उत्तर देश को प्राप्त करता है, उसी प्रकार साधक आत्मानुसन्धान काल में पूर्व-पूर्व स्थूल देहादि का त्यागपूर्वक उत्तरोत्तर सूक्ष्म को ग्रहण करता हुआ प्राप्तव्य ज्ञेय को प्राप्त करता है। (उप.सा. 9/1)

वह साधक पूर्व-पूर्व स्थूल देश का परित्यागपूर्वक सूक्ष्म आकाश को ग्रहण करता है क्योंकि भौतिक शरीर का सर्वसूक्ष्म आकाश है और पृथिवी का जल, जल का अग्नि, अग्नि का वायु और वायु का आकाश कारण होता है और पूर्व-पूर्व पृथिव्यादि से उत्तरोत्तर जलादि सूक्ष्मतर है और आकाश सूक्ष्मतम है। उसी प्रकार स्थूल शरीरादि में त्याग बुद्धि पूर्वक शरीरादि का अधिष्ठान सर्वसूक्ष्म आत्मा को 'मैं अद्वितीय, शुद्ध चिन्मात्र, व्यापक, केवल स्वरूप वाला हूँ, अन्वेषणपूर्वक जान ही लेता है और वही उसका स्वस्वरूप होता है। (उप.सा. 9/3)

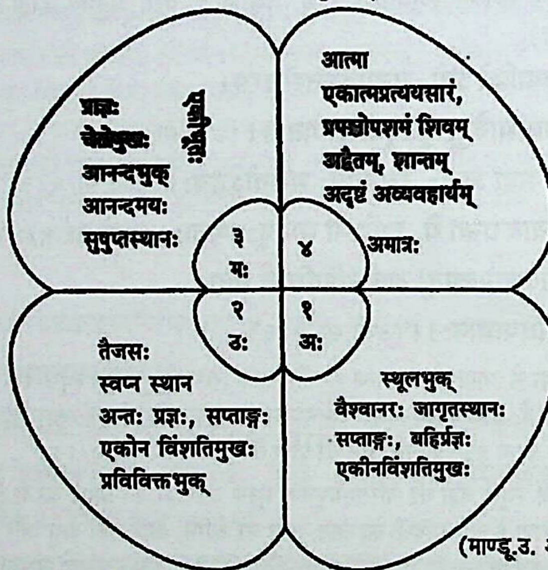
वह साधक जब अपने स्वस्वरूप को प्राप्त करता है, तो ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त देह अपना देह ही है ऐसा अनुभव करता है; क्योंकि उसे अपरोक्ष अभेदात्मब्रह्मप्रतीतिविषयक बोध हो गया होता है। 'एको देवः–सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्रुति) सभी में एक ही देव (प्रकाशनशील-क्रीडनशील) आत्मा स्वरूप से हृदयदेश में व्याप्त है, वह ऐसा जानता है। (उप.सा. 9/4)

वह आत्मज्ञानी साधक यह अनुभव करता है कि मेरे इस चेतन के प्रकाश से ही सभी प्राणी प्रकाशित और

प्राणवान् है। (उप.सा. 9/6)




**सोऽयमात्मा चतुष्पाद्।।**




(माण्डू.उ. आगम प्रकरणम्)

यह 'ॐ' अक्षर ही सब कुछ है। इस 'ॐ' के शिवा इस जगत् में दूसरा कुछ भी नहीं है। यह भूत-वर्तमान और भविष्यत् अर्थात् जो गत (बीता हुआ) आगत (वर्तमान में स्थिर होता हुआ) में तथा अनागत (भविष्य में होने वाले) में जो भी 'अस्ति' सत्ता रूप से देखा-देख रहे और देखना एवं अनुभव किया, अनुभव करता है और अनुभव होने वाला है वह सब 'ॐ' ही है। इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत अर्थात् तीनों कालों से परे और अपने कार्यों से विदित होने वाला और अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि हैं, वह भी ॐकार ही है। (माण्डू.उ.)

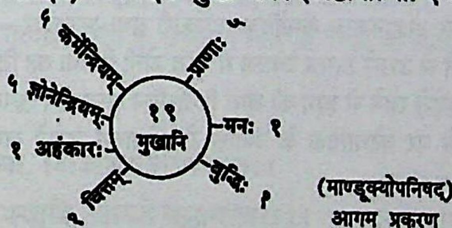
विशेष—किसी देशविशेष में प्रचलित सिक्के का नाम कार्षापण है और यह सोलह पण (आने) का होता है। जिस प्रकार एक रूपये में चार चवन्नी (पाद) होते हैं अथवा एक सेर में चार पाव होते हैं, उसी प्रकार आत्मा (ब्रह्म) में चार पाद माने गये हैं, सर्वप्रथम इस विषय को ध्यान में रख लेने से प्रकरण को समझने में सुलभता

होगी।

यहाँ आत्मा का अङ्गुल्या निर्देश है। ॐकार नाम से कहा जानेवाला तथा पर और अपर रूप से व्यवस्थित वह यह आत्मा कर्षापण (सिक्के) के समान चार पाद (चार अंश) वाला है। प्रथम अः द्वितीय-उः, तृतीय-मः और चतुर्थ अमात्र (मात्रारहित) हैं। अब उस चतुष्पाद को विशेष रूप से कहते हैं—'ॐकार के प्रथम पाद की मात्रा अः' है, जिसका स्वरूप जागरित स्थान (जाग्रत अवस्था में जिसके प्रकाशन का स्थान) है, वहिष्प्रज्ञ (अपने से भिन्न विषयों में प्रज्ञा है जिसकी) है, सप्तांग (द्युलोक शिर, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, आकाश मध्यस्थान अर्थात् देह), अन्न का कारणरूप जल मूत्र स्थान, और पृथिवी चरण है। इक्कीस मुख (पंच ज्ञानेन्द्रिय-पंचकर्मेन्द्रिय-पंच प्राण और मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार) हैं। वे स्थूलमुक् (स्थूल विषयों का भोक्ता) वैश्वानर संज्ञक प्रथम पाद 'अः' है। प्रथम पाद मात्रा 'अः' की उपासना इसी रूप से करने योग्य है। द्वितीय पाद ओंकार की मात्रा 'उः' है। वह स्वप्नस्थान (स्वप्न ही है प्रकाशन-स्फुरण स्थान जिसका) अन्तःप्रज्ञ (स्वप्नावस्था में जिसकी प्रज्ञा मन के वासना के अनुरूप रहती है, इस लिए उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं), सप्ताङ्ग (सप्तांग को प्रथमपाद में कह दिया गया है) एक विंशतिमुख (प्रथमपाद में कह दिया गया) विविक्तभुक् (सूक्ष्म वासना मात्र भोज्य विषय वाला) तैजस संज्ञक द्वितीय पाद ओंकार है। द्वितीय पाद मात्रा 'उः' की उपासना उक्तरूप से करनी चाहिये। तृतीयपाद की मात्रा 'मः' है। वह चेतोमुख (चेतना ही है मुख=प्रधान जिसमें) आनन्दभुक् (आनन्दबहुल का भोक्ता), आनन्दमय और सुषुप्तस्थान (सुषुप्ति काल ही है स्फुरण का स्थान जिसका), स्वरूपवाला प्राज्ञसंज्ञक है। अतः 'मः' मात्रा की उपासना उक्त स्वरूप से करणीय है। ओंकार के चतुष्पाद मात्रा रहित है। वह आत्मा है मात्र आत्मप्रत्ययसार है। सकल प्रपञ्च के उपशमोपरान्त प्राप्त शिवस्वरूप है। अद्वैत रूप (अद्वितीय), शान्त, अदृष्ट (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) और अव्यवहार्य स्वरूप है। इन तीनों पादों में अर्थात् जाग्रत्स्थानीय वैश्वानर, स्वप्नस्थानीय तैजस और सुषुप्ति स्थानीय प्राज्ञसंज्ञक तीनों उपाधि-अवस्थाओं से रहित शुद्ध चेतन आत्मा मात्र का प्रत्यय वाला है और सभी विकल्पों से रहित रहता हुआ भी उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं जाग्रत्–स्वप्न-सुषुप्ति में एकरस रूप से अनुस्यूत है—व्याप्त है। अतः तीनों अवस्थाओं में व्याप्त है। अतः तीनों अवस्थाओं में व्याप्त यह अमात्र आत्मचेतन ओंकार ब्रह्म ही है। यही परब्रह्म और अपरब्रह्म भी है। वह यह ओंकार अपूर्व (अकारण) अन्तर्बाह्यशून्य, अकार्य तथा अव्यय है। इसलिये साधक चित्त को ओंकार ब्रह्म में समाहित करें, क्योंकि ओंकार निर्भय ब्रह्मपद है। जो साधक इस ओंकार ब्रह्म में नित्य समाहित होता है, उसको कहीं भी भय नहीं होता। 'प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विधते क्वचित्' (माण्डूक्योपनि. आगम प्र. 25) अतः प्रवण ब्रह्म ओंकार उपासनीय है। (माण्डूक्योपनिषद्)'

• • ✿ • •

**चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी, निरपेक्षः सुखं चर।** (अष्टावक्रगी. १५/४)



यत्त्वं पश्यसि तत्रैकः
त्वमेव प्रतिभाससे।

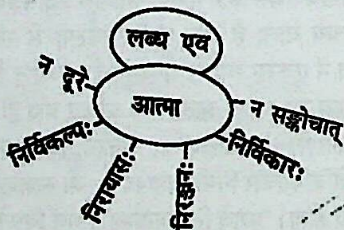
आत्मनः
|
आकाशः
|
वायुः
|
अग्निः
|
आपः
|
पृथिवी
|
जगत्

किं पृथग्भासते स्वर्णात्
कटकाङ्ग

(अष्टा.गी. १५/१४)

हे जनक जी! न तो तुम देह हो और न ही तुम्हारा यह देह है तथा तुम (आत्मा) न किसी कार्य के कर्त्ता ही हो और न ही किसी कर्म के भोक्ता ही हो। तुम तो चिदात्मा (चेतन) स्वरूप और सदा सभी में कर्तृत्व-भोक्तृत्वसहित सम्पूर्ण जगद् व्यवहार के साक्षी मात्र हो। साक्षी मात्र द्रष्टा होता है। वह केवल देखता है। वह कर्म का कर्ता नहीं होता। अतः तुम इस जगत्प्रपञ्च व्यवहार से निरपेक्षभाव से सुखपूर्वक विचरण करो। यह महात्मा अष्टावक्र जी की महाराज जनक के प्रति व्याजोक्ति से हमारे लिये अनुकरणीय है। (अष्टा.गी. 15/4)

कर्त्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्।। (अष्टा.मी. १८/३)




हे महाराज जनक जी! नाना प्रकार के कर्मों में आसक्ति से उत्पन्न दुःखरूप मार्तण्ड (प्रचण्ड सूर्य) की ज्वाला से दग्ध अन्तःकरण वाले जीवात्मा के आत्मा से निसृत अमृतधारापात सूख जाते हैं। इस करण से उसकी ज्वाला की शान्ति कैसे हो पायेगी? कथमपि नहीं। आत्मा निर्मल-स्वच्छ-शुद्ध-ज्ञान और अमृत स्वरूप है और अज्ञानजन्य कर्मादिक तापकारी तथा अन्धकार—मृत्यु स्वरूप है। निरन्तर काम्य कर्मादि के करते रहने से उससे उत्पन्न ज्वाला में वृद्धि होती है तथा वह दिनों दिन प्रगाढ़ होते चले जाते है। उनकी प्रगाढ़ता के बढ़ते रहने से ज्ञान की धारा दिनों-दिन लुप्त होने लगती हैं और काम में प्रवृत्ति होने पर उसकी अप्राप्ति होने पर क्रोधादिक के ज्वाला से जीवात्मा जलने लगता है, ऐसा प्रसंग में समझना चाहिये। (अष्टा.गी. १८/३)

**अकर्तृत्वमभोक्तृत्वमात्मनो मन्यते यदा।**

**तदा क्षीणा भवन्त्येव, समस्ताश्चित्तवृत्तयः।।** (अष्टा.गी. १८/५१)

**विद्यामयो यः स तु नित्य मुक्तः।।७।।**

**देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद्यथोत्थितः।।८।।**(श्रीमद्भाग. ११/११)

यह आत्मा संकोच विकास रहित होने के कारण न दूर है, न नजदीक है; क्योंकि यह स्वस्वरूप होने के कारण स्वात्मा कहा जाता है और आत्मा के स्वरूप निर्विकार, निरायास, निर्विकल्प, निरञ्जन स्वरूप है। इसकी दूरी अज्ञान के कारण ही प्रतीत होती हैं। अज्ञानियों के लिए यह दूर होता है, जैसे—कोई आँख से सबको देखता हो, पर उसे यह ज्ञान न हो कि मैं आँख वाला हूँ, इसलिए देखता हूँ। उसी प्रकार आत्मा अत्यन्त नजदीक होते हुए भी यदि अज्ञान हो, तो दिखाई नहीं देता है। 'लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति' जिसे आँख (ज्ञान) नहीं है, तो उसे अपने स्वरूप का शास्त्रादि वाक्योद्बोधित होने पर भी आत्मदर्शन नहीं हो पाता, क्योंकि अज्ञान उस दर्शन का प्रतिबन्धक होता है। अज्ञानेनावृतं आत्मा तेन मुह्यन्ति जन्तव:' (गीता), परन्तु ज्ञानियों को आत्मा नजदीक है; क्योंकि आत्मा वह स्वयं ही है—'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। तदन्तस्य सर्वस्य तदु सर्वास्य बाह्यत:' (ईशावा.-५) वह आत्मा ज्ञानियों को नजदीक और अज्ञानियों को बहुत दूर है। (अष्टा. गीता)

हे महाराज जनक जी! यदि आप अपने स्वात्मा को वह अकर्ता और अभोक्ता है, ऐसा स्वरूप से जान लोगे, तो निश्चित रूप से आपकी विचित्र विभिन्न चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो जायेगी और आप अपने निरञ्जन-निर्विकल्प-निराकार, शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप आत्मा हो जान जाओगे अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो सकोगे। (अष्टा.गी. १८/५१)

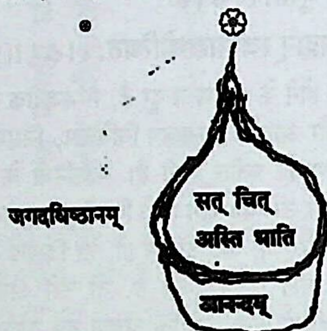
जो अज्ञान में डूबा हुआ है अर्थात् जो स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता आदि धर्मों वाला समझता है, उसे जगत् वस्तु में राग होता है और जगद्वस्तु के प्राप्त न हो सकने पर द्वेष होता है और उसे प्राप्त करने के लिए अनेक असत्प्रयत्न करता है, यही विषयों के प्रति रागात्मक बद्धता ही बन्ध है। विद्यासम्पन्न तो जगद्वस्तु को अनित्य रूप से जानता है और स्वयं को कर्मादि का कर्त्ता-भोक्ता नहीं जानता, वह तो जगद्वस्तु को प्रकृति का विकार या आत्मा (ब्रह्म) का विवर्तरूप से उसे जानता है। अत: उसमें राग नहीं करता-सम्बन्ध नहीं बनाता, क्योंकि कर्त्ता कर्म दोनों प्रकृति के गुणगत कार्य हैं। 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते ततो न सज्जते'। (गीता) वह प्रकृति के गुण ही गुण में वरत रहा है, ऐसा जानकर उसमें लिप्त नहीं होता। अत: वस्तु के प्रति राग-लिप्सा-लिप्तता ही बन्ध है जो अविद्या का कार्य है। विद्या का कार्य स्वयं का कर्त्ता-भोक्ता धर्म रहित ज्ञान तथा जगद्वस्तुओं में रागरहित वृत्ति है, इसलिये मोक्ष ही विद्या का परम कार्य है। (श्रीमद्भा. ११/११/७-८)



**उच्छिन्नं सर्वसङ्कल्पो, निःशेषाऽशेषचेष्टितः।**

**स्वावगम्यो लयः क्वापि, जायते वागगोचरः।।** (अमनस्क खण्डे-२)

विद्यास्वरूपा गुरू सभी संकल्पों को उच्छिन्न (नाश) करने वाली सम्पूर्ण सृष्टि से निशेषा है तथा सम्पूर्ण जगत् की चेष्टा से जानी जाने योग्या है। कभी वह अपने आत्मा में स्वानुभूति में लय को प्राप्त स्वरूपा और कभी ज्ञानेन्द्रिय (वाणी) का विषय नहीं होने वाली है।(अमनस्क ख. २)




जगत् का अधिष्ठान सत्-चित्-आनन्द स्वरूप प्रेम है। वह सत् वस्तु का अस्तित्व बोधक है। सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च में जो अस्तिता है, वही सत् ब्रह्म है और जो भासता (प्रकाशकत्व) है, वही चिद् ब्रह्म है तथा उस जगत् वस्तु के आलम्बन से जो आनन्द संकेत प्राप्त है, वह आनन्द ब्रह्म है।

**जीवन्मुक्तेः पञ्च प्रयोजनानि- १. ज्ञानरक्षा-संशय-विपर्यानुत्पत्तिः । २.तपःचित्तैकाग्र्यम्। ३. विसंवादाभावः। ४. दुःखनिवृत्तिः-ऐहिक-पारलौकिकी। ५.सुखाविर्भावः।**(तत्त्वानुसन्धाने-४)

**'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदांवरिष्ठः'।**

**१. अपरोक्षानुभवी। ब्रह्मविद्। २. विजातीयवृत्तितिरस्कारपूर्वकवृत्तिप्रवाहः। ब्रह्मविद्वरः। ३. ब्रह्मचिन्तनमब्रह्मात्मैकत्वसमाधिः। ब्रह्मविद्वरीयान्।**

जीवन्मुक्त व्यक्ति के पाँच प्रयोजन है—

१. **ज्ञानरक्षा**—संशय और विपर्यय की उत्पत्ति न हो, इसके लिए ज्ञान को स्थिर बनाये रखने के लिये उपाय करना।

२. **तप-चित्तैकाग्र्य**—चित्त की एकाग्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तप करना।

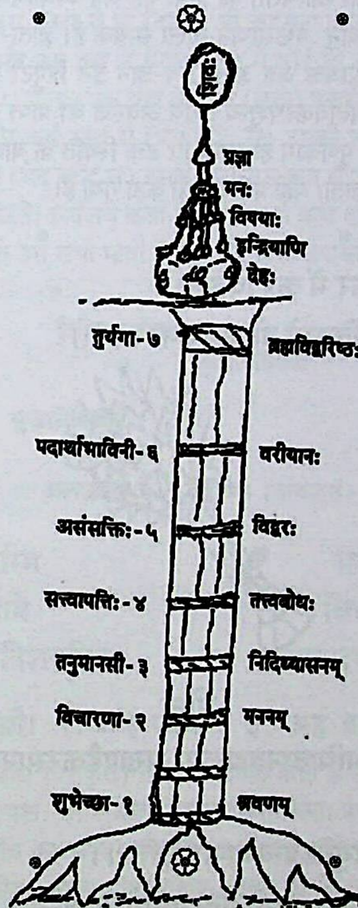
३. **विसंवादाभाव**—निष्फल प्रवृत्ति को रोकना और सफल प्रवृत्ति को बनाये रखना। यहाँ ध्यान रहे कि भ्रम स्थल में होने वाली (सुक्तौ इदं रजतम्) प्रवृत्ति निष्फल प्रवृत्ति है और इस प्रवृत्ति को स्वानुभव बोध तथा शास्त्रीय वाक्यों के मननादि करके रोकना चाहिये।

४. **दुःखनिवृत्ति**—ऐहिक-पारलौकिक दुःख का स्मरण करते रहना और उसके कारण के निवारण

हेतु चिन्तन बनाये रखना।

**५. सुखाविर्भाव**—प्रारब्ध शेषानुकूल उपस्थित भोग में राग रहित रहता हुआ आत्मानन्द में रति बनाये रखना। (तत्त्वानु सं. ४)

'आत्मक्रीड' आत्मा का अपरोक्षानुभवी ब्रह्मविद् को कहते हैं। विजातीय वृत्ति (विषयानुगती) के तिरस्कारपूर्वक आत्मवृत्ति प्रवाह वाला को ब्रह्मविद्वर को कहते हैं। ब्रह्मात्मैकत्व चिन्तन के द्वारा सदा समाधिस्थ रहने वाले को ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं।

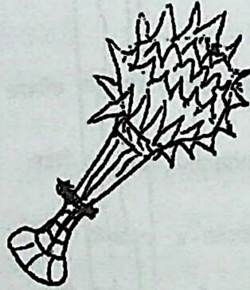



साधक वही होगा, जो शुभेच्छु हो और शुभेच्छा गुरुतः अथवा शास्त्रतः तत्त्वमसि आदि वाक्य के श्रवण में प्रवृत्तिरूप है। यह साधक का प्रथम सोपान है। श्रवण किये गये वाक्यों का अन्वय-व्यतिरेक की

सहायता से विचार करें और विचारित तत्त्व का मनन करने वाला द्वितीय सोपान के अधिकारी हैं। क्रमशः श्रवण विचारण और उसके मनन और ध्यान के द्वारा अपने शरीरादि को उसके कारण मन में लय कर तनुमानसी की स्थिति को प्राप्त कर लेने वाला तृतीय सोपान के अधिकारी साधक है। तनुमानसी को प्राप्त साधक जब सत्त्व (आत्मा) में अपने स्वरूप को स्थापन करके यही मेरा स्वरूप है ऐसा जान ले तो तत्त्वावबोध को प्राप्त चतुर्थ सोपान का अधिकारी है। तत्त्वावबोध (आत्मपरिचय) को प्राप्त वह साधक उस शरीरादि का आत्मा में लय कर ध्यानादि द्वारा समाधि को प्राप्त हो जाय, तो वह 'विद्वर' नामक पाँच सोपान वाला साधक है। इसी प्रकार आत्मरति को प्राप्त वह जब ध्येयाभिमानी अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अभिमानवाला 'वरीयान्' षष्ठसोपान वाला साधक है। ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान अर्थ को ग्रहण करने वाला वह पदार्थाभिमानी साधक जब ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान इन त्रिपुटी को ध्येय आत्मा में लय कर आत्मस्थ-तस्थ हो जाय अर्थात् सर्वविकल्पशून्य तुरीय अवस्था को प्राप्त हो जाय, तो वह ब्रह्मविद्वरिष्ठ नामक सप्तम सोपान का साधक पूर्णकाम हो जाता है। उक्त स्थिति के बाद उस ब्रह्मविद्वरिष्ठ साधक के लिए कुछ करणीय शेष नहीं रह जाता। यही प्रतीक द्वारा कहा गया है।



**ब्रह्मज्ञान ब्रह्मास्त्र को कर में कर विद्वान्।**
**दूसरे को नहि देखते, किससे हो अपमान।।** (टी.)



## मोक्ष

**अविद्यानिवृत्तिः अधिष्ठानब्रह्मरूपा अखण्डैकरसानन्दस्फूर्तिः।**

(तत्त्वानुसन्धानम् १)

**प्रसंख्यानम्-शब्दयुक्तिप्रत्यथानामावृत्तिः।।**

**असन्दिग्धाविपर्यस्तो वाक्यजन्यप्रत्ययो मोक्षहेतुः।।**

**चेतनं-नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म।।**

**'तं यथा यथोपासते तथा भवति'।।** (श्रुति)

**मोक्ष**—सर्वाधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप अखण्डैकरस आनन्द की स्फूर्ति को मोक्ष कहते हैं।

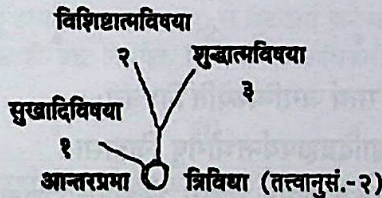
प्रसंख्यान—शब्द और युक्तियों के द्वारा उत्थित 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्यय की एकतानता का बना रहना प्रसंख्यान है।

मोक्ष हेतु—असंदिग्ध, अविपर्यस्त (सुबोध) वाक्यजन्य ('तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न प्रत्यय) चित्तवृत्ति मोक्ष का हेतु है।

चेतन—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-परमानन्दस्वरूप अनन्त ब्रह्म ही चेतन है।

मानव जिस रूप में जिस प्रकार से भी जिसकी भी उपासना करते है वह ब्रह्म की ही उपासना करते हैं, क्योंकि ब्रह्म व्यापक है और उस ब्रह्म के सिवा जगत् में कोई भी भाव वस्तु नहीं है—'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः'। (गीता) एक ब्रह्म ही भाव (सत्ता) पदार्थ है, शेष दृश्यमान वस्तु भ्रममूलक है। परन्तु जीवात्मा कर्त्ता और कर्म भाव से (भेद बुद्धि से) उसकी उस-उस रूप से उपासना करते हैं। ब्रह्मभाव से उस-उस स्थलसे (भेद बुद्धि से) उसकी उस-उस रूप से उपासना कहते हैं। ब्रह्मभाव से उस-उस स्थल में उपासना नहीं करते। इसलिये कर्त्ता-भोक्ता रूप से बन्ध को प्राप्त कर नाना प्रकार के दुःख के भागी बनते हैं। परन्तु ज्ञानी तो उसे सभी भावों में ब्रह्म रूप से ही उपासते हैं। (श्रुति)

● ● ❁ ● ●




| | | | |
|---|---|---|---|
| अहं | अस्मि | सत् | अनुभवः |
| | मामि | चित्त | |
| | अतिशयप्रियः | आनन्दम् | |

**(१. अहं सुखी। २. अहं जीवः। ३. अहं ब्रह्मास्मि इति)**

आन्तर प्रमा (प्रमात्मिका चित्तवृत्ति) तीन प्रकार की होती है—१. सुखादिविषया आन्तर प्रमा, २.विशिष्टात्मविषया आन्तर प्रमा, ३. शुद्धात्मविषया आन्तर प्रमा। प्रथम सुखादि विषया आन्तर प्रमा में 'अहं सुखी' विषयक चित्तवृत्ति का आन्तर प्रमा उत्पन्न होता है, जो बन्धभाव है। द्वितीय आन्तर प्रमा-विशिष्टात्मविषया में 'अहं जीवः' अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा की चित्तवृत्ति की आन्तर प्रमा होती है, यह भी बन्धभाव के अन्तर्गत ही आते हैं। तृतीय आन्तरप्रमा—यह चित्तवृत्ति की आन्तर प्रमा स्वात्मविषयात्मिका होती है, जिसमें 'अहं ब्रह्मास्मि, 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' इत्यादि प्रकारक शुद्ध आत्म विषयक चित्तवृत्ति की आन्तर प्रमा होती है, जो उपर्युक्त दोनों आन्तर प्रमा की निवर्तक होती है। यह प्रमा

अखण्ड होती है और वे प्रमा खण्ड होती हैं, यह पारमार्थिक और वे अपारमार्थिक होती हैं। यह निवर्तक और वे निवर्त्य होती है। यह प्रकाश और वे प्रकाश्य है। यह सत् और वे असत् हैं। यह 'अस्मि' शब्द वाच्य सदात्मानन्द की निरतिशयता स्वरूप है और वे असत् और दुःखपरिणामी है। 'अहं अस्मि' सत् स्वरूप है। इदं माम् चित्त के धर्म का अनुभव है और अहं ब्रह्मास्मि यह स्वविषयक निरतिशयानन्द स्वरूप का अनुभावक है। (तत्त्वानुसं. २)

• • ❁ • •

**आकाशपुष्पमिव विश्वमहं निरीक्षे,**
**मनोऽस्मि नित्यसुखबोधरसामृताब्धौ।**
**प्रत्यक्षमद्वयमनन्तसुखप्रबोधं,**
**साक्षात्करोमिपदभावनया गुरूणानाम्।।** (तत्त्वानुसं.-४)

इस विश्व (जगत्) को मैं आकाशपुष्प के समान (अलीक) सर्वथा अभाव (मिथ्या) रूप से देखता हूँ और नित्यानन्दबोधरूप अमृताब्धि में मग्न रहता हूँ तथा उसमें गुरु की भावना से प्रत्यक्ष अद्वितीय आनन्दबोध को साक्षात् (अपरोक्ष) रूप से दर्शन का अनुभव करता हूँ। यह सिद्ध साधक की उक्ति है। (तत्त्वानुसं. ४)

• • ❁ • •

**१. विवेक-ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येति निश्चयः।**

**२. वैराग्यम्-देहादिब्रह्मपर्यन्तभोगेषु जिहासा।**

**३. षड्सम्पत्ति-(क) शमः-मनसः स्वलक्ष्ये नियतावस्था। (ख) दमः-विषयेभ्यः परावृत्य स्व-स्वगोलके स्थापनम्। (ग) उपरति-वृत्तेर्बाह्यानालम्बनम्। (घ) तितिक्षा-सर्वदुःखानां सहनम्। (ङ) श्रद्धाः-शास्त्र-गुरुवाक्येषु सत्यबुद्ध्यावधारणम्। (च) समाधानम्-बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि स्थापनम्।**

**४. मुमुक्षताः-अहङ्कारादिदेहान्तान् बन्धान् मोक्तुमिच्छा।**

(विवेकचूड़ामणि साधनचतुष्टय)

परमात्मा (ब्रह्म) जिज्ञास्य (जानने योग्य) है श्रुति उसी को लक्ष्य कर कहती है—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। (श्रुति) उस परमात्मा ब्रह्म को जानने के लिए श्रुतिवाक्य का श्रवण-मनन और निदिध्यासन (बार-बार, निरन्तर ध्यान) करना चाहिये इत्यादि। उस (परमात्मा) इस (आत्मा) के ऐक्य बोध ही जिज्ञास्य विषय है और इस ऐक्य बोध हेतु साधन की आवश्यकता होती है। वे साधन चार हैं, जिसे साधनचतुष्टय कहते हैं—



१. विवेक—ब्रह्ममात्र सत्य है और जगत् मिथ्या—असत् है, यही विवेक है। इस प्रकार का

चिन्तन उस ब्रह्म (परमात्मा) को जानने के लिए प्रथम साधन है।

२. **वैराग्य**—शरीर (इहलोक) से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त जो भोग की सामग्रियाँ हैं वह सुख नहीं दे सकती, वह दुःखजनक हैं, इस प्रकार विषयभोग के प्रति अनासक्ति (त्यागभावना) वैराग्य नामक द्वितीय साधन है।

३. **षट् सम्पत्ति**—षट् सम्पत्ति में शम-दम-उपरति-तितिक्षा और श्रद्धा एवं मुमुक्षा ये कुल छः आते हैं। ये षट्सम्पत्तियाँ तृतीय साधन हैं। (क) **शम**—मन के अपने लक्ष्य (परमात्मा-ब्रह्म) में नियत करना-लगाना और जगत् से सम्बन्ध नहीं रखना यह प्रयत्न विशेष है। (ख) **दम**—जगत् के भोग्य विषयों से इन्द्रियों को अपने-अपने गोलक (अधिष्ठान) में समेट कर उनसे अलग कर स्थापन करना अर्थात् अधिष्ठान (कारण) में प्रस्थापन करना प्रयत्न विशेष है। (ग) **उपरति**—चित्तवृत्ति या इन्द्रिय की वृत्ति (प्रत्यय) को बाह्य भोग्य विषयों से अनाश्रित कर देना और कारण (लक्ष्य) की ओर अवलम्बित करना रूप है। (घ) **तितिक्षा**—शीत-गर्मी आदि को सहन करना। (ङ) **श्रद्धा**—शास्त्र और गुरु के वचनों को सत्य मानकर निष्ठापूर्वक अवधारण करना। (च) **समाधान**—अपनी बुद्धि को शुद्ध ब्रह्म (परमात्मा) में स्थापन करना।

४. **मुमुक्षता**—अहंकारान्त (अहंकार पर्यन्त) बन्धन (स्त्री-पुत्र-कलत्र तथा विभिन्न विषयों में स्वयं की आसक्ति से मेरा है, मैं हूँ इत्यादि प्रकारक बन्ध) से छुटकारा पाने की इच्छा ये चौथा साधन है। इन साधनचतुष्टय सम्पन्न साधक ही ब्रह्म विषयक जिज्ञासा का अधिकारी है। (विवेक चूडामणि साधन चतुष्टय)

• • ✿ • •

**त्रिषु धामसु यद्भोग्यं, भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।**

**तेभ्यो विलक्षणः साक्षी, चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।** (पञ्चदशी ७/१५)

**विज्ञानमयचिदाभासो विकारी भोक्ता।।१६।।**

**मायिकः। अस्य सुषुप्तादौ विलयः साक्षिणानुभूयते।।१७।।**

तीनों अवस्थाओं में जो भोग्य (स्थूल प्रविविक्तानन्दरूप), भोक्ता (विश्व-तैजस-प्राज्ञ रूप), भोग (उसके अनुभवरूप) हैं। उन तीनों (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति) अवस्थानों से विलक्षण (अनिर्वचनीय) जो चिन्मात्र स्वरूप साक्षी सदाशिव हैं, वह मैं हूँ। (पंचदशी ७/१५)

विज्ञानमय शब्द के द्वारा जो वाच्य चिदाभास उसके विकारित्व होने के कारण वही भोक्ता है। (पंचदशी ७/१६)

वह चिदाभास (अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित आत्मा) मायिक (मृषारूप-मिथ्या) है। इस आत्मा का तीनों (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) अवस्थाओं में एक सा ही अनुभव होता है। यथा—'अहं सुखी' (मैं सुखी हूँ) जाग्रत् में 'अहं स्वप्नं दृष्टम्' (मैंने स्वप्न देखा) स्वप्नावस्था में 'सुखमहमवाप्सं किञ्चिदपि नावेदिषम्' (मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना, इत्यादि) तीनों स्थलों में 'अहम्' (मैं) का आस्पद आत्मा ही

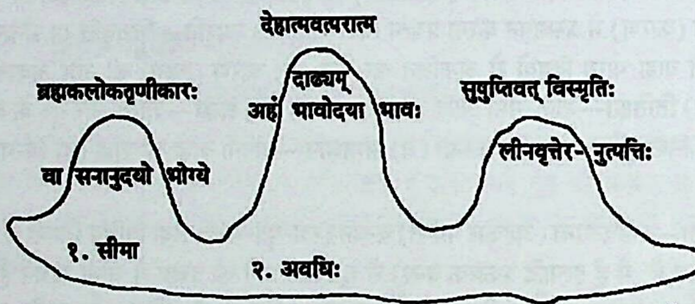
है। यह अनुभूत विषय है कि तीनों में एक आत्मा ही अनुस्यूत रहता है। (पंचदशी ७/१७)

## हेतुः-स्वरूपम्

१. वैराग्यम्-दोषदृष्टिः, भोगेष्वदीनता।

२. बोधः-श्रवणादि-तत्त्वज्ञान-ग्रन्थिहानिः।

३. उपरतिः-यमादिः वृत्तिनिरोधः-व्यवहारक्षयः।




(विवेक चू. ४२५)

**वैराग्य के हेतु के स्वरूप**—१. वैराग्य—भोग वस्तु में दोष दृष्टि रखना और उसके प्रति इन्द्रियों को असमर्थ बना देना। २. बोधः—उपनिषद्—वाक्य का गुरुमुख से श्रवण करना और उससे तत्त्वचिन्तन कर अज्ञान ग्रन्थि का विमोचन करना। ३. उपरतिः—यमादि वृत्तियों से निरोधपूर्वक संसार के व्यवहार को असत् समझ कर त्यागना और मात्र ब्रह्म विषयक व्यवहार का वरण करना।

विद्या का फल असत् से निवृत्त करना और अविद्या का फल उसमें प्रवृत्त करना है। ये दोनों फल ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों की मृगतृष्णा आदि स्थल की प्रतीति स्थल में जानने और न जानने के व्यवहार से ज्ञात होते हैं। मृगतृष्णा स्थल में वासनाभिभूत मृग को रेत में जल की भ्रान्ति होती है। परन्तु वासनाननुगत में यह स्थिति (भ्रान्ति) नहीं देखी जाती। अतः भ्रान्ति में अज्ञान ही हेतु है, जो जलात्मना प्रकट होता है। इसलिये वासना क्षय में यथार्थ ज्ञान ही समर्थ है अर्थात् अज्ञान (रेत में जल की प्रतीति) का निवर्तक ज्ञान ही है; क्योंकि मृगतृष्णा स्थल में अर्थक्रिया कारित्वाभाव (जलाभाव) होता है। उस वासनामय भ्रान्ति की निवृत्ति शास्त्रतः अथवा गुरुतः अथवा उभयतः श्रुत उपदेश के निरन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासन से संभव होता है, जो साधक-संन्यासियों-योगियों का परम लक्ष्य और उत्तम सम्पदा होती है। इसलिये यहाँ प्रतीक चित्रांकन और तात्त्विक अर्थ प्रतिपादक वाक्यों द्वारा कहा जा रहा है कि—भोग्य वस्तुओं में वासना का उदय होना वैराग्य की परम अवधि है। ऐसे वैराग्यवान् पुरुष के लिए ब्रह्मलोक का सुख भी तृण के समान तिरस्करणीय होता है। इसी तरह चित्त में अहंकार का सर्वथा उदय न होना ही बोध की चरम सीमा है। ऐसे अहंकाररहित महात्मा को जैसे अपने देह में आत्मानुभूति होती है

वैसे दूसरों के देह में भी स्वात्मा की ही अनुभूति होती है; क्योंकि उस महात्मा में अहंकार के सर्वथा उदयाभाव होता है। इसी प्रकार लीन हुई वृत्तियों का पुनः उत्पन्न न होना—यह उपरामता की परम सीमा है। ऐसे महात्मा की लीन वृत्तियों में सुषुप्ति काल में जिस तरह सम्पूर्ण जगत् की विस्मृति की स्थिति होती है, वैसी ही हो जाती है। अर्थात् चित्तवृत्तियाँ विषय को वरण करना सुषुप्ति कालिक के समान भूल जाती है। वह शान्त हो जाती है। (विवेकचू. ४२५)

## चिदाभासस्य सप्तावस्था

**१.अज्ञानम्, २.आवरणम्, ३. विक्षेपः, ४.परोक्षज्ञानम्, ५.अपरोक्षज्ञानम्, ६.शोकमोक्षः, ७. निरङ्कुशातृप्तिः। (प.द. ७/३३)**

**१. न जानामि। २. न भाति। ३. देहद्वयचिदाभासः।**

चिदाभास की सात अवस्थाएँ होती हैं—

**१. अज्ञान**—इसमें 'नाहं जानामि' मैं नहीं जानता, इस प्रकार की चित्तवृत्ति होती है।

**२. आवरण**—इसमें 'न भाति' मालूम नहीं पड़ता इस प्रकार की वृत्ति (प्रत्यय) होती है।

**३. विक्षेप**—इसमें मूढ़ व्यक्ति को तमो गुण आच्छादित कर नाना प्रकार के दुःखों से संतप्त करता है। जैसे—दुर्दिन (आँधी-तूफान के उत्पात) में मानव को खिन्नता प्राप्त होती है। उक्त दुःखात्मक प्रत्ययावस्था विक्षेप है।

**४. परोक्षज्ञान**—इसमें परोक्षात्मक बोध प्रत्यय होता है। जैसे आत्मा स्वरूप (अपना रूप) होते हुए भी उसका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होना। इसलिए श्रुति 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा प्रत्यक्ष कराने के लिए प्रवृत्त होती है।

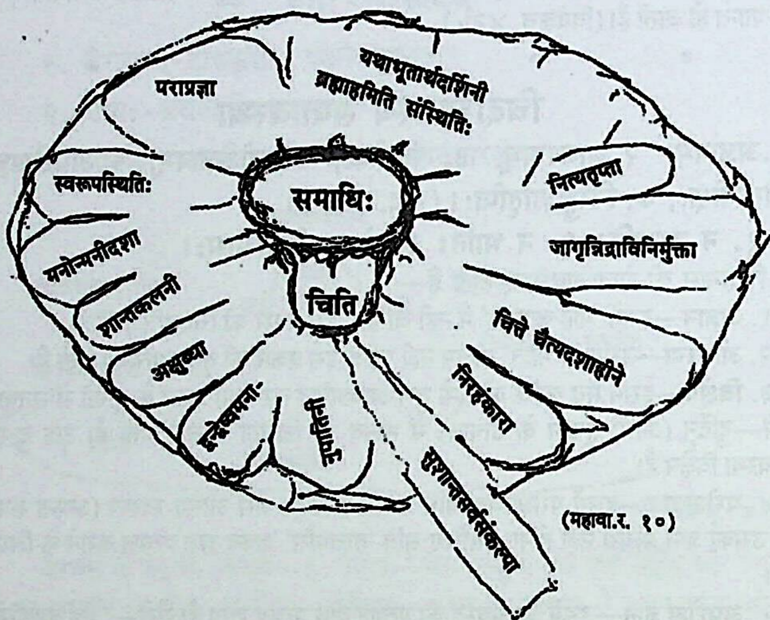
**५. अपरोक्ष ज्ञान**—इसमें आत्मवस्तु का प्रत्यक्ष बोध प्रत्यय होता है। जैसे—'अहं ब्रह्मास्मि', 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान का होना।

**६. शोकमोक्ष**—इस अवस्था में कर्तृत्वादि बन्ध से छूट जाने के कारण कर्तृत्वादि जन्य शोक नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि वह आत्मा को जान लेता है कि—'जीवो ब्रह्मैव नापरः', 'जीव साक्षात् ब्रह्म ही है अन्य कुछ नहीं'। इस प्रकार के ज्ञान हो जाने से संसृति भाव को अतिक्रमित कर जाता है और 'तरति शोकमात्मवित्', 'आत्म वेत्ता शोक से छूट जाता है' मैं नहीं जानता और मुझे ज्ञात नहीं होता, इन दोनों अवस्थाओं में चिदाभास होता है।

**७. निरशङ्का तृप्ति**—इस अवस्था में आशंका रहित अर्थात् बाधारहित (अबाधनिरवच्छिन्न) तृप्ति की प्राप्ति होती है अर्थात् आप्तकाम हो जाता है।

**हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य, खेलतो भोगलीलया।**
**न हि संसारवाहीकैः, मूढैः सह समानता।।(अ.व.गी.४/१)**
**नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्र परोऽस्म्यहम्।। (म.वा.९)**

**लक्ष्याऽलक्ष्यविहीनोऽस्मि बोधानन्दस्वरूपवान् ।**
**सर्वत्र पूर्णरूपोऽहं ज्ञानानन्दघनोऽस्म्यहम् ।।**




(महावा.र. १०)

आत्मज्ञ धीरपुरुषों के लिए यह संसारिक भोग लीला (क्रीड़ा) मात्र होता है। वह भोग में लिप्त नहीं होता, अपितु वह बालक के समान उन-उन वस्तुओं (भोग सामग्रियों) से क्रीड़ा (खेल) मात्र करता है। परन्तु जो संसार को ढ़ोने वाले कामी अर्थात् आसक्त जीवात्मा हैं उन्हें उन सांसारिक भोगों में राग होने के कारण उसकी प्राप्ति पर हर्ष और अप्राप्ति पर क्रोध होता है। इसलिए आत्मज्ञ और संसार में आसक्त प्राणी के व्यवहार प्रयोग में मौलिक रूप से बौद्धिक अन्तर होता है। उसमें समानता कथमपि सम्भव नहीं होता। (अष्टा.गी. 4/1)

इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट त्याग के संकल्प से परे मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही हूँ।

मैं बोध रूपी आनन्द स्वरूप ही हूँ, मैं लक्ष्य तथा अलक्ष्य से शून्य हूँ, क्योंकि ये मायिक है। मैं देशकाल वस्तु के परिच्छेद से शून्य हूँ और सर्वदा परिपूर्ण हूँ अर्थात् सजातीय विजातीय स्वगत भेद से शून्य हूँ तथा मैं ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ।

प्रकृत प्रतीक चक्र के माध्यम से समाधि दशा में साधक की स्थितिविशेष के सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि—समाधिस्थ होने का अर्थ है कि वह चिति अर्थात् चेतन आत्मा में स्वरूप से स्थित हो चुका है और वह उस दशा में स्वात्मा को यथाभूतार्थ स्वरूप से दर्शन करता हुआ 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं अपरोक्ष ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार के बोध स्थिति को प्राप्त कर नित्यतृप्त-जागरण-निद्रा आदि शारीरिक धर्म से मुक्त हो जाता है। वह

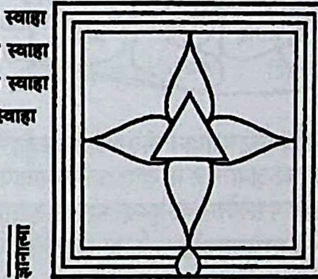
चित्त (अन्तःकरण) में निरन्तर उद्भूत अहंत्वेन जीवात्मभाव से छुटकारा पा जाता है तथा वह अहंकार रहित हो जाता है। प्रत्येक द्वन्द्व (सुख-दुःख) के साथ होने वाले पूर्व के हर्ष-विषाद से सर्वथा मुक्त हो जाता है। वह अक्षुब्ध, शान्त कलनी, मनोन्मनी, स्वरूपस्थिति और पराप्रज्ञा सम्पन्न दशा को प्राप्त कर लेता है। (महा.वा.र. 10)

❁

**प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्त्रुचम्**
**धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्त्रुवा।**
**सुषुम्ना वर्त्मना नित्यं अक्षवृत्तीर्जुहोम्यम्।।**

प्रकाश तथा आकाश रूपी हाथों से उन्मनी दशारूपी स्त्रुच का आश्रय लेकर धर्म अधर्म रूपी हवि से प्रदीप्त आत्मा रूपी अग्नि में मन रूपी स्त्रुव के द्वारा सुषुम्ना मार्ग से मैं नित्य अक्षवृत्ति अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार को हवन करता हूँ।

❁




(श्रीविद्यार्णवः २०)

**यदक्षरं ब्रह्मविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।(श्रीमद्भग. ८)**

**सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।**

**अनन्यचेताः एकाक्षरं ब्रह्म**

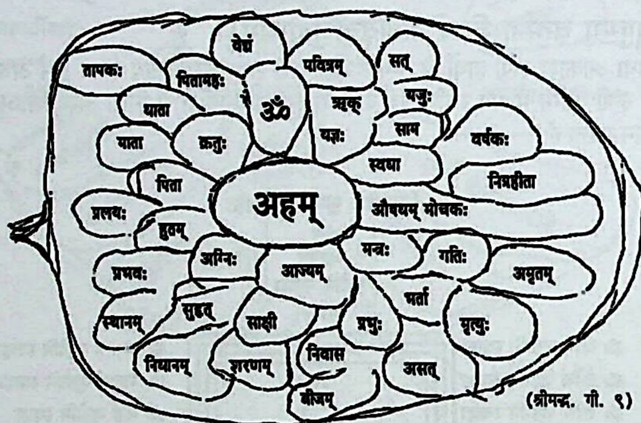


**सततं यो मां स्मृरति**

## तस्याहं सुलभं नित्यं यु.यो.।।

उपर्युक्त प्रसंग का ही अनुसरण कर यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन वेदविद् (श्रुति तात्पर्य को जानने वाले) जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपद को अविनाशी कहते हैं, उस अविनाशी परमपद में आसक्तिरहित यत्नशील यति (संन्यासी) जन प्रवेश करते हैं। कैसे प्रवेश करते हैं? सभी इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर और मन को हृदय देश में स्थिर करके तथा उस जीते (वशीकृत) हुए मन के द्वारा प्राणों को मस्तक में स्थापित करके एवं अनन्य भाव से योगस्थ होकर 'ॐ' इस एक अक्षर रूप मुझ परमात्मा ब्रह्म को स्मरण करते हुए शरीर को त्यागता है। वही पण्डित परम पद मोक्ष पद में प्रविष्ट (प्राप्त) करता है। (श्रीमद्भग. ८)

प्रतीक चित्राङ्कन के माध्यम से श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय नौ के 'राजाविद्याराजगुह्ययोग' नामक



(श्रीमद्भ. गी. ९)

ब्रह्मविद्या को कहा जा रहा है। इस विद्या के प्रवक्ता भगवान् श्रीकृष्ण श्री अर्जुन से कहते हैं कि—हे अर्जुन! कुछ अन्य ज्ञानीजन मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्ञान यज्ञ के द्वारा अभिन्नभावापन्न होकर उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहु प्रकार स्थित मेरे विराट् स्वरूप परमेश्वर की पृथक् भाव से उपासना करते हैं—

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये, यजन्तो मामुपासते।**

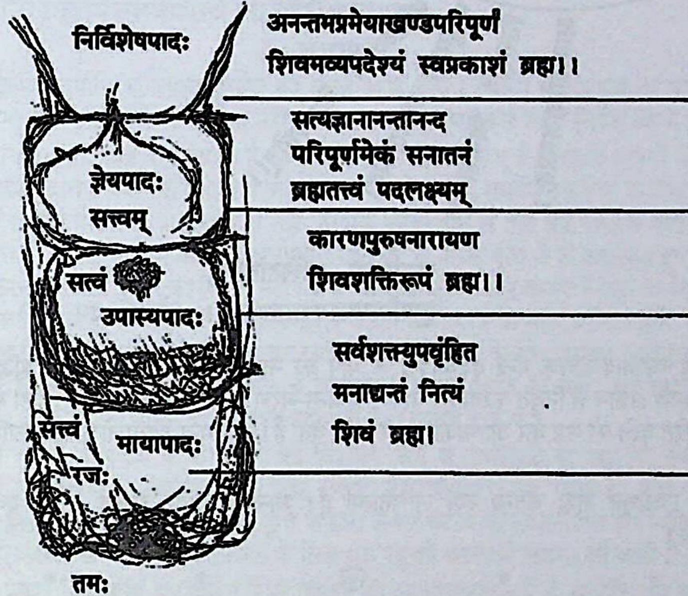
**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥** (गी. ९/१५)

जो लोग मुझ परमात्मा से अभिन्न भावापन्न हो उपासना करते हैं, उनका आत्मबोध मुझ परमेश्वर से पृथक् नहीं होता। वे अपने आत्मा में वेद्य, पवित्र, सत्, ऋक्, यजुः, साम, यज्ञ, स्वधा, वर्षक, निगृहीता, औषध, मोचक, मन्त्र, गति, अमृत, मृत्यु, भर्ता, असत्, आज्य, प्रभु, निवास, बीज, साक्षी, शरण, निधान, स्थान, सुहृत्, अग्नि, हुत्, प्रलय, माता, पिता, धाता, क्रतु, पितामह और तापक ॐकारस्वरूप मुझ परमात्मा ब्रह्म को अपने अन्तःकरण में एकत्व भाव से अनुभव करते हुए उपासना करते हैं।

इस तरह वह साधक परमात्मा के समष्टि ऊर्जा सम्पन्न स्वरूप को अभेद बुद्धि से उपासना करते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है—

**'मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।** (गी. ९/३४)

परब्रह्म स्वयं प्रकाश तथा अनन्त आदि मध्य और अवसानशून्य है अप्रेय है अर्थात् इदमित्थं रूप से निरूपण के योग्य नहीं है तथा अखण्ड है उसमें खण्डन नहीं है। परिच्छेदत्रयशून्य है, परिपूर्ण है, सर्व को व्याप्त




करके विद्यमान है, अव्यपदेश्य अर्थात् व्यवहारयोग्य नहीं हैं, शिव है, कल्याणस्वरूप ब्रह्म है, जानने के योग्य ज्ञेयपाद है।

सत्य ज्ञानरूप आनन्द स्वरूप सर्वतो परिपूर्ण सनातन केवल एक रूप ब्रह्म तत् त्वं पद का भाग त्याग लक्षणा के द्वारा लक्ष्य है और यह उपास्य है, इसका अभ्यास किया जाता है। अतः यह उपास्य पाद है।

सर्वशक्तियों से उत्पत्ति पालन संहारादि शक्ति से विशिष्ट अनादि, अनन्त, नित्य, शिवस्वरूप ब्रह्म मायापाद है। जिससे यह प्रपञ्च पल्लवित हो रहा है।

• • ✿ • •

**जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च, गुणतो बुद्धिवृत्तयः।**
**तासां विलक्षणोजीवः, साक्षित्त्वेन विनिश्चतः।।** (श्रीमद्भा. ११/१३)

जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों आवस्थाएँ क्रमशः सत्त्व-रज और तमो गुणों के वेगानुसार होती है। ये तीनों बुद्धि की वृत्तियाँ है और बुद्धि ही इनके रूप में परिणत होती है। ये सच्चिदानन्द का स्वभाव नहीं है। इन वृत्तियों का साक्षी होने से जीव इनसे विलक्षण है।

**अहं ब्रह्मेति मन्त्रोऽयं, दृश्यपापं विनाशयेत्।।**

**आत्मलोकजयप्रदः।**
**चित्तवृत्तिं विनाशयेत्।**
**मृत्युपाशं विनाशयेत्।**
**बुद्धिव्याधिं विनाशयेत्।**

**लक्ष्यात्मा ललितात्माहं,**
**तूष्णीमात्मस्वभाववान्।।** (तेजोविन्दूप. ४)

यह महावाक्यात्मक मन्त्र दृश्यप्रपञ्च के पाप को नष्ट कर देता है। यही मन्त्र बुद्धि व्याधि को अन्यथा ग्रहणरूपी अज्ञान से निवृत करता है। यही मन्त्र जन्म-मरण को समाप्त कर देता है। यही मन्त्र चित्त की विषयाकाराकारित वृत्ति को नष्ट कर आत्माकाराकारित कर देता है। यही मन्त्र आत्मलोक को प्रकाशित कर देता है।

मैं लक्षीभूत शुद्ध चेतन्य रूप ललितात्मा हूँ। शान्तात्मा और आत्मा के स्वभाव वाला हूँ। (तेजोबिन्दूप. 4)

• • ✿ • •

**ब्रह्मामृतरसास्वादो, ब्रह्मामृतरसायनः।**
**ब्रह्मामृतरसासक्तो, ब्रह्मामृतरसः स्वयम् ।।**(तेजोबि.उ. 4)

ब्रह्मामृत रस का स्वाद ब्रह्मामृत रसायन है, शनैः शनैः लाभ देने वाला है। जो व्यक्ति ब्रह्मामृत रस में आसक्त है, वह स्वयं ब्रह्मामृत रस स्वरूप है (रसो वै सः) इत्यादि। (तेजोबि.उ. 4)

• • ✿ • •

## तत्त्वमसि

वयं तु ब्रूमः—सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसि-इत्यादौ विशिष्टवाचकपदानां एकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपतस्थियोः एवाभेदान्वयाविरोधात्।

यथा- घटोऽनित्यः— इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहानित्यत्वान्वयः। यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः, तत्रैव स्वातन्त्रेणोपस्थितये लक्षणाभ्युपगमः। यथा-घटो नित्यः—इत्यत्र-घटपदाद् घटत्वस्य शक्त्या स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थं घटपदस्य घटत्वे लक्षणा।( आगम प्र.वे.प. )

एवमेव तत्त्वमसीत्यादि वाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वं पदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। अन्यथा गेहे घटो,

**घटे रूपम्, घटमानय, इत्यादौ घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात्।**

**तत्त्वमसि**

सर्वज्ञपादाचार्यादि भागत्याग लक्षणा को लेकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप में तत् एवं त्वं पद की लक्षणा मानते हैं, किन्तु ग्रन्थकार इससे यह सहमत नहीं है। अतः 'वयन्तु ब्रूमः' इस प्रकार निर्देश किया।

'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है तथा 'तत्त्वमसि' वह (ब्रह्म) तू है, इत्यादि वाक्यों में सः एवं-तत् और त्वं ये विशिष्टवाचक पद यद्यपि विशेष्य के एक देश के बोधक है, तथापि उस बोध के लिए उन पदों की विशेष्यांश में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि शक्ति वृत्ति से ज्ञात हुए तत्काल तथा एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त के अभेदान्वयरूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने पर भी शक्ति वृत्ति से ही उपस्थित हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने से किसी प्रकार का विरोध नहीं। जैसे 'घट अनित्य है' इस वाक्य में घट पद के घटत्व जाति विशिष्ट घट रूप वाच्यार्थ का एक देश (विशेषणांश) यद्यपि अनित्यत्व के साथ अन्वित होने के योग्य नहीं है, क्योंकि वह नित्य है, तथापि अन्वययोग्य घट व्यक्ति रूप विशेष्यांश के साथ उसका अन्वय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि हम घट व्यक्ति को ही अनित्य समझते हैं, घटत्व जाति को नहीं। यह ज्ञान शक्ति से ही गृहीत होता है। अतः लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है। (आगम प्र.वे.प.)

जिस वाक्य में पदार्थ के रूप देश की विशेषण रूप से उपस्थिति हो वहीं पर उसकी (केवल विशेषण) की स्वतन्त्रतया उपस्थिति होने के लिए लक्षणा को स्वीकार करना पड़ता है। यथा 'घटो नित्यः' घट नित्य है। इस वाक्य में घट पद से शक्ति वृत्ति के द्वारा केवल घटत्व की स्वतन्त्रतया उपस्थिति (ज्ञान) नहीं होती, इसलिए घटपद से घटत्व की उपस्थिति के लिए घट पद की घटत्व में लक्षणा की जाती है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी लक्षणा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब शक्ति के द्वारा स्वतन्त्रतया (सर्वज्ञत्वादि विशेषणों की अपेक्षा न करते हुए केवल विशेष रूप से) चैतन्यरूप से उपस्थित होने वाले तत् और त्वं पदार्थों का अभेदान्वय होने में कोई भी बाधक नहीं है, तथापि घर में घट है, घट में रूप है, घट लाओ आदि वाक्यों में भी घटत्व गेहत्व आदि धर्मों ने गृहार्थ पदार्थ रूप अंशों में अभिमत अन्वयबोध करा देने की योग्यता न होने से वहाँ पर भी घटादि पदों का केवल विशेष्यपरत्व लक्षणा से ही बोध होने लगेगा, इसलिए पूर्वाचार्यों ने तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों से भागत्याग लक्षणा को अभ्युपगमवाद से स्वीकार किया है। वादी के बल को क्षीण करने के लिए अनिष्टस्वीकृति को अभ्युपगमवाद कहते हैं। लक्षणाबीज को तात्पर्यानुपपत्ति कहते हैं अर्थात् तात्पर्य सिद्ध न होने पर लक्षणा होती है। (टी.)



**जगत्**

**जगत्स्याद्व्यक्तमव्यक्तं, सृष्टिसंहारयोः क्रमात्।**
**बिभर्ति द्वयमीशानश्चिदात्मा तु विमुक्तिभाक्॥** (अनु.प्र. १२)
**ईशानीशावज्ञतज्ज्ञौ, भोक्ता भोजयिता च तौ।**
**तयोर्निवाहिता माया, ब्रह्मण्यारोपितं त्रयम्॥**
**जगद्भ्रमं जीवभेदं, वासना देहधारणम्।**
**चतुष्टयं निराकुर्यादभिध्यानादिभिः क्रमात्॥**
**अभितो ब्रह्मरूपत्वं, ध्यानाद्याति जगद्भ्रमः।**

**ब्रह्मत्वे योजिते स्वस्य, जीवभावोऽपि गच्छति।।**
**अद्वये भाविते तत्त्वे, वासना विनिवर्तते।**
**आरब्धान्ते देहहानिर्मायैवं क्षीयतेऽखिला।।**
**ब्रह्मज्ञानात्पाशहानौ, क्षीणक्लेशो न जन्मभाक्।** (अनु.प्र. १२)

**जगत्**

सृष्टि होने पर जगत् व्यक्तस्वरूप होता है और संहार (लय) काल में जगत् अव्यक्त स्वरूप होता है। अतः जगत् के क्रमानुगतरूप से दो स्वरूप व्यक्त और अव्यक्त होते हैं। ईश्वर जगत् के इन दोनों स्वरूपों को भरण करने और नियन्तृत करने के कारण भर्ता तथा नियन्ता (ईशान) कहलाता है और चिदात्मा इससे निर्लिप्त है। (अनु.प्र. 12)

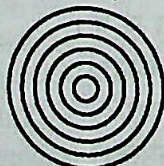
ईश (ईश्वर) तत्त्व सर्वज्ञ है और अनीश (जीवात्मा) तत्त्व अज्ञ है। ईश भोक्ता है और अनीश (जीवात्मा) भोजयिता है। इन दोनों भोक्ता और भोजयिता के निर्वाहक (निर्वाह करने वाली) माया तत्त्व है तथा ये तीनों ईश्वर-जीव और माया ब्रह्म में आरोपित है।

जगद् का मिथ्याभ्रम-जीवभेद-वासना-देहधारण इन चारों का अभिध्यानादि से निराकरण करें। चारों इस प्रकार है—1. ब्रह्म के अभिध्यान से अर्थात् सम्यक् चिन्तन से जगद्भ्रम का निराकरण करें। 2. अपने में ब्रह्मत्व की भावना से कि 'मैं ब्रह्म हूँ' जीव भाव का निराकरण करें। 3. जब यह निश्चित हो कि यह सब ब्रह्म ही है तो 'नेह नानास्ति किंचन' से वासना का नाश करें। 4. प्रारब्ध के नाश होने से शरीरादि का नाश तथा सम्पूर्ण माया का नाश हो जाता है तथा 'अविद्यास्तमयोर्मोक्षः' इत्यादि के अनुसार अविद्या के नाश हो जाने पर मोक्ष होता है। ब्रह्मज्ञान से माया जाल की हानि होने पर जीव अशेष क्लेश मुक्त होकर पुनः जन्म-मरण के प्रवाह में नहीं पड़ता है। (अनु.प्र. 12)

• • ❀ • •

**पाशाः-चतुर्विधाः- मलो माया कर्म तत्त्वतिरोधानम्।**
**१. ज्ञानक्रियाशक्त्योऽश्छादको दोषः।**
**२. रागादि हेतुः। ३. पुण्यपापे। ४. मूढता।**
**भोक्ता भोग्यं प्रेरकश्च, त्रयं ब्रह्मेति तत्त्वधीः।**
**शास्त्राद्बुद्धं ब्रह्मतत्त्वमात्मत्वेनानुभूयताम्।।** (अ.प्र. १२)
**चिच्छायावानहङ्कारः, कर्ता चिद्भाति केवला।।**

**विराद्**



**अहम्**

**कोशपञ्चकयुक्तस्य**
**प्रत्यक्तत्त्वस्य नाम तत्।**
(अ.प्र. १३/१२)

**चिदेकरस आत्मैव, कशमले कोशपञ्चके।**
**एकतामभिसम्पन्नोऽहङ्कारोत्पत्तिमात्रतः।।** (अ.प्र. १५)

पाश चार प्रकार के हैं—1. मल अर्थात् ज्ञान क्रिया की शक्तियों का आच्छादक दोष। 2.माया अर्थात् रागादि का कारण। 3. कर्म अर्थात् पुण्य और पाप। 4. तत्त्वतिरोधान अर्थात् जड़ता।

भोक्ता योग्य और प्रेरक ये तीनों तत्त्वतः ब्रह्म ही हैं। शास्त्र से ब्रह्मतत्त्व को जानकर उसका आत्मरूप से अनुभव करे कि मैं ब्रह्म हूँ। (अनु.प्र. 12)

चित्त में जो आत्मा की छाया पड़ती है, तो उस छाया में जो अहंभाव (यह मैं हूँ) होता है, उस अहंभाव (अहंकार) को ही कर्ता कहते हैं। जैसे दर्पण में स्वात्मा (स्वशरीर) की छाया (प्रतिबिम्ब) को 'मैं यह हूँ' इस प्रकार मानते हैं, जबकि छाया व्यक्ति नहीं होता। उसी प्रकार चित्त में प्रतिबिम्बित आत्मा को ही 'यह मैं हूँ' ऐसा जानने पर वह जीवात्मा अहंभाव वाला कर्ता कहलाता है। जबकि वहाँ केवल चिदात्मा का आभास मात्र होता है।

पाँचों कोशों में अहंकार युक्त प्रत्यक्तत्त्व का नाम ही विराट् है। (अनु.प्र. 13/12)

चिदेक रस आत्मा ही अहंकार की महिमा से पाँचों कोशरूपी मलजात में फँस कर एकता को प्राप्त कर वह आत्मा ही जीव भाव को प्राप्त कर जाता है। (अनु.प्र. 15)



**स्रर्ज्याहिं कल्पयित्वास्ते, तद्भयादाकुलेन्द्रियः।**
**एवं नश्वरदेहादि, प्रतीच्यारोप्य कम्पते।।(अ.प्र. १९)**
**मुख बाहू रूपादेभ्यः, वह्नीन्द्रवसवसुभूमिकाः।**
**देवता असृजद् ब्रह्मा, चातुर्वण्यनियामिकाः।।(अ.प्र. १३/४२)**
**विराडेवाखिला इमे।**

**तिस्रः प्रजा मूढा वेदोक्तं न मेनिरे। मनो वाक्काय दोषतः, नभो-भूभूविलावासः त्रिधा कायो व्यजायत। मानुषैरूपभोग्योऽयं, वध्यश्छेद्यश्च नित्यशः।** (आत्मपु. १)

**वाचि शब्दो हृदि ज्ञानं, अर्थो भूम्यादिसंस्थितः।**
**कथं स शब्दबोधात्मा, भवेद् भ्रान्तिं विना नृणाम् ।।** (आत्मपु. १)
**भिन्नाधिकरणानां, तादात्म्यं भ्रान्तिः।(टी)**

जिस प्रकार रस्सी में सर्प का सृजन स्वयं जीवात्मा अपने अज्ञान से करता है और उसे सम्मुख देखकर भयभीत होता हुआ भय से काँपता है। इस भ्रम स्थल में सर्प के ज्ञान का अभाव ही कारण होता है, जो अज्ञान उस जीवात्मा में होता है। उसी प्रकार इस नश्वर शरीर को जानकर अर्थात् यह नष्ट हो जायेगा—मैं मर जाऊँगा (यह भी अज्ञान ही है) ऐसा जानकर व्याकुल होकर भयभीत होता है और काँपने लगता है। (अनु.प्र. 19)

ब्रह्मा ने मुख से, बाहु से, उरु से और पैरों से क्रमशः वह्नि अग्नि, इन्द्र, वसु तथा भूमि आदि चारों वर्णों के नियामक देवताओं को उत्पन्न किया। अतः ये सब विराड् ही है। (अनु.प्र. 13/42)

नभचर, भूमिचर और बिल में रहने वाले अथवा पाताल-लोकचर ये तीनों अपने मनवाणी और शरीर दोष के कारण वेदोक्त विधि मार्ग का उल्लंघन करते हैं, इसलिये वे मूढ़ ही हैं। वे मूढ़गणों के काय (शरीर) तीन प्रकार (पृथक्-पृथक्) हैं, अतः वे एक दूसरे को बध्य (वध करने योग्य), छेद्य और भोग्य समझते हैं और उसकी हत्या कर उन्हें खा जाते हैं। जबकि परमार्थतः सभी आत्मस्वरूप ही है। (आत्म पु. १)

शब्द वाणी में, ज्ञान ह्रदय में और वस्तु भूमि आदि में पृथक्-पृथक् स्थानों में रहते हैं, जो भ्रान्ति के कारण है। अतः केवल शब्द के द्वारा आत्मा का बोध विना भ्रान्ति के कैसे हो सकता है? (आत्म.पु. १)

भिन्न-भिन्न अधिकरणों की एकता को भ्रान्ति कहते हैं। (टी.)

● ● ❁ ● ●

**मातर्माये भगिनि कुते हे पित मोंहजाल।**
**व्यावर्तध्वं भवतु भवतामेष दीर्घा वियोगः।**
**सद्योलक्ष्मीरमणचरणभ्रष्टगङ्गाप्रवाह-**
**व्यामिश्रायां दृषिद परमब्रह्मदृष्टिर्भवामि ।।**(शान्तिशतकम्)

हे मातः माये ! हे कुमति बहन ! हे मोहजाल रूपी पिता ! तुम सबसे यह बहुत बड़ा वियोग उपस्थित हैं, तुम सब लौट जाओ। मुझसे विमुख हो जाओ; क्योंकि मैं अतिशीघ्र भगवान् विष्णु के चरणकमल से निःसृत ज्ञानगंगा से प्लावित ब्रह्मपाषाण हो गया हूँ अथवा इसलिए मेरे ऊपर तुम्हारी (माया की) कोई चाल चलने वाली नहीं है। (शान्तिशतक)

गंगाप्रवाहपतित पाषाण में ब्रह्मदृष्टि कला हो गया हूँ!

● ● ❁ ● ●

**वृत्तिहीनं मनः कृत्वा, पूर्णरूपं स्वयं भवेत्।**
**अहं नाम न कोऽप्यस्ति, सर्वदात्मैव विद्यते।।** (शिव. सं.)

मन अर्थात् चित्त की वृत्तियों को निरोध करके स्वयं आत्मास्वरूप में हूँ अर्थात् 'अहं ब्रह्मस्मि' बोध को प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि अहं अर्थात् शरीरात्मबोध नामक कोई वस्तु नहीं है। जब सर्वाधिष्ठान आत्मा का अपरोक्ष बोध हो जायेगा, तो शरीर में आत्मा की जो भ्रान्ति है, वह अपने आप मिट जायेगा। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि भ्रम यथार्थ उपस्थित अधिष्ठान वस्तु में ही होता है। जिस प्रकार सुक्ति में रजत भ्रान्ति स्थल में सुक्ति (सीपं) यथार्थ उपस्थित अधिष्ठान वस्तु है और रजत (चाँदी) का वहाँ सर्वथा अभाव ही होता है, परन्तु सुक्ति के सम्यग् ज्ञान न रहने के कारण तथा अन्तःकरण में लोभ की उपस्थिति दोष के फलस्वरूप सुक्ति में रजतबोध हो जाता है, जबकि वह सम्पूर्णतया भ्रम ही होता है। सुक्ति अधिष्ठान (अधिकरण) में जिस तरह रजत भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार शरीराधिष्ठान आत्मा में शरीरादि की भ्रान्ति होती है। अधिष्ठान (अधिकरण-आधार) सुक्ति वहाँ सत्य होता है और आधेय (रजत) असत्य (मिथ्या) होता है। रजतात्मक चित्तवृत्ति के नष्ट हो जाने पर सुक्ति की प्रतीति जिस प्रकार सत्य-अपरोक्ष होती है, उसी प्रकार चित्तगत शरीरात्म चित्तवृत्ति के प्रशमन (निरोध) हो जाने पर शरीर के अधिष्ठान आत्मा मात्र का अपरोक्ष-नित्य, दर्शन-बोध रह जायेगा, यही इसका तात्पर्य है। (शिवसंहिता)

● ● ❁ ● ●

## यति पात्राणि

उत्तमं मृन्मयं पात्रं, मध्यमं तु अलावुकम्।
कनिष्ठं दारुपात्रं च, वैणवं च तथैव हि।। (हारीत स्मृ.)

मिट्टी का पात्र उत्तम है और तुम्बी (लौकी) का पात्र मध्यम है। लकड़ी का पात्र कनिष्ठ है तथा बाँस का भी तृतीय कोटि का ही है। (हारीत स्मृ.)



पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वंस्वात्मनि प्रविलाप्य च ।
सोऽहमस्मीति जानीयाद्, विद्वाम् ब्रह्माऽमृतो भवेत् ।।
सद्योजातं मही पूषा, रमा ब्रह्मा त्रिवृत्स्वरः।
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च, मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा ।।
वर्णं पीतं क्रियाशक्तिः, सर्वाभीष्टफलप्रदम् ।
अघोरं सलिलं चन्द्रं, गौरी वेद द्वितीयकम् ।
नीरदाभं स्वरं सान्द्रं,दक्षिणाग्नि सदाहृतम् ।
पञ्चशद्वर्णसंयुक्तं, सर्वाघोघविनाशकम् ।
शक्तिरक्षणसंयुक्तं, सर्वाघोघविनाशकम् ।
सर्वदुष्टप्रशमनं, सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ।।
वामदेवं महाबोधदायकं पावकात्मकम् ।
विद्यालोकसमायुक्तं, भानुकोटिसमप्रभम् ।
प्रसन्नं सामवेदाख्यं, नानाष्टकसमायुतम् ।
घोरस्वरमधीनें चाहवनीयमनुत्तमम् ।।
ज्ञानसंहारसंयुक्तं, शक्तिद्वयसमन्वितम् ।
वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं, पूर्णबोधकरं स्वयम् ।।
धामत्रयनियन्तारं, धामत्रयसमन्वितम् ।
सर्वसौभाग्यदं नृणाम् , सर्वकर्मफलप्रदम् ।
अष्टाक्षरसमायुक्तं, अष्टापत्रान्तरस्थितम् ।
यत्तत्पुरुषं प्रोक्तं, वायुमण्डलसंवृतम् ।।
पञ्चाग्निना समायुक्तं, मन्त्रशक्तिनियामकम् ।
पञ्चाशत्स्वरवर्णख्यमथर्ववेदरूपकम् ।
वर्णं रक्तं कामदं च, सर्वाधिव्याधिभेजषजम् ।।

सृष्टिस्थितिलयादीनां, कारणं सर्वशक्तिधृक्।।
अवस्थात्रितयातीतं, तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम् ।।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिःसेव्यं, सर्वेषां जनकं परम् ।
ईशानं परमं विद्यात्प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम् ।।
आकाशात्मकमव्यक्तंमोङ्कारस्वरभूषितम् ।
सर्वदेवमयं शान्तं, शान्त्यतीतंस्वराद्बहिः ।।
अकारादिस्वराध्यक्ष, पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत्।।
पञ्चब्रह्मोपरसंहारं, कृत्वा स्वात्मनि संस्थितः।
स्वमाया वैभवान्सर्वान् , संहृत्य स्वात्मनि स्थितः।। (पञ्चब्रह्मोपनि.)

पञ्चब्रह्मात्मक सर्वस्वरूप शिव का स्वात्मा में लीन करके वे शिव मैं ही हूँ, ऐसा जानना चाहिये। जो विद्वान् (साधक) ऐसा जानता है, वह अमृत ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अब उपर्युक्त पञ्च ब्रह्मात्मक शिव के पाँच स्वरूप को कहते हैं—

1. सद्योजात ब्रह्म के भूमिरूप और पूषा शक्ति है। त्रिवृत्स्वरूप ब्रह्मा की शक्ति रमा है। वेद ऋग् हैं, गार्हपत्य-अग्नि है, इसके मन्त्र सप्त स्वरों से युक्त है। इसका वर्ण पीला है, क्रिया शक्ति सभी अभीष्ट फलों को देने वाली है।

2. अघोर स्वरूप ब्रह्म जलरूप हैं उनके चन्द्र देवता, गौरी शक्ति है, वेद यजुर्वेद है, जलद जैसा वर्ण है, आहृत दक्षिणाग्नि है, स्वर पचास वर्णों से युक्त है, स्थिति इच्छाक्रिया तथा रक्षणशक्ति से युक्ता है, सभी पाप समूह का विनाशक, सभी दुष्टों का प्रशामक एवं सम्पूर्ण ऐश्वर्य फलों का प्रदायक है।

3. वामदेव स्वरूप तृतीय ब्रह्म पावक रूप है, महाबोधप्रद है, विद्या और आलोक से युक्त है, करोड़ों सूर्यो की प्रभा वाला है, प्रसन्न है तथा इसका वेद सामवेद है। अनेक प्रकार के अष्टकों से युक्त है, इनका स्वर घोर है, इसकी आहवनीय अग्नि है। ज्ञान और संहार दो शक्तियों से युक्त है।

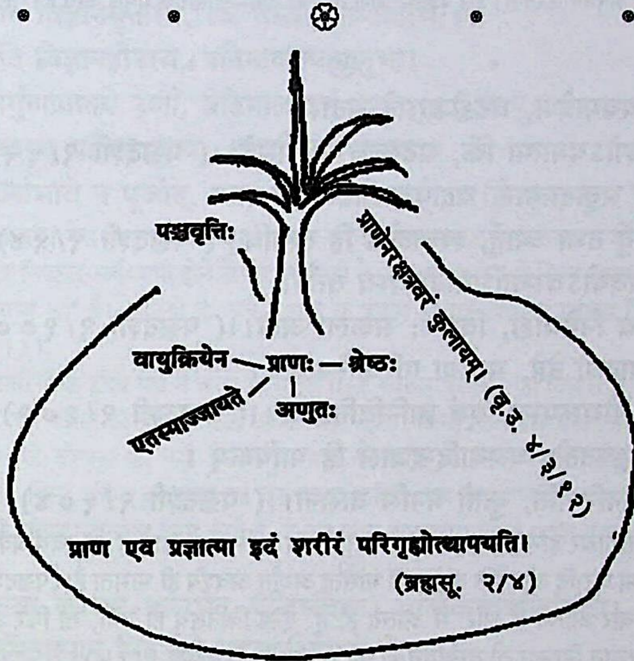
वे तमो युक्त शुक्लवर्ण है। वे पूर्णवोध कराने वाला और तीनों धामों के नियन्ता हैं तथा तीनों अवस्थाओं से परे तुरीय धाम है एवं तीनों धामों से युक्त हैं। वे मनुष्यों के सभी सौभाग्य तथा मनोरथों को देने वाले, आङ्ग अक्षरों से युक्त एवं आङ्ग पत्रों के अष्टदलों के मध्य में स्थित हैं।

4. ये जो तत्पुरुष ब्रह्म हैं, वे वायु मण्डल से आवृत एवं पाँच अग्नियों से युक्त हैं तथा यन्त्र शक्ति के नियन्ता और पचास स्वरवर्णारख्य अथर्ववेद स्वरूप है। करोड़ों गणों के अध्यक्ष हैं और अखण्डब्रह्माण्ड ही इनका शरीर है। इनका वर्ण रक्त है। सर्वकामप्रद हैं और सभ आधि-व्याधियों की औषध हैं। सृष्टि-स्थिति और प्रलयादि के कारण, सर्वशक्ति के धारक है। अवस्थात्रय से परे तुरीय ब्रह्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं से संसेव्य हैं एवं सभी के परम जनक है।

5. ईशानरूप पञ्चब्रह्म सभी के प्रेरक और बुद्धि के साक्षी हैं। आकाशवत् सूक्ष्म और अव्यक्त ओंकार स्वर से भूषित हैं। सर्वदेवमय, शान्त एवं शान्त्यतीत तथा सभी प्रकार के स्वरों से परे अकरादि स्वरों के अध्यक्ष हैं। इनका आकाशमय शरीर है। पाँचों कृतियों के नियन्ता एवं पञ्चब्रह्मात्मक तथा व्यापक हैं। पाँचों ब्रह्मों के उपसंहार करके अपने स्वरूप में स्थित हैं। अपनी माया से सभी वैभवों का संग्रह करके अपने आत्मा

में ही स्थित हैं। (पञ्चब्रह्मोपनिषद्)

• • ❁ • •




| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1.धनिनः | अन्तरङ्गाः मदाः | 1. कुलम् | बहिर्मदाः | 1. पृथ्वी | अष्टमूर्तिमदाः |
| 2. स्थायिनः | | 2. धनम् | | 2. सलिलम् | |
| 3. कृतिनः | | 3. रूपम् | | 3. पावकः | |
| 4. राज्ञः | | 4. यौवनम् | | 4. शशिः | |
| 5. क्रोधिनः | | 5. राज्यम् | | 5. पवनः | |
| 6. मायिनः | | 6. तपः | | 6. अम्बरम् | |
| 7. अतिचारिणः | | | | 7. रविः | |
| 8. वाहनवतः | | | | 8. आत्मा | |

जीवात्मा मानव में स्वाभाविकतया बाईस मद होते हैं। जिसमें आन्तरिक मद ८ प्रकार के, बाह्य मद छः प्रकार के और अन्य आधिदैविक मद आठ प्रकार के होते हैं, जिसे उपर्युक्त मूल सूची (संस्कृत) से सुलभतापूर्वक समझा जा सकता है ।

यह जगत् प्राण से ही संरक्षित है। वायुक्रिया से ही प्राण की स्थिति है और वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है तथा वह प्रज्ञात्मा ब्रह्म इस शरीर को सर्वतः पकड़कर बाँध रखा है, जिससे जीवात्मा चलता-फिरता (क्रियाशील) है। उस प्राण

की प्राण-अपान-व्यान-उदान और समान ये पाँच आवृत्तियाँ ही इस शरीर का सम्यक्-धारण-संचालन करता है, जिससे हम प्राणवान् अनुभव करते हैं। उस प्रज्ञात्मा प्राण ब्रह्म की उपासना साधक मुमुक्षु करते हैं। (बृ.उ. 4/3/12 एवं ब्रह्म सू. २/४)

**सकृत्प्रत्ययमात्रेण, घटश्चेद्भासते सदा।**
**स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं, घटवच्च न भासते।।( पञ्चदशी ९/९२)**
**निश्चित्य सकृदात्मानं, यदापेक्षा तदैव तम् ।**
**वक्तं मन्तुं तथा ध्यातुं, शक्त्वत्येव हि तत्ववित् ( पञ्चदशी ९/९४)**
**वर्णाश्रमवयोऽवस्थाभिमानो यस्य वर्तते।**
**तस्यैव च निषेधाश्च, विधयः सकला अपि।।( पञ्चदशी ९/१००)**
**वर्णाश्रमादयो देहे, मायया परिकल्पिताः।।**
**नात्मनो बोधरूपस्य, एवं ज्ञानिविनिश्चयः।।( पञ्चदशी ९/१०१)**
**आत्मासङ्गस्ततोऽन्यत्स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम् ।**
**इत्यचञ्चलनिर्णीते, कुतो मनसि वासना।।( पञ्चदशी ९/१०४)**

सहसा दृष्टिगोचर होने पर जड़ पदार्थ घटादि जब भासित हो जाते हैं,तो स्वयं प्रकाश अत्यन्त सन्निकृष्ट यह आत्मा घटादि की भाँति क्यों नहीं भासता अर्थात् अवश्य ही भासता है। (पञ्चदशी ९/९२)

जब एक बार आत्मा है और 'मैं आत्मा ही हूँ' ऐसा विनिश्चय हो गया, तो फिर उसके सापेक्ष कथन-मनन और ध्यान निरन्तर तो तत्त्ववित् ही कर सकता है। (पञ्चदशी ९/९५)

जिसे वर्ण-आश्रम और अवस्था का अभिमान है, उसी के लिये शास्त्र के विधि और निषेध अर्थात् यह कर्त्तव्य है और यह कर्त्तव्य नहीं है, वाक्य कहा गया है। (पञ्चदशी ९/१००)

वर्णाश्रम आदि माया द्वारा शरीर में कल्पित है। ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। ज्ञानी पुरुषों का ऐसा विनिश्चय है। (पञ्चदशी ९/१०१)

आत्मा असङ्ग हैं, निर्लेप है, इससे भिन्न सब माया रचित प्रपञ्च झूठा जादू है ऐसा निश्चित रूप से निर्णय होने पर फिर मन में वासनायें कैसे हो सकती है? (पञ्चदशी ९/१०४)



**परानन्दकरं लिङ्गं, विशुद्धं शिवमक्षरम्।**
**निष्कलं सर्वगं ज्ञेयं, योगिनां हृदि संस्थितम्।।**
**ज्ञानिनां सूक्ष्ममलं, भावात्प्रत्यक्षमव्ययम्। (शि.पु.रु. १२)**

**हृदि संसारिणः साक्षात्, सकलः परमेश्वरः।**
**इति विज्ञानयुक्तस्य, किं तस्य प्रतिमादिभिः।।**
**इति विज्ञानहीनस्य, प्रतिमाकल्पनाशुभा।**
**निर्गुणप्राप्तये नृणां, प्रतिमालम्बनं स्मृतम्।। (शि.पु.रु. १२)**
**तावच्च प्रतिमा पूज्या, यावद्विज्ञानसम्भवः।**
**ज्ञानाभावे न पूज्येत्, पतनं तस्य निश्चितम्।। (शि.पु.रु. १२)**

हे ब्रह्मन्! मेरा लिङ्ग परमानन्द को प्रदान करने वाला साक्षात् शिव स्वरूप और विशुद्ध अक्षर ब्रह्म है। यह लिङ्ग निष्कल-सर्वव्यापी होने से सदा योगियों के हृदय पुण्डरीक में स्थित रहता है, जो सूक्ष्म होने के कारण सर्वगम्य नहीं है। ज्ञानियों के उत्कट भाव के प्रभाव से यह अव्यक्त स्वरूप लिङ्ग प्रत्यक्ष होते हैं। (शि.पु.रू. 12)

संसारियों के हृदय पद्म में कला के सहित लिङ्ग स्वरूप परमेश्वर का निवास है, ऐसा ज्ञान जिसे दृढ़ हो गया हो, वह प्रतिमा की पूजा से कोई अपेक्षा नहीं रहता। किन्तु जिसे इस प्रकार का ज्ञान नहीं है, उसके लिए प्रतिमा की कल्पना की गयी है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को प्रतिमा का आलम्बन आवश्यक है, किन्तु प्रतिमा का पूजन तब तक करना चाहिए, जब तक ज्ञान का उदय न हो जाय, किन्तु जो बिना ज्ञान के प्रतिमा पूजन का त्याग करते हैं, उनका पतन आवश्यम्भावी है। (शि.पु.रु. 12)

• • ✿ • •

**क्रिया-कारक-फलभेद-बुद्धिरविद्या। आत्मैकत्वबुद्धिर्विद्या।**
**अमितात्मानं मिते देहे महत्वाभिमानो मिथ्या।**

क्रिया-कारक-फल और भेद वाली बुद्धि अविद्या है। आत्मा एक है, उसमें क्रिया कारक आदि कुछ भी विकल्प नहीं है, अतः इस एकात्म बुद्धि को विद्या कहते हैं।

अपरिच्छिन्न अर्थात् व्यापक आत्मा को सीमित शरीर में महत्त्वाभिमानीत्व मिथ्या है।

**पिपीलिकाविहङ्गश्च,**
**कपिमार्गो हि मीनकः।**
**शेषमार्गो हि संख्यायां,**
**पञ्चमार्गाः पुरातनाः।। (कपिलगी.)**

साधकों के लिए प्रथम पिपीलिका मार्ग है। इस मार्ग में क्रमशः शनै-शनै ऊपर चढ़ना होता है, जैसे-चींटी चढ़ती है अर्थात् गृहस्थ से वनगमन और वन से शुक वामदेवादि का विहगंम मार्ग है। जो संसार को असार समझकर सीधे ही निवृत्ति मार्ग में चले जाते हैं। तीसरा कपिमार्ग है, जड़ से शाखा पर जाना और शाखा से भी शाखा पर जाना और शाखा से भी शाखा पर जाना इत्यादि। मूल श्लोक का द्वितीय अर्थ पक्ष को इस प्रकार भी कह सकते हैं—कपिलमुनि ने अपने कपिल गीता में पाँच मार्ग ही परमार्थगामी है—ऐसा कहा है। वे मार्ग हैं—1. पिपिलिका मार्ग, 2. विहंगम मार्ग (यति मार्ग), 3. कपि मार्ग (न्याय दर्शन), 4. मीन मार्ग (प्रवृत्ति मार्ग) और 5. सांख्य मार्ग (तत्त्व दर्शन) । (कपिलगी.)

• • ✿ • •

**किं करोमि क्व गच्छामि,**
**किं गृह्णामि त्यजामि किम्।**
**यन्मया पूरितं विश्वं,**
**महाकल्पाम्बुना यथा।।** (महावा.र.म.वा.)

मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, क्या ग्रहण करूँ तथा क्या त्याग करूँ, मुझे समझ में नहीं आ रहा है; क्योंकि मैंने इस विश्व को महाप्रलय के जल की तरह चारों ओर से व्याप्त कर लिया है अर्थात् मेरे (आत्मा) से रहित कुछ भी नहीं दीखता है। (महावा.र.म.वा.)

ॐ (श्रीप्रकाशानन्दयतिविरचिता)

## ।।अथ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली कारिकासंग्रहः।।

**अदृष्टद्वयमानन्दमात्मानं ज्योतिरव्ययम्।**
**विनिश्चित्य श्रुतेः साक्षाद् युक्तिस्तत्राभिधीयते।।१।।**

इस प्रकार विकार रहित आनन्दघन प्रकाशस्वरूप यह आत्मा सकल प्रपञ्च से शून्य है। यह श्रुति प्रमाण के द्वारा सिद्ध है। अब प्रसिद्ध आत्मा के अपरोक्ष ब्रह्म स्वरूप की सिद्धि के लिए युक्ति का आश्रय ले रहे हैं।।१।।

**आत्मा नित्योऽथवाऽनित्यो, भेदसत्वाद्ये स्फुटो मतः।**
**अन्त्ये तु कृतहानिः स्यात्, प्रकृताभ्यागमस्तथा।।२।।**
**जीवाश्रया ब्रह्मपदा, ह्यविद्यातत्त्वविन्मता।**
**तद्विरुद्धमिदं वाक्यमात्मात्वज्ञानगोचरः।।३।।**

लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध देहादि को आत्मा मानने पर आत्मसाक्षात्कार में श्रुतिप्रमाण की क्या आवश्यकता है? कहते हैं कि- यदि आत्मा को देहादि की तरह अनित्य मानोगे तो उसमें कृत की हानि हो जायेगी अर्थात् परलोक को उद्देश्य करके जो आस्तिक जन जप, तप, व्रत, तीर्थ आदि कर रहे हैं, वह व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि पुनर्जन्म तो होगा नहीं। 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:?' भस्मीभूत शरीर का पुनः आगमन कैसे होगा? तो इस समय किये शुभ-अशुभ कर्मों का आगे कोई फल नहीं होगा। वे व्यर्थ परलोकों के उद्देश्य से क्यों किये जा रहे हैं और दूसरा दोष बताते हैं कि 'आकृताभ्यागमस्तथा' आत्मा को अनित्य मानने पर बिना किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल का भोक्ता आत्मा को माना जायेगा। इसलिए आत्मानित्य है।

संसार में विचित्रता है—कोई दु:खी, कोई सुखी, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख इत्यादि विचित्रता जगत् में निर्विवादसिद्ध है। इस विचित्रता का कारण भी विचित्र ही होना चाहिए। इसका कारण अगत्या अदृष्ट (धर्माधर्म) ही हो सकता है, जो पूर्वजन्म सम्बन्धी है। उस अदृष्ट का आश्रय देहादि नहीं हो सकता, किन्तु

अनादि अव्यय आत्मा ही उसका आश्रय है।।२।।

तत्त्ववेत्ता पुरुषों ने कहा है कि जीव अविद्या का आश्रय है अर्थात् अविद्या जीव निष्ठ है और ब्रह्म को विषय करने वाली है। अत: कथन के विरुद्ध आत्मा अज्ञानगोचर है, यह वाक्य है। यहाँ एक देशी का मत है कि आत्मशब्द से जीव कहा जाता है, वह जीव अज्ञान का आश्रय है; विषय नहीं है। अज्ञान का विषय तो ब्रह्म ही है। जीव अनेक हैं, यदि एक जीव मानें तो व्यवहार नहीं बनेगा; क्योंकि जिसको श्रवण मनन आदि से ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, वही मुक्त होता है, अन्य नहीं। इस प्रकार बन्ध और मोक्ष व्यवस्था ठीक बन जाती है।।३।।



**प्रत्यक्षादिप्रमाणानां, प्रमात्वं परतो यदि।**
**अनवस्था स्फुटा तत्र, स्वतस्त्वे दोषसंशयः।।४।।**
**जीवब्रह्मप्रयोगाभ्यामेकं वस्त्वथवा द्वयम्।**
**आद्ये त्विष्टं ममैवस्याद्, द्वितीयेत्वन्मतक्षतिः।।५।।**
**अविद्यास्वाश्रयाभिन्नः, विषयो स्यात्तमो यतः।**
**यथा बाह्यं तमो दृष्टं, तथा चेयं ततस्तथा।।६।।**

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों को परत:प्रामाण्य है ऐसा मानें अर्थात् दूसरे के आधीन है, प्रामाण्य हैं, तो दूसरे को तीसरे के आधीन तथा उसको चौथे के आधीन है । इस प्रकार अप्रामाणिकानन्त पदार्थ कल्पना-रूप अनवस्था रूप दोष होगा और यदि उन्हें स्वत:प्रमाण माने तो दोष का सन्देह है; क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाण'जन्यज्ञानं दोषवत्करणजन्यं जन्यज्ञानत्वाविशेषाद् भ्रमवत्' इत्यादि अनुमान से प्रत्यक्षज्ञान में भी भ्रमज्ञान के तुल्य इन्द्रियजन्य होने से दोष की सम्भावना हो सकती है।।४।।

सिद्धान्ती का कथन है कि जीव और ब्रह्मपद से एक वस्तु को लेते हो या दो वस्तुओं को? प्रथम पक्ष में हमारे (वेदान्ती) मत की पुष्टि होती है और दूसरे में तुम्हारे मत की हानि होती है।।५।।

अविद्या अपने आश्रय को विषय करती है, क्योंकि वह तमोरूपा है। तम:शब्दवाच्य अज्ञान आश्रय तथा विषय के भेद की अपेक्षा नहीं करता। जैसे घर के भीतर का अन्धकार अपने आश्रयरूप घर में भीतर के देश को विषय न करे और उससे भिन्न देश को ढके ऐसी बात नहीं होती है। किन्तु वह जिस आश्रय में रहता है, उसी को विषय करता है। इसी प्रकार अज्ञान का भी स्वभाव है। इसीसे दूसरा पक्ष अर्थात् जीव और ब्रह्म शब्द से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का ग्रहण करना भी ठीक नहीं है।।६।।



**ब्रह्मात्मनोर्विभिन्नत्वे, भेदः स्वाभाविको यदि।**
**औपाधिकोऽथवा भेदः, सर्वथाऽनुपपत्तिकः।।७।।**
**लौकिकी वैदिकी चापि, नाज्ञाने दृश्यते प्रमा।**
**कार्यदृष्ट्याऽथ कल्प्यं चेत्, लाघवादेकमेव तत्।।८।।**

**बन्धमोक्षव्यवस्था स्याज्जीवाभेदे कथं तव।**
**यथा दृष्टं तथैवास्तु, दृष्टत्वात्स्वप्नदृष्टवत्।।९।।**

यदि ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न-भिन्न हैं, तो उनका भेद स्वाभाविक है या औपचारिक? प्रथम पक्ष में परस्पर भिन्न होने के दो भेद होंगे- एक तो आत्मप्रतियोगिक ब्रह्मनिष्ठ भेद और दूसरा ब्रह्मप्रतियोगिक आत्मनिष्ठ भेद। यदि प्रथम पक्ष मानो तो आत्मा से भिन्न होने के कारण ब्रह्म जड़ हो जायेगा। औपाधिक भेद भी नहीं बन सकता, क्योंकि यहाँ प्रश्न है उपाधिजन्य औपाधिक है अथवा उपाधिज्ञेया अथवा उपाधितन्त्र। इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि भेदोत्पत्ति से पूर्व भी आत्मा में अज्ञान सिद्ध है। अत: उसको आश्रय और विषय की क्या अपेक्षा है?

दूसरा पक्ष भी नहीं बनता; क्योंकि अज्ञान जड़ है और जड़ किसी का भासक नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपाधितन्त्र यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि तन्त्रत्व तीन प्रकार से होता है- १. जन्यत्व से, २. आश्रयत्व से और ३. भास्यत्व से। इनमें से किसी प्रकार का भी अज्ञान निरूपित तन्त्रत्व जीवब्रह्म भेद में सम्भव नहीं है। इनमें से किसी प्रकार का भी अज्ञान निरूपित तन्त्रत्व जीवब्रह्म भेद में सम्भव नहीं है। कहा भी है-

संक्षेप शारीरक में-'आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमोनाश्रयो भवति नापि गोचर:'।।७।।

अज्ञान में न तो कोई लौकिक प्रमाण है और न वैदिक प्रमाण है। यदि केवल काम को देखकर कल्पना की जाती है, तो लाघव के कारण एक ही अज्ञान की कल्पना उचित है।।८।।

यदि एक ही जीव है तो एक बद्ध है, एक मुक्त है यह बन्ध मोक्ष व्यवस्था कैसे होगी? समाधान जैसी देखी गयी है, वैसी ही होगी। जैसे स्वप्नद्रष्टा में स्वप्न देखी गयी है और वह कभी देव बनता है, कभी मनुष्य, कभी पशुपति बनता है। इस प्रकार एक स्वप्नद्रष्टा अपने को नाना प्रकार से देखता है। ऐसे ही जाग्रत् भी एक ही जीवरूप 'प्रतिरूपो बभूव' तत्तद्रूपो में परिणत हो जाता है।।९।।

• • ❁ • •

**अज्ञाततत्त्वं नेष्टं चेद्, व्यवहार: कथं भवेत्।**
**नह्यदर्शनमात्रेण, विषण्णो नाशनिश्चयात्।।१०।।**
**सत्त्वत्रयं वदन् वादी, प्रष्टव्योऽत्राधुना मया।**
**सत्यं द्वैतमसत्यं वा, नाऽसत्ये त्रिविधं कुत:।।११।।**
**द्वैतभेदे प्रतिज्ञानं, प्रत्यभिज्ञा कथं वद।**
**दशानां युगपत्सर्पभ्रमे यद्वत्तथैव सा।।१२।।**

यदि अज्ञात सत्ता नहीं मानते हो, तो व्यवहार कैसे होगा; क्योंकि वस्तु के केवल अदर्शन होने पर उसके नाश के निश्चय से कोई दु:खी नहीं देखा जाता।।१०।।

तुम (एक जीववादी) यदि कहो कि स्वप्नवत् जाग्रत् में भी प्रातीतिक सत्ता वाले द्वैत से व्यवहार हो सकता है, इसलिए कुछ विरोध नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारा स्वप्न दृष्टान्त ठीक नहीं

हैं; क्योंकि स्वप्न का तो जाग्रत में बाध हो जाता है। परन्तु द्वैत का बाध साक्षात्कार से पहले नहीं होता। इस पर कहते हैं- तीन प्रकार की सत्ता (प्रातिभासिक, व्यावहारिक और परमार्थिक) मानने वाले वादी से हम पूँछते हैं कि- द्वैत सत्य है या असत्य? यदि असत्य है तो तीन प्रकार की सत्ता क्यों नहीं?॥११॥

उक्त कथनानुसार ज्ञान भेद से द्वैत भेद मानने पर 'सोऽयं घट:' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी?

समाधान- दस पुरुषों को रज्जु में एक साथ सर्प भ्रम होने पर जैसे वे लोग कहते हैं कि- हम सबने एक ही सर्प देखा, बस वही दशा यहाँ पर जानो।

प्रश्न- तो भी स्वप्न से जागे हुए पुरुष को वही यह प्रपञ्च है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। अज्ञात सत्ता के न मानने पर इसकी क्या दशा होगी?

समाधान- मन्दान्धकार में एक ही रज्जु में जैसे सर्प भ्रम होने पर भागते हुए दस पुरुष परस्पर मिलकर कहते हैं कि हम सबने एक ही सर्प देखा है। इस प्रत्यभिज्ञा की जो गति है वही प्रपञ्च की भी समझो, बस इसमें सन्तोष करो वहाँ पर अपने-अपने भ्रम से सिद्ध हुआ पृथक्-पृथक् ही सर्प को दशो पुरुषों ने एक साथ अनुभव किया॥१२॥

• • ❁ • •

**सर्पभ्रमाद्विशेषोऽस्ति, जाग्रद्बोधेऽन्यथा कथम्।**
**इन्द्रियादेरुपादानं, तदभावे यतो न धीः।।१३।।**
**इन्द्रियाणां कारणतत्वे, भवेच्चोद्यं तदा तव।**
**स्वप्नभ्रमे यथा तेषां, अन्वयव्यतिरेकधीः।।१४।।**
**मृदादीनां कारणत्वं, न चेदिष्टं घटं प्रति।**
**अविद्यायाः कारणत्वं, कथं सिध्येत्प्रमां विना।।१५।।**

पूर्व में पूर्वपक्षी ने कहा था कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भ्रम मात्र है उस भ्रम को दूर हो जाने पर प्रपञ्च में जो एकता का अनुभव होता है, वह अज्ञान से ही होता है। जैसे अपने-अपने भ्रम से सिद्ध पृथक्-पृथक् सर्प में दशों लोगों लोगों को एकत्व भ्रम होता है। इसमें वादी विषमता दिखाते हुए कहता है कि- सर्प भ्रम से जाग्रद् बोध में विशेषता है, नहीं तो इन्द्रियों को कारणता कैसे होती? और इन्द्रियों के बना जाने हो नहीं सकता?॥१३॥

अभिप्राय यह है कि सर्पादि रज्जु में पहले भी नहीं थे तथा पीछे भी नहीं रहे, केवल मध्य में ही भ्रम से प्रतीत होते हैं। किन्तु जाग्रत् सम्बन्धी घटादि पदार्थ पहले से ही सिद्ध है इन्द्रियाँ उसका प्रत्यक्ष करती है। अतः अन्वय तथा व्यतिरेक से भी इन्द्रियों में प्रपञ्च ज्ञान के प्रति कारणता सिद्ध है। इसलिए प्रपञ्च की अज्ञात सत्ता अवश्य मानी जायेगी अन्यथा विलक्षणता नहीं होगी। इस पर पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के मत को लेकर कहता है- नहीं ऐसा नहीं कह सकते।

प्रपञ्च के प्रति इन्द्रियों में यदि कारणता होती तो तुम्हारा यह पूर्वोक्त प्रश्न ठीक होता, किन्तु इन्द्रियों में कारणता है ही नहीं, किन्तु स्वप्न भ्रम में जैसे उनमें अन्वय और व्यतिरेक है वैसे ही जाग्रद् में भी समझो। क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है। सारांश यह है वस्तु की सत्यता प्रमा ज्ञान के आधीन होती

है और प्रमाज्ञान यथार्थ वस्तु के आधीन होता है, वहाँ अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित ही है। इसलिए जब प्रमाज्ञान ही दोष युक्त है तो प्रमाज्ञान के प्रति इन्द्रियों की कारणता कैसे हो सकती है?॥१४॥

अविद्या योनयो भावा:, सर्वऽपि बुदबुदा इव।
क्षयमुद्भूय गच्छन्ति, ज्ञानमेकजल लयम्॥

ब्रह्म से अतिरिक्त ज्ञान ज्ञेय रूप समस्त कार्य अविद्याजन्य है, सब प्रातीतिक है। सब बात पर भगवान् वसिष्ठ जी ने कहा है कि- ये सम्पूर्ण ज्ञान-ज्ञेय रूप पदार्थ अविद्यामूलक हैं और बुदबुदों की भाँति क्षणमात्र के लिए उदित होकर ज्ञानरूपी सागर में लीन हो जाते हैं। इस पर कहते हैं कि 'मृदादीनामिति' यदि घट के प्रति मिट्टी का कारण होना आपको आभीष्ट नहीं है अर्थात् अविद्या ही सबका कारण है एवं अविद्या ही मिट्टी रूप से परिणत हुई है तथा अविद्या कल्पित कुलाल ने उसे लेकर आविद्यक घट बनाया है और यह सब स्वप्नावस्था में स्पष्ट ही है- श्रुति भी कहती है- 'न तत्र रथा रथयोगा वा' अर्थात् स्वप्न में न रथ है और न रथ योग्य मार्गादि है। इस प्रकार वास्तविक सृष्टि का निषेध किया है। इसी प्रकार जाग्रत् काल में भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से घटादि प्रपञ्च का निषेध किया है। अत: मिट्टी आदि रूप से परिणत हुई अविद्या घटादि का उपादान कारण है। इस पर कहते हैं कि- यदि घट के प्रति मिट्टी कारण नहीं है, तो प्रमा के बिना अविद्या में कारणता कैसे सिद्ध होगी?॥१५॥

• • ✿ • •

**यथा सतो जनिर्नैवमसतोऽपि जनिर्न च।**
**जन्यत्वमेव जन्यस्य, मायिकत्वसर्पकम्॥१६॥**
**प्रतीतिमात्रं सत्त्वं चेत्, सत्त्वं प्रातीतिकं मतम्।**
**अविरोधान्मयापीष्टं, तद्भेदे वद का प्रमा॥१७॥**
**प्रत्येतव्यप्रतीत्योश्च, भेदः प्रामाणिक कुतः।**
**प्रतीतिमात्रमेवैदतद्, भाति विश्वं चराचरम्॥१८॥**

पूर्वपक्षी का कथन है कि- यदि सभी पदार्थों को आविद्यक नहीं मानते हो, तो लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमाणता सिद्ध होती है और यदि इन सबकी प्रमाणता न स्वीकार की जाय, तो लोक और वेद से विरुद्ध हुआ वेदान्ती किस पक्ष का आश्रय करेगा? इसलिए केवल अविद्या को जगत् का कारण कह देना वेदान्ती का हठ मात्र है। इस प्रकार सिद्धान्ती के पक्ष को लेकर पूर्वपक्षी कहता है कि सुनो- जैसे सत् की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही असत् की भी उत्त्पत्ति नहीं होती। इसलिए कार्य का जन्यत्व होना ही मायिकत्व का बोध कराता है॥१६॥

सिद्धान्ती कहता है कि पूर्वकाण्ड का भी स्वर्णरूप साध्य साधन द्वारा अथवा अन्त:करण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म में ही तात्पर्य है; क्योंकि तात्पर्य विषयीभूत अर्थ में ही शब्द की प्रमाणता मानी जाती है। इसलिए पदार्थों का जो अविद्या कारणत्व कहा, वह ठीक ही है। अत: अविद्या कल्पित जगत् का प्रतीति समकालीन सत्त्व उचित नहीं है; क्योंकि रज्जुसर्प, शुक्ति रजत, गन्धर्वनगर और स्वप्न प्रपञ्च इन सब में प्रतीति समकालीन सत्त्व ही देखने में आता है। इस विषय में कहते हैं कि प्रतीति ही यदि सत्त्व है, तो

सत्त्व प्रातीतिक कहा जायेगा तथा इसका निर्दोष होने से हमको भी इष्ट ही है और यदि ज्ञान और ज्ञेय का भेद मानो तो कहो इसमें क्या प्रमाण है? अर्थात् कोई प्रमाण नहीं है॥१७॥

ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रामाणिक कैसे हो सकता है? यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रतीति मात्र (ज्ञानरूप है) भास रहा है। तात्पर्य यह है कि जड़ प्रपञ्च को अपनी सिद्धि के लिए अवश्य ज्ञान की अपेक्षा है, परन्तु ज्ञान को विषय की अपेक्षा नहीं है, यह सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए ज्ञान में विषय का अन्तर्भाव हो जाता है॥१८॥

ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन, यथा स्वाप्नं प्रतीयते।
विज्ञानमात्रमेवैतत्, तथा जाग्रच्चराचरम्॥१९॥
तन्तोर्भेदे पदो यद्वत्, शून्य एव स्वरूपतः।
आत्मनोऽपि तथैवेदं, भानमात्रं चराचरम्॥२०॥
रज्जुर्यथाभ्रान्तदृष्ट्या, सर्परूपा प्रकाशते।
आत्मा तथा मूढबुद्ध्या, जगद्रूपः प्रकाशते॥२१॥

शङ्का करते हैं कि विज्ञान ही जगद् रूप से भासता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हो? विज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र रूप से जगद् भासता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं?

इस पर कहते हैं कि- जैसे वास्तव में पट और तन्तु भेद से शून्य है। अर्थात् पट तन्तु रूप ही है, उससे भिन्न पट की सत्ता नहीं है। वैसे ही प्रतीति सिद्ध यह चराचर जगत् भी आत्मा से यदि भिन्न होता, तो शून्य होता॥१९॥

आशय यह है कि कारण की सत्ता ही कार्य की सत्ता है। स्वतन्त्र रूप से कार्य की सत्ता नहीं है, यदि कार्य की स्वतन्त्र सत्ता होती, तो तन्तु के अभाव में पट होता। इसमें भान मात्र होना यह हेतु है। भान प्रकाश को अर्थात् चेतन को कहते हैं। यह प्रकाशता वस्तुतः आत्मा में ही पर्यवसित होती है। इसलिए यह ठीक है कि आत्माभेद (एकत्व) होने पर जगत् असत् है। ॥२०॥

इस प्रसङ्ग में शङ्का करते हैं कि - यदि चिदात्मा जगद्रूप से भासित होता है तो यह दुग्ध से दधि की भाँति विकारी हो जायेगा। इस पर समाधान करते हैं कि- सुनिये विवर्तवाद का आश्रय करने से उक्त दोष नहीं आ सकता। यह दोष तो परिणामवाद में ही होता है। उसी को कारिका में दिखाते हैं कि जैसे भ्रान्त दृष्टि से रज्जु सर्परूप से प्रतीत होती है वैसे ही आत्मा भी जगद्रूप से भासता है॥२१॥

आत्मन्येव जगत्सर्वं, दृष्टिमात्रमसत्त्वकम्।
उद्भूय स्थितिमादाय, विनश्यति मुहुर्मुहुः॥२२॥
पूर्णानन्दाद्वये शुद्धे, पापदोषादिवर्जिते।
प्रतिबिम्बमिवाभाति, दृष्टिमात्रं जगत्रयम्॥२३॥

यतत्त्वं वेदगुप्तं परमसुखतमं नित्यमुक्तस्वभावं,
सत्यं सूक्ष्मात्सुसूक्ष्मं महदिदममृतं मुक्तमात्रैकगम्यम्।
यस्यांशे लेशमात्रं जगदिदमखिलं भ्रान्तिमात्रैकदेहम्,
प्रत्यग्ज्योतिस्वरूपं शिवमिदमधुना कथ्यते युक्तितोऽत्र।।२४।।

।।इति पूर्वार्धम्।।

ॐ

अज्ञात रज्जु सर्प रूप से भासती है, यह बात ठीक है; क्योंकि सर्प की वह अधिष्ठान है। किन्तु आत्मा तो स्वयं प्रकाश है। अज्ञानवश वह जगद्रूप से भासित नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा जगत् का निमित्तमात्र है, अधिष्ठान नहीं। तो कहते हैं कि- आत्मा जगत् का निमित्त कारण नहीं है। किन्तु उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण होने से जगद् का उपादान कारण है। इसलिए अज्ञात आत्मा को जगत् का अधिष्ठान कहना उचित ही है। इस बात को कारिका से दिखाते है कि तत्त्वों के सहित यह समस्त दृष्टमात्र जगद् आत्मा में उत्पत्ति और स्थिति को प्राप्त होकर बार-बार लय को प्राप्त होता है।।२२।।

पुन: शङ्का करते हैं कि- परिच्छन्न जगद्रूप होने से आत्मा भी तद्रूप होगा तथा जगद् नाम-रूप है तो आत्मा में भी नानारूपता आयेगी तथा अशुद्धि विषमता आदि जगद् धर्म आत्मा में आ जायेंगे और दुग्ध से दही की भाँति आत्मा पुन: अपने स्वरूप में भी नहीं आयेगा। इसलिए शङ्काओं का समाधान करते हैं कि- इन पूर्वोक्त दोषों में से एक भी दोष आत्मा में नहीं आ सकता है; क्योंकि अज्ञानवश आत्मा में परिच्छन्नतादि जगद्रूपता है, परन्तु वास्तव में नहीं। इसी बात को आगे की कारिका में दिखाते हैं।

समस्त पाप दोषादि से रहित शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप, पूर्ण आनन्द एवं अद्वितीय आत्मा में दृष्टि मात्र तीनों जगत् (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) कालीन प्रतिबिम्ब के समान प्रतीत होते हैं। अर्थात् जैसे बिम्ब के समीपता से दर्पण में प्रतिबिम्ब प्रतिभाषित होता हुआ भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, वैसे ही आत्मा भी जगदाकार में भासित होता हुआ भी अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता; क्योंकि जगद्रूपता उसमें मिथ्या प्रतीत होती है। उक्तञ्च भगवता वसिष्ठेन-

तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तु दृष्टय:।
इमास्ता प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमा:।
तथा यस्य चिन्मयलीला जगदेतच्चराचरम्।
तस्य विश्वात्मकत्वेऽपि खण्ड्यते नैकपिण्डता।।

उस चैतन्य रूपी विस्तृत दर्पण में सम्पूर्ण विश्व प्रतिबिम्बित होता है, जैसे तालाब में तट के वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं। उसकी विश्वात्मक होने पर भी उसकी अद्वितीयता खण्डित नहीं होती।।२३।।

जो तत्त्व वेदों में गुप्त है, परम सुखस्वरूप है, मुक्त पुरुषों के द्वारा ही जो गम्य है, नित्य मुक्त स्वभाव है, जो सत्य है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है, महान् है, अमृतस्वरूप है और जिसके एक अंश में समस्त भ्रान्ति रूप जगत् स्थित है, जो प्रत्यग् तथा ज्योति:स्वरूप है तथा कल्याणमय है। उस वस्तु को हम युक्तिपूर्वक यहाँ पर कहे हैं।।२४।।

।। इति पूर्वार्धम्।।

## ।।अथ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली उत्तरार्द्धः।।

कारिका-

**आत्मायं सर्वसम्बद्धो, भानुभासक उच्यते।**
**नित्योऽयमविनाशित्वाद्, उपादेयः कथं भवेत्।।१।।**
**य आत्मा सर्ववस्तूनां, यदर्थं सकलं जगत्।**
**आनन्दाब्धिः स्वतन्त्रोऽसाऽवनादेयः कथं वद।।२।।**
**यदन्यद्वस्तु तत्सर्वं, यद्भेदे नरशृङ्गवत्।**
**सत्ता सर्वपदार्थाना, मनादेयः कथं वद।।३।।**

### अथ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली उत्तरार्ध

यह आत्मा सर्वव्यापक है। सूर्यादि प्रकाशों का भी प्रकाशक है-'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतियों से वह सबका प्रकाशक है तथा अविनाशी होने से नित्य है तो फिर उपादेय कैसे हो सकता है?॥१॥

जो आत्मा सर्ववस्तुओं का आत्मा अर्थात् सर्व वस्तुरूप है और जो आनन्द का समुद्र है एवं जो समस्त पदार्थों की सत्ता अर्थात् जिसके अस्तित्व से सबमें अस्तित्व है। वह आत्मा अनादेय (अग्राह्य) कैसे हो सकता है?॥२॥

आत्मा से भिन्न घट-पट आदि सम्पूर्ण पदार्थ भी आत्मरूप है। यदि उन्हें भिन्न माना जाय, तो वे आत्मसत्ताशून्य होने से नृशृङ्ग के समान तुच्छ हो जायेंगे। इस प्रकार जो सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता है, वह अनादेय कैसे हो सकता है॥३॥



**यद्वशे प्राणिनः सर्वे, ब्रह्माद्याः कृमयश्च ये।**
**ईशानः सर्वभूताना, मनादेयः कथं भवेत्।।४।।**
**यच्चक्षुः सर्वभूतानां, मनसो यन्मनो विदुः।**
**यज्जोति ज्योतिषां देवो, नोपादेयः कथं विभुः।।५।।**
**मोदप्रमोदपक्षाभ्या-, मानन्दात्मा तमोगतः।**
**जीवयत्यखिलांल्लोकान्, नोपादेयः स्वयं कुतः।।६।।**

ब्रह्म से लेकर कृमि मशकादि पर्यन्त समस्त प्राणी जिसके वश में रहते हैं और जो सबका नियन्ता है वह आत्मा अनादेय कैसे हो सकता है॥४॥

जो आत्मा सभी प्राणियों का चक्षुरूप है, वह तत्त्ववेत्ता ऋषि जिसे मन का भी मन बताते हैं एवं जो सभी ज्योतियों की ज्योति (प्रकाशक) है। ऐसा स्वयं प्रकाश व्यापक आत्मा अनादेय कैसे होगा?॥५॥

इष्ट वस्तु का स्मरण करने से जो हर्ष होता है, उसे मोद कहते हैं और वही निरन्तर अभ्यास करने से उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ प्रमोद कहलाता है। जो अविद्या में प्रतिबिम्बित आनन्दात्मा मोद और प्रमोद रूप दोनों पक्षों से युक्त है और समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करता है, वह आत्मा अनादेय कैसे है?॥६॥

**यस्यानन्दसमुद्रस्य, लेशमात्रं जगद्गतम्।**
**प्रसृतं ब्रह्मलोकादौ, सुखाब्धिं कःपरित्यजेत्।।७।।**
**हैरण्यगर्भमैश्वर्यं, यस्मिन्दृष्टे तृणायते।**
**सीमा सर्वपुमर्थनां, अपुमर्थः कथं भवेत्।।८।।**
**यत्कामा ब्रह्मचर्यं त, इन्द्राद्याः प्राप्तसम्पदः।**
**स्व-स्वभोगं परित्यज्य, अपुमर्थः कथं नृणाम्।।९।।**

जिस परमानन्द समुद्र के लेशमात्र से यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दित होता है और जो परमानन्द स्वरूप आत्मा यहाँ से ब्रह्मलोकादि तक व्याप्त है, ऐसे परमानन्द सुख के सागर को कौन छोड़ेगा?।।७।।

जिसके दर्शन मात्र से हिरण्यगर्भ का भी ऐश्वर्य तृण के समान हो जाता है और जो सम्पूर्ण पुरुषार्थों की सीमा है। वह आत्मा परम पुरुषार्थ क्यों नहीं है? अर्थात् अवश्य ही पुमर्थ (परम पुरुषार्थ) है।।८।।

इन्द्रादिक देवताओं ने अपने स्वर्गीय भोगों को त्याग कर कठोर ब्रह्मचर्य तप द्वारा आत्मज्ञानरूपी परम सम्पदा को प्राप्त किये, वह आत्मा सभी मनुष्यों का पुरुषार्थ रूप क्यों नहीं? ।।९।।

• • ❁ • •

**यद्दिदृक्षा फलाः सर्वा, वैदिक्यो विविधाः क्रियाः।**
**यागाद्या विहितास्तस्मिन्, उपेक्षा वदते कथम्।।१०।।**
**यद्दृष्टिमात्रतः सर्वाः, कामाद्याः दुःखभूमयः।**
**विनश्यन्ति क्षणेनासावुपादेयः कथं न ते।।११।।**
**अह्लादरूपता यस्य, सुषुप्ते सर्व साक्षिकी।**
**तत्रोपेक्षाभवेद्यस्य, तदन्यः स्यात्पशुः कथम्।१२।**

नाना प्रकार की समस्त वैदिक यज्ञ-यागादि क्रियाएँ जिस आत्मा के दर्शन रूप फल देने वाली हैं, अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा परम्परा से मोक्ष है, ऐसे आत्मतत्त्व से तुम्हारी उपेक्षा क्यों हुयी?।।१०।।

जिस आत्मा के दर्शन मात्र से दुःख के कारणभूत समस्त काम-क्रोधादि क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं, वह आत्मा तुम्हारे लिए उपादेय क्यों नहीं है?।।११।।

जिसकी आनन्द रूपता और साक्षित्व सुषुप्ति में सबको प्रतीत होती है उस आत्मा की उपेक्षा जो करे, उससे बढ़कर पशु कौन होगा?।।१२।।

• • ❁ • •

**विरुद्धयोरभेदो हि, न वेदेन प्रमीयते।**
**अनन्यगतिकत्वेन, मानान्तरस्य बाधनम्।।१३।।**
**ब्रह्माज्ञानाज्जगज्जन्म, ब्रह्मणोऽकारणत्वतः।**
**अधिष्ठानत्वमात्रेण, कारणं ब्रह्म गीयते।।१४।।**

**प्रश्नस्य ज्ञानपूर्वत्वाद्, आक्षेपे प्रतियोगिधीः।**
**अवश्यं भाविनी पूर्वा, विरोधः स्यादितोऽन्यथा।।१५।।**

दोनो विरुद्ध धर्मी पदार्थों का अभेद वेद द्वारा प्रमाणित नहीं है तथा कोई अन्य गति न होने से यह भ्रान्तिमूलक प्रपञ्च श्रुति प्रमाणों से बाधित हो जाता है।।१३।।

जगत् की उत्पत्ति के प्रति ब्रह्म कारण नहीं है। किन्तु ब्रह्म के अज्ञान से जगत् का जन्म होता है। (अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्कारोऽब्रवीत्) और यह ब्रह्म तो केवल अधिष्ठान मात्र होने से उपादान कारण कहलाता है।।१४।।

यहाँ शंका पक्ष है कि- अज्ञान ही नहीं है तो उसे जगत् के जन्मादि के उपादान कारण रूप से उपस्थित करना ठीक नहीं है। सिद्धान्त कहता है ऐसा मत कहो; क्योंकि यह नियम है कि प्रश्न ज्ञानपूर्वक होता है और अज्ञान निषेध में प्रतियोगी का (अज्ञान का) ज्ञान अवश्य ही पहले रहना चाहिये, नहीं तो कथन में विरोध उपस्थित होगा।।१५।।



**साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने, समनन्तरनिश्चितिः।**
**अध्यस्यमानं नास्तीति, बाध इत्युच्यते बुधैः।।१६।।**
**उपमर्द्यस्वभावत्व, अविद्याया विरोधिता।**
**तत्कर्तृत्वं तु विद्यायाः, प्रकाशतमसोरिव।।१७।।**
**कल्पितो प्युपदेष्टा स्याद्, यथाशास्त्रं समादिशेत्।**
**न चाविनिगमो दोषोऽविद्यावत्त्वेन निर्णयात् ।।१८।।**

सिद्धान्ती कहता है कि अधिष्ठान के साक्षात्कार के अनन्तर जो निश्चय होता है कि अध्यस्यमान रज्जु में सर्पादि कुछ भी नहीं है, यही बाध कहलाता है।।१६।।

उक्त विषय पर सिद्धान्ती का कथन- उपमर्द्यत्व (उपमर्दन के योग्य) अविद्या का स्वभाव है तथा उपमर्दकत्व विद्या (ज्ञान का) स्वभाव है। बस यह ही इन दोनों में विरोधिता है। जैसे प्रकाश और अन्धकार परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक अर्थात् बाध्य-बाधक है। वैसे ही विद्या और अविद्या भी परस्पर उपमर्द्य-उपमर्दक है।।१७।।

आचार्य उपदेश भी कल्पित है और शिष्य भी कल्पित है। इसलिए यथाशास्त्र उपदेश मात्र ही परमार्थ है। ऐसा निर्णीत हो जाने पर इसमें विनिगमना भाव रूप दोष नहीं है। प्रतिबिम्ब जैसे कल्पित होने पर भी प्रतीति का जनक होता है, वैसे ही गुरु शिष्यादि के उपदेश को जानना चाहिये।।१८।।



**उपाधिसंश्रयो ह्यात्मा, आनन्दत्वं तदाश्रयः।**
**विशिष्टशक्यपक्षे तु, व्यक्तिर्वा शक्तिगोचरः।।१९।।**
**आनन्दरूपमात्मानं, सच्चिदद्वयतत्त्वकम्।**
**अपूर्वादिप्रमाणोक्तं, प्राप्याहं तद्वपुः स्थितः।।२०।।**

योऽहमद्वयवस्त्वेव, सद्वये दृढ़निश्चयः।
प्राप्तं चानन्दमात्मानं, सोऽयमद्वयविग्रहः।।२१।।
नास्ति ब्रह्म सदानन्दमिति मे दुर्मतिः स्थिता।
क्व गता सा न जानामि, यदाऽहं तद्वपुः स्थितः।।२२।।

पुनः सिद्धान्ती का कथन है कि- उपाधि से युक्त आत्मा ही आनन्दत्व का आश्रय है। यह विशिष्ट शक्य पक्ष में कहा है। अर्थात् आनन्दत्व धर्म विशिष्ट आनन्द शब्द के शक्यार्थ मानने में कहा गया है अथवा केवल व्यक्ति को ही शक्यार्थ माने तो भी आत्मा ही कहा जाता है अथवा उभयथा जाति-व्यक्ति दोनों पक्षों में भी- आत्मा ही शक्यार्थ है।।१९।।

मैं सत् चित् अद्वयस्वरूप और 'अपूर्वमनन्तरम्' इत्यादि श्रुति प्रमाणों से कहे गये आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करके तद्रूप स्थित हुआ हूँ।।२०।।

जो मैं अद्वितीय आत्मा वस्तु होने पर भी द्वैतरूप मिथ्या प्रपञ्च को सत्य समझता था, परन्तु अब मैं आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करके अद्वय रूप से स्थित हो गया हूँ।।२१।।

ब्रह्म सदा आनन्द रूप नहीं है, इस प्रकार की मेरी बुद्धि दुर्मति थी, जबकि मैं तद्रूप से स्थित हुआ तो न मालूम मेरी वह असद्बुद्धि कहाँ चली गयी?।।२२।।

• • ❁ • •

पूर्णानन्दाद्वये तत्त्वे, मेर्वादिजगदाकृतिः।
बोधेऽबोधकृतैवासीदबोधः क्व गतोऽधुना।।२३।।
संसाररोगसङ्ग्रस्तो, दुःखराशिरिवापरः।
आत्मबोधसमुन्मेषादानन्दाब्धिरहो स्थितः।।२४।।
योऽहमल्पेऽपि विषये, रागवानतिविह्वलः।
आनन्दात्मनि सम्प्राप्ते, स रागः क्व गतोऽधुना।।२५।।

पूर्णानन्द अद्वितीय तत्त्व में ही यह समस्त मेरु (पर्वत) आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अज्ञान से कल्पित है। अधिष्ठान का बोध होने पर वह अज्ञान न जाने कहाँ चला गया?।।२३।।

संसाररूपी रोग से कलवित हुआ मैं पहले दु:खराशिरूप था, परन्तु आत्मबोध के उत्पन्न होते ही अब मैं आनन्द का समुद्र बन गया हूँ।।२४।।

जो मैं थोड़े से विषय सुख में अत्यन्त अनुराग करके भाँति-भाँति से विह्वल रहता था, वही अब मैं आनन्दस्वरूप आत्मा के प्राप्त होने पर न जाने राग कहाँ चला गया?।।२५।।

• • ❁ • •

यस्य मे जगतां कर्तुः, कार्यैरपहृतात्मनः।
आविर्भूतपरानन्द, आत्मा प्राप्तः श्रुतेर्बलात् ।।२६।।
परामृष्टोऽसि लब्धोऽसि, प्रोषितोऽसि चिरं मया।
इदानीं त्वामहं प्राप्तो, न त्यजामि कदाचन।।२७।।

**त्वां विना निःस्वरूपोऽहं, मां विना त्वं कथं स्थितः।**
**दिष्ट्येदानीं मया लब्धो, योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते।।२८।।**

पहले सांसारिक कार्यों में मेरा चित्त आकर्षित रहता था, परन्तु आज श्रुतियों के बल से मुझे परमानन्द आत्मा प्राप्त हो गया है॥२६॥

हे प्रभो! अब तुम सम्यक् प्रकार से जाने गये हो और प्राप्त हो गये हो, बहुत काल से मैंने तुम्हें भुला रखा गया था, अब तुम मुझे मिल गये हो, अतः अब मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा॥२७॥

तुम्हारे बिना मैं स्वरूप रहित हूँ तुम मेरे बिना कैसे स्थित रह सकते हो? अहो भाग्य से आज मैनें तुम्हें प्राप्त कर लिया है। आप जो भी हो और जैसे भी हो आपको मेरा नमस्कार है॥२८॥

• • ❀ • •

**देहेऽहमाननिगडैर्बद्धोऽबोधाख्यतस्करैः।**
**चिरं ते दर्शनादेव, त्रुटितं बन्धनं क्षणात्।।२९।।**
**विशुद्धोऽस्मि विमुक्तोऽस्मि, पूर्णात्पूर्णतमा कृतिः।**
**असंस्पृश्य तमात्मानमन्तर्ब्रह्माण्डकोटयः।।३०।।**
**तत्त्वमादि वचोजालमावृत्तमसकृत्पुरा।**
**इदानीं तच्छ्रवादेव, पूर्णानन्दो व्यवस्थितः।।३१।।**

अज्ञानरूपी डाकुओं ने देहाभिमानरूपी जंजीरों से मुझे बहुत दिनों से बाँध रखा था, परन्तु आज तुम्हारे (आत्मा के) दर्शन मात्र से मेरा बन्धन क्षणभर में टूट गया॥२९॥

मैं विशुद्ध हूँ अर्थात् मुझमें कोई भी आविद्यक दोष नहीं है, अतएव समस्त बन्धनों से विमुक्त हूँ। मैं पूर्ण से भी पूर्णतम हूँ। मेरी आत्मा का स्पर्श न होते हुए भी उसमें करोड़ों ब्रह्माण्ड विराज रहे हैं॥३०॥

पहले मैंने तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यसमूह को बहुत बार आवृत्तियाँ की परन्तु इस समय गुरुमुख से एक बार के श्रवण मात्र से ही मैं पूर्ण आनन्द रूप से स्थित हो गया हूँ॥३१॥

• • ❀ • •

**आत्मसत्तैव द्वैतस्य, नान्या सत्ता यतस्ततः।**
**आत्मन्येव जगत्सर्वं, दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।।३२।।**
**सत्यं ज्ञानमनन्तं च, पूर्णानन्दसुविग्रहम्।**
**मान्त्रवर्णिकमात्मानं, विनिश्चित्य विमुच्यते।।३३।।**
**कर्म मूलमनर्थानां, तच्च ज्ञानेन बाध्यते।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तथा च श्रुति शासनम्।।३४।।**

**इति यतिवर्यस्वामिश्रीप्रकाशानन्दविरचिता वे.सि.मु. संपूर्णम्।।ॐ तत्सत्।।**

आत्मसत्ता ही द्वैत की भी सत्ता है और आत्मसत्ता से भिन्न द्वैत की सत्ता नहीं है। इसलिए आत्मा के दृष्ट और श्रुत होने पर यह जगत् दृष्ट और श्रुत हो जाता है॥३२॥

सत्य और ज्ञान स्वरूप-अनन्त-पूर्ण आनन्दस्वरूप तथा मन्त्र वर्णों से सिद्ध आत्मा का अभिन्न रूप से निश्चय करके प्राणी मुक्त हो जाता है।।३३।।

समस्त अनर्थों की जड़ कर्म है। इसका ज्ञान से बाध हो जाता है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इस श्रुति की यही आज्ञा है।।३४।।

इति यतिवर्य स्वामिश्रीप्रकाशानन्दविरचिता वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा।।ॐतत्सत्।।

## दृष्टि-सृष्टिवादः

### प्रतीतिमात्रकालीनं जगत्।

1. दृष्टि-सृष्टिवादियों का कहना है कि जो जगत्पदार्थ कल्पित माना जाता है, उसकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। अतः समस्त जागत्प्रपञ्च की दृष्टि समकालिक सृष्टि मानकर घटादि दृष्टि में चक्षु का सन्निकर्ष का अनुविधान प्रत्यय-दृष्टि से पूर्व घटादिकों का अभाव होने से नहीं हो सकता है। अतः स्वप्न के समान जाग्रत्कालीन घटादिकों का अनुभव भी चाक्षुष नहीं है।

यहाँ यह शंका होती है कि यदि दृष्टि-सृष्टिवाद का आलम्बन करके सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पित माना जाय, तो उसकी कल्पना करने वाला कौन होगा? अविद्यारूप उपाधि से रहित यह आत्मा है अथवा अविद्यारूप उपाधि से उपहित यह आत्मा है? प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षावस्था में भी अन्य साधकों की अपेक्षा न करने से निरुपाधिक कल्पक आत्मा की अवस्थिति होने के कारण प्रपञ्च की अनुवृत्ति होगी और इससे मोक्ष और संसार में अन्तर समाप्त हो जायेगा। इसलिए अविद्या से उपहित आत्मा संसार का कल्पक है मानना पड़ेगा। परन्तु सिद्धान्ततः यह द्वितीय पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अविद्या भी कल्पित ही है। इससे उस अविद्या की कल्पना से पहले ही कल्पक अविद्योपहित आत्मा का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः अविद्या की सृष्टि हो ही नहीं सकेगी।

उपर्युक्त पूर्वपक्षी के उत्तर में दृष्टिसृष्टिवादी का कथन है कि—पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर अविद्या का कल्पक है। यह अविद्या प्रथम कल्पित है, यह सिद्ध नहीं होगा। इससे कल्पक और कल्पना के प्रवाह में अनवस्था दोष नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च कल्पक स्वरूप से श्रुतिसिद्ध अविद्योपहित आत्मा पूर्व-पूर्व अविद्या के बिना प्रपञ्च का कल्पक हो ही नहीं सकता।

यदि यहाँ शंका हो कि—अविद्या को अनादि रूप से स्वीकार किया गया है, इसलिए सुक्ति-रजत के समान उसको कल्पित नहीं मान सकते। यदि हठात् उसे मानते हैं, तो सादि और अनादि का जो विभाग है, वह असंगत होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि—जिस तरह स्वप्न में कल्पयमान किसी गोपुर-आदि की पूर्वसिद्ध स्वरूप से कल्पना की जाती है और किसी की उसी काल में उत्पद्यमान रूप से कल्पना की जाती है, वैसे ही जागरित अवस्था में भी किसी अविद्यादि पदार्थ की अनादि रूप से कल्पना की जाती है। इस कल्पना से सादी और अनादि पदार्थों के विभाग की उत्पत्ति हो सकती है। सादि-अनादि विभाग की उत्पत्ति के कथन से कार्य-कारणभाव की भी उत्पत्ति हुई समझनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष के प्रति घटादि विषय जो कारण हैं, उनको घटादि प्रत्यक्ष से पूर्व अज्ञात ही मानना होगा, अन्यथा कार्य-कारणभाव का विघात होगा। इसी प्रकार अविद्या से उपहित एक चिदात्मा ही यदि अपने में संसार की कल्पना करता है, तो संसारी जीव के एक होने से गुरु-शिष्य विभाग और देव-तिर्यगादि विभाग अनुपपन्न होगा, ऐसी शंका के उत्तर में

कथन है कि—सादि अनादि-विभाग के युक्तिसिद्धत्व का प्रतिपादन करने से यह प्रतीत होता है कि वस्तुतः प्रत्यक्ष के प्रति विषय के कारण न होने पर भी उसकी कारणरूप से कल्पना की गयी है। अतः प्रतीतिकालीन मात्र ही जगत् है।

## २. दृष्टिमात्रं सृष्टि।

2. सिद्धान्त में द्वितीय पक्ष यह है कि— 'दृष्टिमात्रं सृष्टिः' अर्थात् दृष्टिगत जगत् पदार्थ मात्र ही सृष्टि है। दृष्टि शब्द से प्रत्यक्ष प्रतीति ही विवक्षित है परोक्ष नहीं, कयोंकि प्रत्यक्ष प्रतीति ही विषयभिन्न होने से प्रातिभासिक पदार्थ की साधक हो सकती है। इस परिस्थिति में वियदादि पदार्थ प्रातिभासिक सिद्ध न होंगे, क्योंकि वे श्रुतिमात्र गम्य है। यहाँ शंका है कि श्रुतिमात्र सिद्ध होने से उसका कल्पक कौन होगा? उक्त के उत्तर में कथन है कि वस्तुतः उन आकाशादिकों का कल्पक कोई नहीं है। यदि शंका हो कि 'आत्मनः आकाशसम्भूतः' श्रुति निरालम्ब होगी तो इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष का कथन होगा कि—ऐसा कभी नहीं होगा, क्योंकि उन श्रुतियों का आलम्बन प्रपञ्चशून्य ब्रह्म और जीव का ऐक्य है। अतः उसके प्रामाण्य के विषय में अनुपपत्ति सम्भव नहीं होगी। अध्यारोप और अपवाद से प्रपञ्च शून्य ब्रह्म की अवगति होती है। इसलिए समस्त प्रपञ्च से शून्य ब्रह्म की अवगति के उपायरूप से श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का कथन किया गया है। वस्तुतः सृष्टि आदि का प्रतिपादन श्रुतियों का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं है। इस प्रकार भाष्यादि निबन्धों में प्रतिपादन किया गया है। यदि वियदादि सर्ग और उसके क्रम के प्रतिपादन में श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है, तो वियत्पाद और प्राणपाद में परस्पर विरोध के परिहार में जिस प्रयत्न का आलम्बन सूत्रकार और भाष्यकार प्रभृति ने किया है, वह व्यर्थ होगा । उत्तर है ऐसा नहीं होगा, क्योंकि न्यायों की व्युत्पत्ति के लिए कथंचित् तात्पर्य को अंगीकार करके वियत्पाद और प्राणपाद में यत्न किया गया है, इसलिए शास्त्रदर्पणकार अमलानन्द ने कहा है—

श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं, स्वीकृत्येदमिहेरितम् ।
ब्रह्मात्म्यैक्यपरत्वात्तु, तासां तत्रैव विद्यते ।।

'स इमाँल्लोकान् असृजत्' इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य मानकर ही वियत्पाद और प्राणपाद में विरोध का समाधान किया गया है, क्योंकि सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्म्यैक में ही होने से सृष्टि के प्रतिपादन में उसका तात्पर्य नहीं है। इसलिए कहा है—

दृष्टिरेव विश्वस्य, सृष्टिरित्यपरा विधा ।
ज्ञानस्वरूपमेवाहु, रित्येतत् स्मृतियानिका ।।

अर्थात् सिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थों में दृष्टि-सृष्टिवाद का निरूपण अन्य प्रकार से किया गया है। दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, दृश्य पदार्थ को स्वप्रकाश-ज्ञानस्वरूप पृथक्रूप से मानने में कोई प्रमाण नहीं है और इस अर्थ की प्रतिपादिका स्मृति भी उपलब्ध ही है—

ज्ञानस्वरूपमेवाहुः, जगदेद् विचक्षणः ।
अर्थस्वरूपभ्राम्यतः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ।।

अर्थात् विवेकी पुरुष इस प्रत्यक्ष सिद्ध जगत् को ज्ञानात्मक ही कहते हैं; परन्तु कुछ भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानस्वरूप जगत् को ज्ञानसत्ता से भिन्न देखते हैं।

### माया

अव्यक्त नाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया,
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥110॥
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यसङ्गाप्युभयात्मिका नो,
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥111॥ (विरेकचू.)

### माया

जो अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या है, वह परमेश्वर की अपरा शक्ति है, वही माया है—जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् पुरुष इसके (माया के) आकाशादि कार्य से ही इसका अनुमान लगाते हैं। इसे सत् नहीं कह सकते, क्योंकि इसका प्रत्यक्ष नहीं हैं तथा असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसके आकाशादि कार्यों के विजृम्भण सर्वत्र व्याप्त है और उभय रूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है।

इसे ब्रह्म से भिन्न नहीं कह सकते, क्योंकि यह ब्रह्म की शक्ति है और शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद होता है। इसे ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह विलक्षण है एवं उभय रूप भी नहीं है। इसे सङ्ग या असङ्ग अथवा उभय रूप कुछ भी नहीं कह सकते, अतः यह अनिवर्चनीय रूप है। उक्तञ्च—

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव हि लक्षणम् ।
यद् विचारासहिष्णुत्त्वमन्यथा वस्तु वा भवेत् ।।111।।

• • ❀ • •

### ईश्वरसिद्धिः

तदत्र बुद्धिमत्कर्तृसिद्ध्या सिद्धेश्वरक्रिया ।
नहि तादृशवैचित्र्य, विदुषः स्यादनीशिता ॥ (उत्पलदेवः)
अन्तःकरणसम्भिन्नः, बोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥83॥
नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य, सोपाधिविषयत्वतः ।
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥84॥ (पञ्च. तृ.दी.)
अन्तःकरणसन्त्यागादवाशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन, ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥ (पञ्च. तृ.दी. ८९)

यह जगत् क्रम से चल रहा है तथा इसकी रचना व्यवस्थित है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश अपना-अपना कार्य करते हैं तथा क्रम से ऋतुओं का आगमन प्रत्यागमन से समयानुसार वृक्षों पर फल आता है। समयानुसार पशु-पक्षियों का प्रसव देखा जाता है तथा समय से सब अपने-अपने नियमों का पालन करते हैं। कोयल वसन्त में ही बोलती है। मुर्गा प्रातःकाल ही बोलता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् के घटपटादि के कर्ता के समान ही ईश्वर के बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व से यह जगत् जन्य है। यह नियम है जो जन्य है, वह सकर्तृक है तथा इसका कर्ता (अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरः) इत्यादि वचनों से मनुष्य नहीं हो सकता; क्योंकि वह अनीश्वर है। अतः जो इस जगत् का कर्ता है, वह ही ईश्वर है। (उत्पलदेवः)

अन्तःकरण से सम्भिन जो जीव का बोध उस बोध की अपरोक्षता ईश्वरसिद्धि का हेतु है। वही बोध उपाधि के सद्भाव से ईश्वर है। परन्तु उपाधिरहित बोध की स्थिति में ब्रह्म पद वाच्य है। अर्थात् शुद्ध निरुपाधिक ब्रह्म ही सोपाधितया ईश्वर पदवाच्यार्थ है। (पञ्चदशी तृप्त. 83)

ब्रह्मबोध सोपाधिक विषय नहीं है। जब तक उपाधिक का ग्रहण बोध में स्थित है, तब तक ब्रह्म का बोध नहीं है ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि उपाधि निवारणपूर्वक ही कैवल्य ब्रह्म बोध होता है। (पञ्चदशी तृप्त 84)

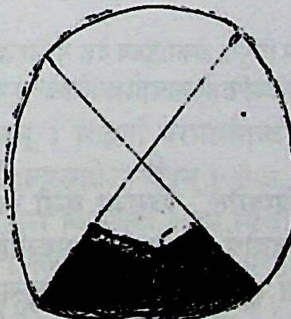
अन्तःकरण का साहित्य अर्थात् उपाधि ही जीवभाव है और अन्तःकरण उपाधिराहित्य ब्रह्मभाव है अर्थात् साहित्य-राहित्य उभय बुद्धि से पर सकल सविशेषशून्यता ब्रह्मत्व है। इसलिये अन्तःकरण उपाधि के सम्यक् जो अवशिष्ट बचा हुआ आत्मा 'सर्वसाक्षी ब्रह्म है वही मैं हूँ' इत्याकारक अपरोक्ष बोध ही ब्रह्म बोध है। (पञ्चदशी. तृप्त 89)

• • ❁ • •

विहाय सर्वं  विनिरीक्ष्यतेऽर्कः ।
तटस्थमेत त्रितयाभासकः,
स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा ॥

(वि.चू. 221)

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपाद्याऽमृतं दिवि ।



जिस प्रकार घटगत जल में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब में तीन वस्तु है, यथा—घटजल और सूर्य का प्रतिबिम्ब, उसी प्रकार शरीर में तीन अवस्थाएँ हैं— जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं के अवभासक (प्रकाशक) साक्षी चैतन्य आत्मा ही है । घटजल और प्रतिबिम्ब में भी तीनों स्थितियों का प्रकाशक साक्षीभूत सूर्य ही प्रकाशक होता है। इन तीनों में मूढ़ तो तीन वस्तु देखता है, परन्तु विद्वान् (ज्ञानी) पुरुष केवल तीनों के साक्षी सूर्य दर्शन के समान साक्षी चैतन्य आत्मा को ही देखता है। (वि.चू. 221)

इस परमात्मा के चार पादों में से एक पाद में अर्थात् चौथाई भाग में सम्पूर्ण विश्व स्थित है तथा उस परमात्मा के तीन अमृतमय पाद हैं और वे तीनों पाद दिव्यलोक में स्थित हैं।

**अनात्मदृष्टेरविवेकानिद्रामहं मम स्वप्न मतिं गतोऽहम् ।**
**स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तैर्गुरोर्महावाक्यापदैः प्रबुद्धः ।।**
**प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः, कामैर्वा हन्यतां मनः ।**
**आनन्दबुद्धिपूर्णस्य, मम दुःखं कथं भवेत् ।।(महावार.र.१०)**

अब तक मैं अनात्म पदार्थों को सत्य समझ रहा था, उस मिथ्या अनात्म दृष्टि की अज्ञानरूपी निद्रा में सोकर यह मेरा है और यह मैं हूँ इत्याकारक झूठे स्वप्न देख रहा था। अब श्रीगुरुजी महाराज के संशयशून्य स्पष्ट महावाक्यों के उपदेश (स्वरूपभूत आत्मबोधन) से ज्ञान स्वरूप सूर्य का उदय हुआ और मैं जाग गया हूँ और मैं ब्रह्म स्वरूप ही हूँ, ऐसा जान गया हूँ।

अब मेरे प्राण अपने पुत्र-मित्रादि धर्मों के साथ भले ही चलते रहें तथा नाना प्रकार की इच्छायें भी चाहे मन को व्यथित करे, परन्तु मैं आनन्दसिन्धु में आनन्दबोध से परिपूर्ण हूँ। इसलिये मुझे अब तीनों काल में भी दुःख की सम्भावना नहीं है। (महावार. र. 10)

**नाप्राप्तकालो म्रियते, प्राप्तकालो न जीवति ।(अत्रि सं. 20)**
**निरस्तविषयासङ्गं, सन्निरुद्धं मनो हृदि ।**
**यदा यत्युन्मनीभावं, तदा तत्परमं पदम् ।।(ब्रह्मबिन्दूपनि. 4)**

जिसका मरने का समय नहीं है, वह नहीं मरता है और जिसका मरने का समय आ गया है, वह नहीं जी सकता। (अत्रि सं. 20)

जब इन्द्रियाँ और मन विषय से विमुख होकर हृदय देश में निरुद्ध हो जाय और जब उन्मनीभाव (मन का नैसर्गिक स्वबाव से रहित होना) की प्राप्ति हो जाय तो उस परमात्मा पद को प्राप्त करने में विलम्ब नहीं रह जाता । (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-4)

**देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेतं , विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम् ।**
**द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं, सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ।।**
**नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, अन्तर्बहिः शून्यमनन्यमात्मनः ।**

विज्ञाय सम्यङ्.निजरूपमेतत्पुमान् विपाप्मा विरजो विमृत्युः।।
श्रोतव्यं च किमस्ति पूर्णसुदृशो नित्यापरोक्षस्य मे,
मन्तव्यं च न मेऽस्ति किञ्चिदपि वा निःसंशयज्योतिषः।
ध्यातृध्येयविभेदहानिवपुषो न ध्येयमस्त्येव मे,
सर्वात्म्यैकमहारसस्य सततं नो वा समाधिर्मम।।(प्रोढानुभूतिः १२)




(ब्रह्मज्ञानावली २१)

विद्वान् जैसे घट और उसमें स्थित जल में प्रतिबिम्बत सूर्य इन सबको छोड़कर इन तीनों के प्रकाशक सूर्य को पृथक् देखता है। ऐसे ही देह बुद्धि और बुद्धि में पड़े चिदाभास इन तीनों को छोड़कर बुद्धिरूपी गुहा में स्थित साक्षीरूप अखण्ड बोधस्वरूप सर्वप्रकाशक निजस्वरूप भूत सदसद्भिन्न सवर्गत बाह्यभ्यन्तरशून्य नित्य विभु स्वयं से अभिन्न आत्मस्वरूप को जानकर निर्मल निष्पाप तथा अमर हो जाता है। (वि.चू.म. 222-223)

प्रत्यगभिन्न चैतन्य हूँ, स्वयंज्योति हूँ, पर जो प्रकृति है, उससे भी परे हूँ, स्वयं ज्योतिस्वरूप में स्थित शिव हूँ, जो स्वात्मा को ऐसा जानता है, वह स्वयं ज्योतिर्ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। (ब्रह्मज्ञानावली 21)

कृतकृत्य ज्ञानी इस प्रकार अनुभव करता है कि—मैं नित्य अपरोक्ष हूँ, क्योंकि मेरी ज्ञान दृष्टि पूर्ण रूप से सदसत् का प्रत्यक्ष कर रही है ऐसे में मुझे श्रवण की क्या आवश्यकता है। मैं स्वयं प्रकाश अर्थात् ज्योतिरूप हूँ, मुझे सन्देह ही नहीं है, तो मनन की क्या आवश्यकता है। मैं अद्वैत ब्रह्मरूप हूँ मुझमें ध्याता-ध्यान-ध्येय रूप त्रिपुटी समाप्त हो गयी है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' शास्त्र का अभ्यासी हूँ तो मेरे लिए ध्येय कहाँ है और सर्वात्मैक रस ब्रह्मानन्द सुधासिन्धु में सतत रमणशील मेरे लिए समाधि की क्या आवश्यकता है। (प्रौढ़ानुभू. 12)



नित्यस्फूर्तिमयोऽस्मि निर्मलसदाकाशोऽस्म्यहम् । नित्यानन्दमयोऽस्मि निर्गतमहामोहान्धकारोऽस्म्यहम् । विज्ञातं परमार्थतत्त्वमखिलं तैजं निरस्ताशुभम् । मुक्तप्राप्यमपास्तभेदकलनाकैवल्यसंज्ञोऽस्म्यहम् ।(प्रौ.अ. ८)

किं वः प्राप्तमितः पुरा किमधुना लब्धं विचारादिना, यस्मात्तत्सुखरूपमेव सततं,जाज्वल्यमानोऽस्म्यम् । किं वापेक्ष्यमिहापि मय्यतितरां, मिथ्या विचारादिकं, द्वैताद्वैतविवर्तिते समरसे, मौनं परं सन्मतम् । (प्रौ.अ. ११)

**मयि जीवत्वमीशत्वं, कल्पितं वस्तुतो नहि।** (सरस्वती र.उ. ३३)

**वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।**

**ह् ई र् ँ - ह**

**अर्धेन्दुलसितं देव्याः बीजं सवार्थदायकम्।।** (देव्युपनिषद् ११)

मैं नित्य स्फूर्ति (स्फुरण) रूप हूँ, रागद्वेषादि मलविक्षेप आदि समस्त दोषों से रहित निर्मल आकाशवत् व्यापक हूँ। मैं नित्यानन्दस्वरूप हूँ, मुझमें से महामोहरूपी अन्धकार निकल गया है। मैंने सम्पूर्ण परमार्थ तत्त्व को जान लिया है। मुझमें लेशतोऽपि द्वैत रूप अशुभ अज्ञान नहीं है, जो मुझ द्वारा प्राप्तव्य है। इस प्रकार समस्त भेद जात की समाप्ति हो जाने से मैं कैवल्यसंज्ञक मोक्षस्वरूप हूँ। (प्रौ. अ. ४)

अब मैं द्वैत अद्वैत आदि विकल्पों से रहित सम और शान्त भाव में स्थित हूँ। इस प्रकार की स्थिति वाले मेरे लिए विचार आदि साधनों से न पूर्व में कुछ प्राप्त था और न इस समय कुछ मिल रहा है। अर्थात् उपेय की प्राप्ति होने पर उपाय व्यर्थ हो गये हैं; क्योंकि मैं निरन्तर देदीप्यमान आनन्दस्वरूप हूँ। मुझे अब श्रवण मनन विचारादि साधनों की क्या अपेक्षा है? अब तो मेरे लिए मौन ही परम सम्मत पक्ष है। (प्रौ.अ. 11)

मुझमें जीवभाव तथा ईश्वरभाव ये दोनों कल्पित हैं। ये दोनों भाव मुझमें वास्तव में नहीं है। (सरस्वती उ. 33)

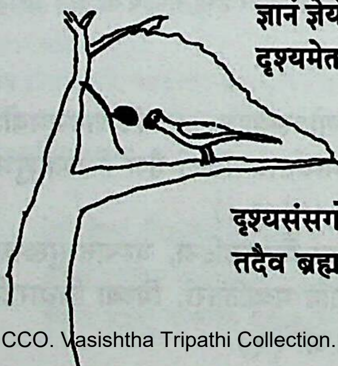
• • ❀ • •

**विद्या शिखा।** (संन्यासोपनि. १)

**तस्य आत्मध्यानं–यज्ञोपवीतम्।**

संन्यासियों की ज्ञान शिक्षा ही ब्रह्मविद्या है। शिखा का अर्थ चोटी-शिखर-उत्तम और लौ (अग्नि या दीपक का अग्रभाग) होता है और वही ज्ञान शिखा उसका यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र) है। (संन्यासोपनि. 1)

• • ❀ • •

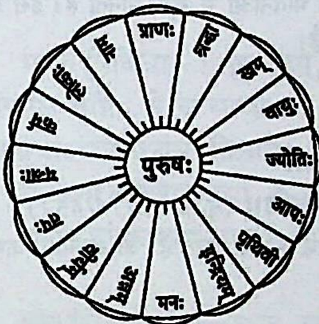


**ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।**
**दृश्यमेतन्मृषा सर्वं एकोऽहं चिद्रसोऽमलः॥** (अष्टाव.गी.

**दृश्यसंसर्गो दृष्टेर्मालिन्यहेतुः तन्निवृत्तौ मालिन्याभावः, तदैव ब्रह्मसाक्षात्कारः।** (भगवत्तत्त्व रा.र.)

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ध्याता, ध्यान, ध्येय इत्यादि त्रिपुटी मिथ्या है, वास्तविक नहीं है। यह शुद्ध समाधि में नहीं रहती है। निर्विकल्प समाधि तथा ज्ञानी के लिए तो दृष्टा नास्तीति बोधेन मनसो दृष्यमार्जनम्) इसके अनुसार दृष्टा भी नहीं हैं केवल चिद् रस में एक ही हूँ, ऐसी प्रतीति रह जाती है। (अष्टाव.गी. 2)

दृश्य जगत् प्रपञ्च के संसर्ग दृष्टि की मलिनता का हेतु होता है। और जब उससे निवृत्ति मिल जाती है तो मालिन्याभाव (स्वच्छ) हो जाता है, अर्थात् जीवात्मा निर्मल हो जाता है, इसी को ब्रह्मसाक्षात्कार कहते हैं। (भगवत्तत्व.रा.र.)




इमाः षोडसकलाः पुरुषायणाः। स एषोऽकलोऽमृतः। (प्रश्नोपनिषत् 6)

प्राण, ब्रह्म, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मात्रा, कर्म, लोक और नाम ये विराट् पुरुष की सोलह कलाएँ हैं, किन्तु शुद्ध ब्रह्म तो अमृत रूप है, अतः इन कलाओं से रहित है।




प्रत्यगात्मसत्त्वमात्रमुपजीव्य तदीयचिदौ छादयति।

(विरणप्र.सं. १/१)

समो-निर्विकारो-नित्यः

आत्मा

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रागादिदोष-
संयोगोऽध्यासः।।

प्रत्यगभिन्न आत्मा के सत्त्व मात्र को ही उपजीव्य बनाकर अविद्या उसके चित् स्वरूप को आच्छादित कर देती है। जबकि चित् आनन्द स्वरूप और अनन्त है।

विवरण प्र. १/१

## आत्मा

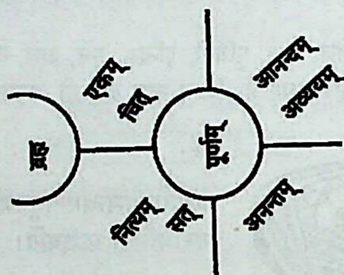
आत्मा सम है ऊँच-नीच आदि विषमता से शून्य है तथा निर्विकार है और नित्य है। अज्ञानवश जीवात्मा राग द्वेष कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि तुच्छ भावनाओं के संयोग से अनात्म धर्मों के साथ तादात्म्यापन्न होने से अपने को विषम-विकासी-अनित्य-कर्त्ता-भोक्ता आदि तुच्छ भावनाओं से युक्त मानता है। इस प्रकार मानना ही अध्यास (भ्रम) है, क्योंकि चित् धातु का अर्थ आनन्द है।



## अविद्या

अहमेव परं ब्रह्मेत्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता।
अविद्येति वयं ब्रूमो, येहनास्ति सदात्मनि।। (बृ.भा.वा. 1/4/457)

मैं परब्रह्म हूँ। इस यथार्थ बोध की अप्रबोधता को ही हम अविद्या कहते हैं। जो आत्मा में कभी भी नहीं है। (व.उ.भा.वा. 1/4/457)




सर्वगं सच्चिदानन्दं, ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत, भास्वन्तं भानुमन्धवत्।।
(आत्मबोध ६४)

शिवः सर्वो सर्वे शिवः, नास्ति भेदश्च कश्चन।
साहङ्कारस्तथा जीवः तन्मुक्तः शङ्करः स्वयम्।।
(शिवपु.को.रू.सं. 43/23)

तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमः।
तरङ्गाभिन्नसमुद्रस्य तरङ्गाणामपि मिथोऽभेदः।। (भगवत्तत्व रास र.)

जो सर्वगत है, देशकाल वस्तु परिच्छेद से शून्य है, व्यापक-अनन्त अन्तर्यामी है और सत्-चित् तथा आनन्दरूप है, उसे ज्ञान नेत्र से देखा जा सकता है। अन्धा जैसे देदीप्यमान सूर्य को भी नहीं देख पाता है, ऐसे ही अज्ञान नेत्र से परमात्मा को नहीं देखा जा सकता। (आत्मबोध 64)

ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द-नित्य-अद्वितीय और अव्यय स्वरूप होने से पूर्ण है। प्रतीक चित्र द्वारा ब्रह्म की पूर्णता हेतु को यहाँ बताया गया है।

शिव में सर्वस्वरूप है और सर्वस्वरूप शिव में है। शिव और सृष्टि में कोई भी भेद नहीं है। किन्तु वह शिव अहंकारयुक्त होने से जीव और अहंकारमुक्त हो जाने पर स्वयं शिवस्वरूप है। (शिवपु.का.रू.सं. 43/23)

जो जिससे अभिन्न होता है, वह उससे तादात्म्य स्वरूप वाला होता है, यह नियम है। जिस तरह घट मृतिका से अभिन्न होता है। वह मृन्मय ही होता है। जिस प्रकार समुद्र का तरङ्ग से अभेद होता है। जो तरङ्ग वही समुद्र है और जो समुद्र है, वही तरङ्ग है। इसलिए जिससे जो अभिन्न होता है, वह वही होता है। यह नियम है। (भगवतत्त्व रा.र.)



**माया त्रिविधा—1. प्रधानम्, 2. अविद्या, 3. विद्या च।**
**1. उपाधि सृष्टिः, ते च सत्याः। 2. अविद्यया जातेषु तदध्यासः सृष्टः, स चासत्यः। 3. विद्ययाऽध्यासध्वंसः क्रियते।**

**कर्कशा कलहा कृत्या, बन्ध्या नित्यममङ्गला।**
**त्यज्यजां कामना चण्डी, भुज्यतां मुक्ति सुन्दरी॥**

(बोधसारः उपदे. 16)

माया तीन प्रकार की है—प्रधान, अविद्या और विद्या।

उपाधि सृष्टि सत्य है। भगवान् ने अविद्या से अनात्म पदार्थों में अध्यास का सृजन किया, वह अध्यास असत्य है। भगवान् विद्या से अध्यास का नाश करते हैं।

यह कामनारूपी जो स्त्री है, वह चण्डी है और बड़ी कर्कशा है तथा कलह करने वाली है। ये कृत्या हैं और ये बन्ध्या भी हैं एवं जब तक यह रहेगी, तब तक आपको माङ्गलिक सुशोभित वस्तु नहीं मिलेगी। अतः इसे छोड़ो और मुक्तिरूपी सुन्दरी का उपभोग करो।



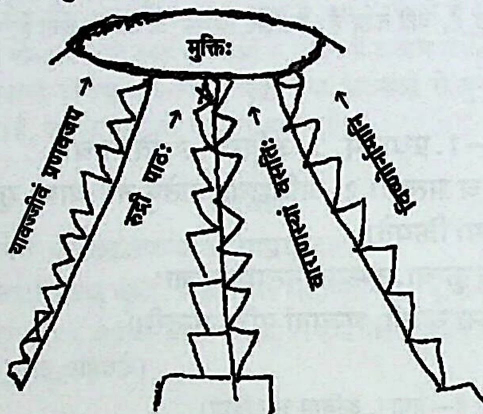
**सुखदुःखादि सम्बद्धां, यथा दण्डेन दण्डिनम्।**
**राधको वीक्षते बुद्धिं, साक्षी तद्वदसंहतः॥**
**शरीरेन्द्रियसङ्घात, आत्मत्वेन गतां धियम्॥**
**नित्यात्मज्योतिषा दीप्तां, विशिंषन्ति सुखादयः॥**

(वृ.उ.भा.वा. 1/4/520)

जैसे दण्डविशेषण से दण्डी पुरुष को देखते हैं, ऐसे ही आत्मबुद्धि से मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, सुख दुःख विशेषण से युक्त होकर तादात्म्याध्यास द्वारा सम्बद्ध आत्मा की प्रतीति होती है। वस्तुतः जैसे दण्ड से दण्डी पृथक् है, उसी प्रकार सुख-दुःखादियों से भी साक्षी पृथक् है, वह किसी से भी संयुक्त नहीं है। किन्तु शरीर के धर्मों का जब आत्मा में आरोप करता है, जैसे—मैं मोटा हूँ, कृश हूँ तो वह शरीर में ही अध्यस्त बुद्धि के कारण वैसा अनुभव करता है। इस प्रकार नित्य आत्मज्योति से प्रकाशित और विशेषित होकर ऐक्य रूप से वह दुःखादि प्रतीतिजनक हो जाते हैं। (बृ.उ.भा.वा. 1/4/520)



चिदमृतसुखराशौ चित्तफेनं विलीनं,
क्षयमधिगत एव वृत्ति चञ्चत्तरङ्गः।
स्तिमितसुखसमुद्रो निर्विचेष्टः सुपूर्णः,
कथमिह मम दुःखं सर्वदैकोऽहमस्मि॥ (स्वात्मप्रकाशिका 28)




चेतनरूपी अमृतसुखराशि में मेरा चित्तरूपी फेन विलीन हो गया और मनोवृत्तिरूपी चञ्चल तरङ्ग भी समाप्त हो गया। सर्वतः शान्त और प्रसन्न सुखसमुद्र परिपूर्ण होकर अपने में निश्चेष्ट हो गया। इस प्रकार मैं एक हूँ अनन्त हूँ, ऐसे अनुभवशील मुझको दुःख कैसे छू सकता है? (स्वात्मप्रकाशिका 28)

मुक्ति के विभिन्न उपाय यहाँ कहे जा रहे हैं—यावज्जीवन प्रणव (ॐ) के जप, रुद्री पाठ, वाराणसी में निवास और भगवान् श्रीकृष्ण जी के नाम संकीर्तन से मुक्ति प्राप्त होती है।

• •  • •

## औषधम्

यत्किचिन्मन्यसेऽस्तीति, सर्वं नास्तीति विद्धि तत्।
एवं न व्यथते प्राज्ञः, कृच्छ्रामप्यापदं गतः॥

### औषध

यहाँ जो कुछ भी प्रपञ्चात्मक जगत् नाम-रूपात्मक दिखाई दे रहा है, वे सभी जैसा-जिस रूप में देख रहे हो, उस रूप में वह असत् है, मिथ्या है अर्थात् उसका अधिष्ठान परमात्मा (ब्रह्म) मात्र सत्य है। जो उपासक जगत् प्रपञ्च को मिथ्या ही है ऐसा जानता है, वह दुःखी नहीं होता, चाहे वह कठिन से कठिन आपदग्रस्त क्यों न हो। वह तो प्रपञ्च अंश में मिथ्यात्व और उसके अधिष्ठान अंश में 'सुक्तौ रजतम्' के समान सत्य बुद्धि रखता है। 'सुक्तौ रजतम्' में इदमंश सुक्ति (अधिष्ठान) सत्य और रजत (अध्यस्यमान वस्तु) मिथ्या है, ऐसा जानना चाहिये।

• •  • •

**ब्रह्म प्रणवः—परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्।**
**षोडशमात्रात्मकः। अवस्थाचतुष्टयगोचरः।**

| | | | |
|---|---|---|---|
| जाग्रदवस्थायाम् - अः | १. विश्वविश्व | अः | १ |
| | २. विश्वतैजः | उः | २ |
| | ३. विश्वप्राज्ञः | मः | ३ |
| | ४. विश्वतुरीयः | ।। | ४ |
| स्वप्नावस्थायाम् - उः | १. तैजसविश्व | '.' | ५ |
| | २. तैजस तैजसः | नादः | ६ |
| | ३. तैजस प्राज्ञः | कला | ७ |
| | ४. तैजसतुरीयः | कलातीत | ८ |
| सुषुप्तौ- मः | १. प्राज्ञविश्वः | शान्ता | ९ |
| | २. प्राज्ञतैजसः | शान्त्यतीता | १० |
| | ३. प्राज्ञप्राज्ञः | उन्मनी | ११ |
| | ४. प्राज्ञतुरीयः | मनोन्मनी | १२ |
| तुरीयावस्थायाम् - | १. तुरीयविश्वः | तुर्या | १३ |
| | २. तुरीयतैजसः | मध्यमा | १४ |
| | ३. तुरीयप्राज्ञः | पश्यन्ति | १५ |
| | ४. तुरीयतुरीयः | परा | १६ |

१६- परा
१५- पश्यन्ती
१४- मध्यमा
१३- तुर्या
१२- मनोन्मनी
११- उन्मनी
१०- शान्त्यतीता
९- शान्ता
८- कलातीतः
७- कला
६- नाद
५- ०
४- ।।
३- मः
२- उः
१- अः

(परमहंसबीजः ३०)

चिते चैत्य दशा हीने,
या स्थितिः क्षीणचेतसाम् ।
सोच्यते शान्तकलना,
जाग्रत्येव सुषुप्तता।।
प्रौढ़ा सती तुरीयेति,
कथिता .... ।(अन्नपू. ३/२)

ब्रह्म प्रणव षोडश मात्रात्मक होता है और वह चारों अवस्थाओं में गोचर होता है। यथा— (क) जाग्रदवस्था में— 1. विश्वविश्व 'अः' प्रथम मात्रा है। 2. विश्वतैजस 'उः' द्वितीय मात्रा है। 3. विश्वप्राज्ञ 'मः' तृतीय मात्रा है। 4. विश्वतुरीय अर्धमात्रा (।।) चतुर्थ (तुरीय) मात्रा है।

(ख) स्वप्नावस्था में—1. तैजसविश्व ':' विसर्ग पाँचवी मात्रा 2. तैजसतैजस 'नाद' छठी मात्रा है। 3. तैजसप्राज्ञ 'कला' सातवीं मात्रा है और 4. तैजसतुरीय 'कलातीत' आठवीं मात्रा है।

(ग) सुषुप्ति 'मः' में—1. प्राज्ञविश्व 'शान्ति' मात्रा, 2. प्राज्ञतैजस 'शान्त्यतीत' मात्रा, 3. प्राज्ञप्राज्ञ 'उन्मनी' मात्रा तथा 4. प्राज्ञतुरीय 'मनोन्मनी मात्रा है।

(घ) तुरीयावस्था के अर्ध मात्रा (।।) में—तुरीयविश्व 'तुर्या' मात्रा, 3. तुरीय तैजस 'मध्यमा' मात्रा, 3. तुरीयप्राज्ञ 'पश्यन्ती' मात्रा तथा 4. तुरीय तुरीय में 'परा' मात्रा है। इस प्रकार चारों अवस्थाओं के चार-चार मात्रा होने से प्रणव ब्रह्म के कुल सोलह (षोडश) मात्राएँ होती हैं।

चित्त जब संकल्प-विकल्प से शून्य होकर सम्पूर्ण वासनाविहीन हो जाय, इस अवस्था को शान्त कला कहते हैं। इस अवस्था में जाग्रद् में ही सुषुप्ति मानी जाती है और अभ्यास से जब वह अवस्था दृढ़ हो जाय, तो यह ही तुरीयावस्था कहलाती है। चित्र में 'अः' प्रथम मात्रा से लेकर सोलहवीं परा मात्रा तक ब्रह्म प्रणव की सोलह मात्राओं को कहा गया है; जो चारों अवस्थाओं में होती है। (परमहंसबीज 30/अन्नपू. 3/2)

• • ✿ • •

**स्वाहा-स्वधा-वषट्-वौषड्-नमः पर्यायवाचकाः। ॐ विष्णुः सर्वोषामधिपतिः परमः पुराणः परो लोकानामजितो निजात्मन् भवते भवाय स्वाहा।(पारमात्मिकोपनिषत्)**

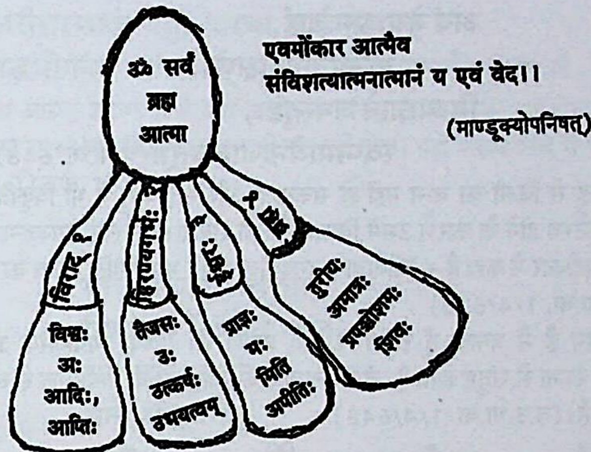
स्वाहा-स्वधा-वषट्-वौषड् और नमः ये पाँचों शब्द परस्पर में पर्यायवाची हैं। 'ॐ' स्वरूप विष्णु सभी के अधिपति परमपुराण पुरुष सबके परे और सभी लोकों से अजित (अपराजित देवता) हे निजात्मन् (स्वात्मन्) स्वयम्भो! आपको नमस्कार (स्वाहा) है। (परमात्मिकोपनिषद्)

• • ✿ • •

**अन्तः शीतलातायां तु,**
**लब्धायां शीतलं जगत् ।**
**अनतस्तृष्णोपतप्तानां,**
**दावदाहमयं जगत् ।।(अन्नपूर्णोनिषत् १/३५)**
**हृदयात्सम्परित्यज्य,**
**सर्ववासनपङ्क्तयः।**
**यस्तिष्ठति गतव्यग्रः,**
**स मुक्तः परमेश्वरः।।(महोपनिषत् ६/८)**

जब अन्तःकरण वासनाओं से रहित हो जाता है, तो शीतल (शान्त) प्रतीत होता है और उस साधक के लिए बाह्य जगत् भी शीतल (शान्त) प्रतीत होता है। इससे इतर जब अन्तःकरण तृष्णारूपी अग्नि से जल रहा होता है, तो बाहर जगत् भी दावाग्नि से जलता हुआ प्रतीत होता है। (अन्नपूर्णोपनिषत् 1/35)

हृदय से सम्पूर्ण वासना समुदाय को अच्छी तरह त्यागकर जो मनोव्यग्रता शून्य हो जाता है, वह मुक्त होकर साक्षात् परमेश्वरस्वरूप हो जाता है। (महोपनिषद् 6/8)




**कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।**
**स एव बुद्ध्यते भावान्, इति वेदान्तनिश्चयः।।** (गौ.का. 2/12)

ओंकार ब्रह्म की चार मात्राओं में ही चार पाद की कल्पना करके उस ओंकार ब्रह्म का प्रतिपादन किया जा रहा है—प्रथम 'अ' मात्रा वाला ब्रह्म का पाद-आदिमत्व, जागरितस्थान, वैश्वानर स्वरूप वाला है। उक्त पाद की उपासना से सभी प्रकार की कामनाओं को साधक प्राप्त करता है। द्वितीय 'उः' मात्रा वाला पाद तैजस स्वरूप प्रथम पाद 'अ;' से उत्कृष्ट और उभयात्मक अर्थात् वैश्वानर और प्राज्ञ के मध्य होने के कारण वह उभय सम्बन्धी है। इस समानता के कारण ही 'उः' को तैजस नामक द्वितीय पाद कहा गया है। जो साधक इस द्वितीय पाद ओंकार ब्रह्म को इस प्रकार से जानता है, वह उन्नति को प्राप्त करता है। तृतीय मात्रा 'मः' पाद वाला ब्रह्म मिति अर्थात् मापने वाला तथा लय करने वाला सुषुप्तस्थान वाला ईश्वर होता है। जो साधक ऐसा जानता है, वह साधक सम्पूर्ण जगत् को अपनी ब्रह्मदृष्टि से माप लेता है अर्थात् उसकी ब्रह्मदृष्टि हो जाती है। चतुर्थ पाद अमात्रिक (विना मात्रा वाला) तुरीयस्थानी, मात्रा रहित, प्रपञ्च रहित शिव स्वरूप होता है। जो साधक ऐसा जानता और इसकी उपासना करता है, वह निर्विकार-निरञ्जन-निर्विशेष ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है। (माण्डूक्योपनि.)

यह आत्मा अपनी माया से स्वयं ही स्वात्मा की कल्पना करके अपनी आत्मा का सृजन करता है। इसलिए वही इस आत्मा की सत्ता को भी जानता है। यही वेदान्तदर्शन का विनिश्चय है। (गो.का. 2/12)

• • ❁ • •

**नासतो जन्मना योगः**
**सतः सत्त्वान्न चेष्यते।**
**कूटस्थे विक्रिया नास्ति,**
**तस्मादज्ञानतो जनिः।।** (बृ.भा.वा. 1/4/626)

अयं मेयः प्रमाताहं,
मानमेतदितीक्षणे।
मिथ्याज्ञाने जनस्तुष्टः,
स्वप्नमायेन्द्रजालवत्॥ (वृ.भा.वा. 648)

असज्जड़ से किसी का जन्म नहीं हो सकता है और सत् वस्तु में भी विकृति नहीं हो सकती है; क्योंकि उसके कूटस्थ होने के कारण उसमें विकार नहीं हो सकता। इसलिए जगज्जन्म अज्ञान से ही घटता है, जैसा कि भामतीकार ने कहा है—'जीवाज्ञानं जगद्बीजं बभाषे भामतीपतिः' जीव का अज्ञान ही जगत् का बीज है। (बृ.उ.भा.वा. 1/4/626)

यह प्रमेय है मैं प्रमाता हूँ ईक्षण में यही प्रमाण है। मिथ्या व्यवहारिक ज्ञान से लौकिकजन स्वाप्निकमायिक रचना से संतुष्ट होता है, जैसे इन्द्रजालिक (जादूगर) के मायाजाल से लोग उसे सत्य समझ कर सन्तुष्ट होता है। (व.उ.भा.वा. 1/4/648)

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात, विषयान्विषवयत् त्यज।
क्षमाऽऽर्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज॥ (अष्टा व.गीता)

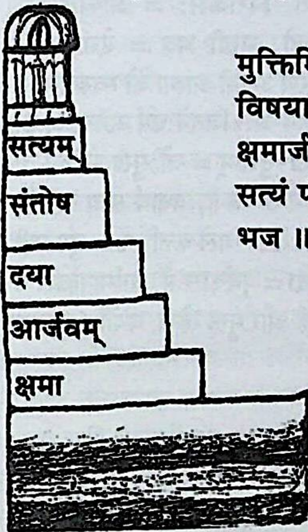
(हे तात! हे बुद्धिमान् मानवों! साधको! मुमुक्षो! यदि आप वास्तविक में मुक्ति (मोक्ष) की इच्छा रखते हों तो इन जगत् के विषयों को हालाहल विष जानों और उसे त्याग दो और क्षमा-आर्जव-दया तथा तोष जो अमृत परिणामी अर्थात् परिणाम में सुखदायी है; उसे पियूष (अमृत) समझ कर पान किया करो, अन्यथा मोक्ष सम्भव नहीं हो सकता। (अष्टावक्रगीता 1/2)

यस्येदं जन्म पाश्चात्यं, तस्य चैव महामते।
विशन्ति विमला विद्याः, मुक्तावेणुमिवोत्तमम्।।
आर्यता-हृद्यता मैत्री, सौम्यता मुक्तता ज्ञता। (योगवा.उ.)
नाभिवाञ्छाम्यसम्प्राप्तं, सम्प्राप्तान्न त्यजाम्यहम्।
स्वच्छ आत्मनि तिष्ठामि, यन्ममास्तु तदस्तु मे।। (यो.वा.उ.)

हे महामते! जिस साधक की साधना परिपूर्ण हो चुकी है अर्थात् जो परमात्म तत्त्व को सम्यग् जान लिया है, उसमें मुक्त वेणु (बाँस विशेष) में जिस तरह वायु आदि स्वतः प्रवेश कर जाता है अथवा उत्तम बाँस में स्थित जल प्रविष्ट हो मोती बन जाता है, उसी प्रकार उस साधक के स्वच्छ आत्मा में आर्यता-हृद्यता-मैत्री-सौम्यता-मुक्तता और ज्ञता आदि सद्‌गुण स्वतः प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे साधक प्रारब्धवश उपस्थित वस्तु को ही अपना समझ कर भोग करता है और जो वस्तु प्राप्त नहीं है, उसके लिये त्याग भाव रखता है। वे अपने स्वच्छ आत्मा में यही भाव रखता है कि जो मेरी वस्तु है, वही मेरी है और जो वस्तु मेरी नहीं है; वह मेरी नहीं है। इस प्रकार का ग्रहण-त्याग वृत्ति के द्वारा वह शरीरनिर्वाह मात्र करता है। (यो.वा.उ.)

**शरीरारम्भकं यत्तु, प्रारब्धं कर्म तन्मतम् ।**
**तद्भोगेनैव नष्टं स्यात् , न तु ज्ञानेन नश्यति।।**(शि.गी. १३/२८)

शरीर का आरम्भ प्रारब्ध ही है और उसके भोग किये बिना उसका नष्ट होना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह फलोन्मुख प्रारब्ध ब्रह्म विज्ञान होने पर भी नष्ट नहीं होता। यहाँ प्रारब्ध शब्द से फलोन्मुख प्रारब्ध ग्रहण किया गया है। (शिवगी. 13/28)




**मुक्तिमिच्छसि चेत्तात,**
**विषयान् विषवत् त्यज।**
**क्षमार्जवदयातोष-**
**सत्यं पीयूषवद्**
**भज ॥** (अष्टावक्रगीता)

**न पृथिवी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।**
**एषां साक्षिणमात्मानं, चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥**
**न त्वं विप्रादिको वर्णो, नाश्रमी नाक्षमोचरः ।**
**असङ्गोऽसि निराकारो, विश्वसाक्षी सुखी भव ।**

**धर्माधर्मौ सुखं दुःखं,**
**मानसानि न ते विभो !**



**न कर्तासि, न भोक्तासि, मुक्तमेवासि सर्वदा ॥**

**तात** = हे श्रेष्ठजन विद्वान् !, **मुक्तिम्** = मोक्ष को, **इच्छसि** = प्राप्त करना चाहते हो तो, **विषयान्** = इन्द्रियों के जो विषय–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादिकों को, **विषवत्** = विषतुल्य (मानकर) जानकर, **त्यज** = त्याग दो और, **क्षमा** = सहन करने की शक्ति, **आर्जवम्** = कुलीनता (उदारता), **दया** = दयावृत्ति, **सत्यम्** = यथार्थ अर्थात् असत् रहित, **सन्तोषम्** = एवं यथालाभ संतुष्टि को, **पीयूषवत्** = अमृत के तुल्य जानकर, **भज** = उसका सेवन करो अर्थात् आचरण करो। प्रतीक चित्र सोपान का तात्पर्य है कि जिसे यहाँ सेवन के लिए कहा गया है, ये पाँच सोपान ऐसे हैं, जिनका आश्रय लेकर परमात्ममिलन सम्भव है। (अष्टावक्रगीता)

**(हे राजन् त्वम्)** = हे राजा जनक ! तुम, **न त्वं पृथिवी** = तुम पृथिवी तत्त्व नहीं हो, **जलम्**= जल तत्त्व भी, **न** = नहीं हो, **न वायुः** = वायु भी नहीं हो, **न द्यौः** = और न ही आकाश तत्त्व ही हो, न

**वा भवान्** = इसी प्रकार तुम शरीर भी नहीं हो। **एषाम्** = इन, उपर्युक्त कहे गये पदार्थों के, **साक्षिणम्** = साक्षी, **आत्मानम्** = आत्मा को, **चिद्रूपम्** = चेतन मात्र रूप से, **विद्धि** = जानो, **मुक्तये** = इस तरह से सर्व प्रकार से आत्मरूप का चिन्तन मोक्ष को प्रदान करने वाला होता है। (हे जनक जी !) **त्वम्** = तुम, **विप्रादिकः** = ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण, **न** = नहीं हो, **न आश्रमी** = आश्रमविशेष (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) में रहने वाले नहीं हो, **न अक्षगोचरः** = अक्ष अर्थात् इन्द्रिय (नेत्र) से दिखाई देने वाला शरीररूप नहीं हो, **असंगः** = तुम संग रहित, **निराकारः** = आकाररहित, **विश्वसाक्षी**= सम्पूर्ण जगत् समूह वस्तु के द्रष्टा मात्र, **असि** = हो, **सुखी भव** = ऐसा अपने आत्मस्वरूप को जानकर सुखी हो जाओ; क्योंकि समस्त दुःख का कारण अपनी आत्मा को स्वरूप से न जानने के कारण ही है। (हे जनकजी !) **धर्माधर्मौ** = ये शरीरादि में रहने वाले जितने धर्म अथवा अधर्म हैं, अथवा शरीरादि से किये जाने वाले जितने कर्त्तव्याकर्त्तव्य हैं, **सुखं-दुखम्** = जो सुख स्वरूप वा दुःख स्वरूप से रहते हैं, **ते** = वे सभी, **मानसानि** = मन के संकल्प से उत्पन्न हैं, यथार्थ सत्य नहीं हैं। **विभो** = हे व्यापक स्वरूप वाले आत्मन् !, **न कर्त्ता** = किसी कार्य के करने वाले कर्त्ता, **न** = तुम नहीं हो, **न भोक्ता** = तुम किसी भी भोग्य पदार्थ के भोक्ता भी नहीं हो, **सर्वदा** = पूर्वकाल में, वर्तमानकाल में तथा आगामी भविष्यकाल में भी, मुक्त एव **असि** = मुक्त ही था, मुक्त है और मुक्त रहेगा; क्योंकि तुम्हारा वास्तविक स्वरूप ऐसा ही है।

⊛ ⊛ ✿ ⊛ ⊛

**न दृश्यदर्शनद्रष्टृ, रूपं तैलमिवोपले।**
**न कर्तृ-कर्म-करणं, दृशीन्दाविव कृष्णता।।**
**न मातृ-मेयमानानि, नभसीव नवाङ्कुर।**
**न चिच्चेतनचेत्यादि, नन्दने खदिरो यथा।।**
**नाहंत्व त्वंत्व तत्त्वादि, पर्वतत्त्वमिवाम्बरे।**
**सदेहत्त्वान्यदेहत्त्वे, शङ्खत्वमिव कज्जले।।**

(यो.वा.नि. ३४/४)

**नानानामाबचाप्यन्तररणाविव सुमेरवः ।**
**न शतदार्थशब्दश्रीः, महोषर लता यथा ।।**
**नेति-नेति चैवार्कमण्डले रजनी यथा ।**
**केवलं केवली भाव स्वच्छतैवावशिष्यते ।।**

(यो.वा.नि. ३४/४)

**दृश्यदर्शनद्रष्टृरूपम्** = दृश्य, दर्शन और द्रष्टा रूप से जो इस आत्मा में आरोप कर व्यवहार होता है, वह सत्, **न** = नहीं है, असत् ज्ञान ही है वह, **उपले** = क्योंकि पत्थर में, **तैलम् इव** = तैल जिस प्रकार प्रविष्ट नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा में दृश्य दर्शन और द्रष्टाभाव का समावेश सम्भव नहीं है।

**न कर्म** = परमात्मा में न कर्मभाव है, **न कर्तृ** = न कर्तृत्व भाव है, **न करणम्** = और न करण (कार्य के प्रति साधन) भाव ही सिद्ध हो सकता है, **दृशीन्दु** = वह आँख में तारा के, **इव** = समान, **कृष्णता** = कालिमा दर्शन मात्र है अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अन्धकार स्वरूपवाला न होने पर भी आँख के तारा में चक्षु इन्द्रिय का प्रयोग आरोप मात्र है, वास्तविक नहीं। आत्मा उपर्युक्त धर्मों से रहित है ऐसा जानना चाहिये।

**न मातृमेयमानानि** = उस परमात्मा को न तो किसी प्रमाण से मापा जा सकता और न ही उसके द्वारा किसी वस्तु को माप सकता, इसी प्रकार वह मेय-नापने योग्य प्रमाण स्वरूप वाला है ऐसा भी नहीं कह सकते एवं उसका मान इयत्ता (इतना) मात्र है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। उसमें किसी प्रकार की कल्पना करना, **नभसि** = आकाश में, **नवाङ्कुर इव** = नवीन अंकुर के समान ही है। **न चिच्चेतन न चेत्यादि** = इसमें न तो चित्त की कल्पना सम्भव है, न चेत्य जड़ प्रकृति जन्य अन्तःकरण की स्थिति बन सकती, न कोई और ही प्रकार से कल्पना हो सकती है। **नन्दने** = नन्दनवन में, **खदिरः** = खैर वृक्ष की, **यथा** = जिस प्रकार कल्पना करना असत् है, उसी प्रकार सभी कल्पनाओं से शून्य यह परमात्मा ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से कल्पनातीत है।

**नाहंत्व** = यहाँ ब्रह्म परमात्मा में न तो अहंकार अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार से कर्तृत्व नहीं है, अतः आत्मा (ब्रह्म) में निरहंकारत्व ही अन्ततः सिद्ध होता है। **न त्वंत्व** = यहाँ इस ब्रह्म में त्वम् (तुम) शब्दालम्बन भी नहीं बन सकता; क्योंकि यह अद्वितीय (अद्वैत) स्वरूप है। **तत्त्वादि** = न इसमें जल-अग्नि आदि तत्त्वरूपता कल्पन संभव है; क्योंकि उन भौतिक तत्त्वों से वह परमा परे है, **पर्वतत्त्वम्** = पर्वत-वृक्ष आदि वस्तुओं की, **अम्बरे** = आकाश में, **इव** = कल्पना के समान ब्रह्म में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कल्पित-असत् और मिथ्या रूप से कल्पित है, क्योंकि ये उनका स्वरूप नहीं है। वह ब्रह्म सभी प्रकार के विकारों, दोषों और आधाराधेय भावों से रहित शुद्ध चेतन स्वरूप निर्विकार है। **सदेहत्वान्यदेहत्वे** = क्योंकि सदेहत्व और परदेहत्व की परिकल्पना करना, **कज्जले** = कज्जल (कालिमा) में, **शङ्खत्वम् इव**= शंख के समान धवलता (स्वच्छ-सफेद) कहने जैसा सर्वथा मिथ्या-असत् ही है (योग वा.नि. ३१/४)

**यथा च** = और जिस प्रकार, **अप्सु** = जल में, **नानानाम्** = अनेक प्रकार के, **सुमेरवः** = सुमेरु पर्वत का, **अन्तरणौ इव** = प्रतिबिम्ब के उतर जाने से उस जल में पर्वत की उपस्थिति असत् ही है; **महोषरलता** = अत्यधिक ऊपर भूमि में लतादि कोमल प्रकृति के वनस्पति का, **यथा** = जिस प्रकार होना असम्भव होता है, **न शब्दार्थशब्दश्रीः** = उसी प्रकार उस ब्रह्म को जानने में शब्दार्थ और शब्द विलास का सामर्थ्य नहीं होता, क्योंकि वह शब्दार्थातीत और शब्दातीत वस्तु है। **यथा** = जिस प्रकार, **अर्कमण्डले** = सूर्यमण्डल में, **रजनी** = रात्रि अर्थात् अन्धकार का, **न च** = होना सम्भव नहीं हो सकता, उसी प्रकार सकल उपमा, उपमेय, दृष्टान्तादि से रहित, **केवलम्** = केवल, **केवलीभावस्वच्छता एव** = स्वच्छ केवलीभाव (अद्वैतभाव) ही, **अवशिष्यते** = वहाँ उस ब्रह्म में अवशेष रह जाता है। (यो.वा.नि.)

अविनाभावनिष्ठत्वं, प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ।
यत्सुखायतदेवाशु, वस्तु दुःखाय नाशतः।।
(यो.वा.नि. १२०)

चित्क्षेत्रे कलनाबीजं, यदेतत्पतितं स्फुरन् ।
चित्ताङ्कुरं तदेतस्मा भाविसंसारकण्डकम् ।
(यो.वा.नि. १२०)

**सुखदुःखयोः** = सुख और दुःख, **अविनाभावनिष्ठत्वम्** = एक के बाद एक के उदय होने वाले हैं, क्योंकि सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता, **दुःखाय**= दुःख को जन्म देता है। अतः सुख और दुःख वस्तु में अविनाभावनिष्ठ रूप से स्थित रहता है, और वह वासनाजनित असद् रूप है। (योग वा.नि. १२०)

**चित्क्षेत्रे** = अन्तःकरण में, **कल्पनाबीजम्** = वासना का बीज का स्थान होता, **यत्** = जो कलनाबीज, **एतत्** = यह वस्तु-यह वस्तु की, **स्फुरन्** = इच्छा से स्फुरित होता हुआ, **चित्ताङ्कुरम्** = चित्त में अंकुरित हो जाता है, **तदेतम्** = वही इस, **संसारकण्डकम्** = संसार को उत्पन्न करनेवाला है उसी संसारकन्द से, **आविः** = संसार की उत्पत्ति होती है । अतः चित्त में स्थित वासना ही जगत् के आविर्भाव का हेतु है ।

• • ✿ • •

सङ्कल्पो कलनोन्मुक्ते, स्वसविन्मात्रकोटरे।
यस्तिष्ठत्यात्मनि स्वैरमात्मारामो महेश्वरः।।
अन्तर्मुखतया नित्यं, कार्यमाहरतां बहिः।
जीवतामपि नोदेति; वासना दृषदामिव ।। (योग वा.नि. २९)
अन्तर्मुखतया नित्यं, कार्यमाहरतां बहिः।
इयं दृश्यमरभ्रान्ति, नन्वविद्येति चोच्यते।
वस्तुतो विद्यते नैषा, तापनद्यां यथा पयः।।

**यः** = जो साधक व्यक्ति, **सङ्कल्पः** = संकल्परूपी, **कलनोन्मुक्ते** = इच्छा से मुक्त हो गया है अर्थात् सम्पूर्ण चित्तवृत्ति बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में अक्षम हो गयी है और जिसके मात्र परमात्मतत्त्व ही ग्रहण करने का अभ्यास हो चुका है ऐसे पुरुष, **स्वसविन्मात्रकोटरे** = स्वविज्ञानरूपी हृदय गुफा रूप, **आत्मनि** = आत्मा में ही वह, **आत्मारामः** = आत्माराम, **महेश्वरः** = मैं सबों के ईश्वर परमात्मा हूँ, **स्वैरम्** = इस स्वच्छभाव से विचरण करता हुआ, **तिष्ठति** = अवस्थित होता है, **नित्यम्** = और वह नित्य, सदा **अन्तर्मुखतया** = सर्वदा अन्तर्मुख रहता हुआ, **बहिः** = बाहर (जगत् व्यवहार) के, **कार्यम्**= कार्य को, **आहरताम्** = ग्रहण करता हुआ है, **जीवतामपि** = उसके जीवित इस शरीर में ही, **दृषताम् इव** = पाषाण खण्ड में जिस तरह किसी बीज का उदय नहीं होता, उसी प्रकार, **वासना** =

वासना का उदय (जन्म) उसके हृदय में नहीं होता है। (योग वा.नि. २९)

**च** = और, **इयम्** = इस, **दृश्यमरभ्रान्तिः** = दृश्यजगत् में आत्मा की मरने की जो भ्रान्ति है, **ननु** = निश्चितरूप से, **अविद्या** = उसे ही अविद्या (अज्ञान) **उच्यते** = कहा गया है, क्योंकि आत्मा सदा अजर-अमर ही है। **एषा** = इस आत्मा की मृत्यु का व्यवहार, **मृषा** = मिथ्या (असत्), **विद्यते** = है। **तापनद्याम्** = क्योंकि मरुप्रदेश में स्थित नदी में, **यथा** = जिस प्रकार, **पयः** = जल के अस्तित्व की कल्पना मिथ्या कल्पना होती है, वैसे ही इस आत्मा के सम्बन्ध में मृत्यु की बुद्धि असत् ही है।

● ● ✿ ● ●

**अशरीरो महानात्मा, सुखदुःखैर्न लिप्यते ।**
**र्न लिप्यते ।**
**क्लेशमुक्तः प्रसन्नात्मा, मुक्त इत्युच्यते बुधैः ।।**
**७ निरङ्कुशातृप्तिः—कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तम् ।**
**६ शोकमोक्षः—नित्यमुक्तत्वभानम् ।**
**५ अपरोक्षं ज्ञानम्—अहं (सप्तावस्था चिदाभासस्थः) ब्रह्मास्मि ।**
**४ परोक्षं ज्ञानम्—ब्रह्मास्ति ।**
**३ विक्षेपः—कर्तृत्वादिः ।**
**२ आवरणम्—न भाति ।**
**१ अज्ञानम्—न जानाति ।**

(पञ्चदशी तृ.प्र. ७/३३)

यह आत्मा सांसारिक (वैषयिक) सुख-दुःख से लिप्त (व्याप्त) नहीं होता, क्योंकि यह अशरीरी है अत: महान् है । जो साधक-योगी-भक्त-उपासक स्वात्मा को ऐसा जानता है, वह सकल क्लेश से मुक्त प्रसन्नात्मा (सदा ब्रह्मानन्द में लीन) रहता है और ऐसे उपासना से लक्ष्य को प्राप्त साधक को बुधजन (विद्वान् लोग) मुक्त पुरुष कहते हैं ।

यहाँ जीवात्मा की सात अवस्थाएँ कही गई हैं । प्राथमिक अवस्था अज्ञानमय है । इसलिए वह "न जानाति" स्वात्मा को नहीं जानता है । वह अज्ञानवश आत्मा और शरीरादि के अन्योन्याध्यास के फलस्वरूप शरीरादि में ही स्वात्मा का अनुभव करता है । यह अज्ञानावस्था जीवात्मा की प्रथमावस्था है । कहा भी है—

**अधिष्ठानांशसंयुक्तं, भ्रमौ शमवलम्बते ।**
**यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ।।** (पञ्च.तृ.प्र. ७/७)

जीवात्मा की द्वितीयावस्था आवरणावस्था है—इस अवस्था में यह स्थिति होती है कि—जिस प्रकार एक साथ दश व्यक्तियों के नदी के उस पार जाने पर गिनती में दश व्यक्तियों के रहते हुए भी गणक (गिनती करनेवाला) स्वयं को विस्मरणवश गिनती में न शामिल करने के कारण नव

संख्या ही गिनता है और एक का नदी में विनष्ट हो जाने की शंका से शोक-दुःख प्राप्त करता है; क्योंकि उसे "न भाति" दशम अपने का भान (ज्ञान) नहीं रहता। कहा है कि—

**न भाति नास्ति दशम, इति स्वं दशमं तदा।**
**मत्वा व्यक्ति तदज्ञानं, कृतमावरणं विदुः।।** (पञ्च.तृ.प्र. ७/२४)

इसी प्रकार तृतीयावस्था को विक्षेपावस्था कहते हैं। इस अवस्था में—

**न भाति नास्ति कूटस्थ, इति वक्ति प्रसङ्गतः।**
**कर्ता भोक्ताहमस्मीति, विक्षेपं प्रतिपद्यते।।** (पञ्च.तृ.प्र. ७/३०)

वह जीवात्मा इस प्रकार अज्ञानजनित कार्यकारणभावापन्न होकर कूटस्थ असङ्ग आत्मा के असत्त्व के मानाभाव अभिधानवत् कर्तृत्व को आत्मा में आरोपित करता है। जो इस आरोप के हेतुभूत देहद्वययुत चिदाभास मात्र होने से विक्षेप कहलाता है। इसलिए आत्मा में कर्तृत्वादि का आरोप कर शरीरादि प्रयुक्त अहंकृति के परिणामतः 'अहं कर्ता" मैं कर्ता हूँ ऐसा भ्रान्तज्ञानवश अपने को स्वीकारता है। जीवात्मा की चौथी अवस्था परोक्षज्ञानावस्था है। इसमें "अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया" अन्य द्वारा अथवा शास्त्र द्वारा बोधित होकर वह कूटस्थ-असङ्ग आत्मा के सम्बन्ध में "ब्रह्मास्ति" ब्रह्म है ऐसा जानता है। यही परोक्षज्ञानावस्था नामक चतुर्थ अवस्था है।

जीवात्मा की पाँचवीं अवस्था अपरोक्षज्ञानावस्था है। इसमें श्रवणादि (श्रवण-मनन-निदिध्यासन-ध्यान-धारणा-समाधि) प्रयत्न के परिपाकवशात् "कूटस्थोऽहं" इस प्रकार से सर्वसंसर्गरहित प्रसिद्ध आत्मा का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) बोध होता है—

**अस्ति कूटस्थ इत्यादौ, परोक्षं वेत्ति वार्तया।**
**पश्चात्कूटस्थ एवास्मीति, एवं वेत्ति विचारतः।।** (पञ्च.तृ.प्र. ७/३१)

जीवात्मा के षष्ठावस्था में—"कर्ता भोक्तेत्येवमादिशोकजातं प्रमुञ्चति" (पञ्चदशी तृ.प्र. ७/३२) कूटस्थ आत्मा के असङ्गस्वरूप के बोधानन्तर कर्तृत्वादिजनित शोकजात समस्त कर्म में असङ्गत्वानुभव पूर्वक अहंकार को वह साधक त्याग देता है और इस त्याग से ही सम्पूर्ण शोक से मुक्ति मिलेगी, ऐसा जानता है।

सप्तमावस्था निरङ्कुशातृप्ति अवस्था है। इस अवस्था में प्रापणीय औपनिषदिक निरञ्जन आत्मस्वरूप को प्राप्तकर साधक कृत्य-कृत्य हो जाता है।

(पञ्चदशी तृ.प्र. ७/३३)

• • ✿ • •

**(१) आत्मा ब्रह्म, सद् चिद् आनन्दरूपत्वात्, अविक्रया सङ्गपूर्णत्वात्, विपरीते बुद्ध्यादिवात्। (२) जीवेश्वरयोः भेदोऽसत्यः, सोपाधिकत्वात्, घटाकाशमहाकाशवत्। (३) जीवोपाधिर्मिथ्या, मायाकार्यत्वात्, स्वप्नार्थवत्। (४) आत्मनः संसारो मिथा। अविद्याऽध्यारोपितत्वात्, जरादिवत्।**



**(५) संसारो नात्मधर्मः, ज्ञेयत्वाद् रूपवत्।**

**(६) ब्रह्माद्वितीयं, अनन्तत्वात्, सर्वात्मकत्वात्,**
**वस्त्वन्तरशून्यत्वात्, सुषुप्तवत् ।**
**सत्ताऽधिष्ठानचिद्व्योम,** (शङ्करानन्दी टीका)
**स सत्योऽसत्यसाक्षित्वात्, सक्षित्वाच्चित् सुखं तथा ।**
**प्रेमास्पदत्वादद्वैतो, भेदाभावात्सुरर्षभाः? ।।** (सूतसंहिता)

आत्मा ही 'ब्रह्म' है; क्योंकि उसका स्वरूप सत्-चित् आनन्द स्वरूप है और उसमें कोई भी विकार और उससे किसी का संग सिद्ध नहीं होने के कारण से यह कथन कि आत्मा ही ब्रह्म है सर्वसिद्धसिद्धान्त है । श्रुति भी कहती है "अयमात्मा स्वयं ब्रह्म । सत् का अर्थ है" त्रिकालाबाध्य अस्तित्व अर्थात् जो भूत-वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में वर्तमान रहे और जिसका कभी अभाव (विनाश) न हो । आनन्द का अर्थ—जो निरतिशय-आत्यन्तिक सुख हो और जो सम्पूर्ण विषयों के सुख से अतिशायी हो एवं निरवच्छिन्न तथा विनाशरहित हो । चित् का अर्थ-ज्ञान है । श्रुति कहती है—आनन्दं ब्रह्म विजानीयात्"·"सच्चिदानन्दं ब्रह्म" अयमात्मापहतपाप्मा" इत्यादि ।

जिनकी बुद्धि अज्ञानान्धकार से आवृत्त है, वे लोग जीव और ईश्वर में भेद ग्रहण करते हैं, अतः वह असत् (मिथ्या) ज्ञान है । उनका कहना है कि ईश्वर और जीव में जो परस्पर शुद्धसत्त्वप्रधानत्व और मलिन सत्त्वप्रधानत्व पृथक्-पृथक् उपाधियाँ हैं, इससे जीव और ईश्वर में भेद मानना चाहिये । परन्तु ऐसा कहना कल्पित है–असत् है । अद्वैतवादियों का पक्ष है कि उपाधि के भेद से मूल वस्तु में भेद सम्भव नहीं होता है; जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद नहीं है, वह वाचालम्बन मात्र है । क्योंकि घटगत आकाश तत्त्व और महाकाशगत आकाशतत्त्व में अभेद दर्शन से जीव ईश्वर का अभेद निर्णीत और सिद्ध होता है । क्योंकि उपाधि माया का कार्य है और मायाकार्य स्वप्न में दृष्ट दृश्य के समान एकान्ततः मिथ्या ही है । आत्मा अक्रिय (विकाररहित) है और माया सक्रिय (सविकारी) है, अतः संसार माया का कार्य है आत्मा का नहीं है । आत्मा के सर्वाधिष्ठान होने के कारण मायाकृत संसार, ब्रह्म (आत्मा) में अध्यारोपित (कल्पित) है, जैसे आत्मा में मैं बालक हूँ, युवा हूँ, वृद्ध हो गया हूँ, ऐसा उपचरित व्यवहार होता है । जबकि बालत्व-वृद्धत्व विकारी शरीर का धर्म है ।

संसार आत्मा का धर्म नहीं है, क्योंकि यह रूपदर्शन के समान ज्ञेय वस्तु है । ब्रह्म तो अद्वितीय है। ब्रह्म का अनन्तत्व, सर्वात्मकत्व; वस्त्वन्तर (अन्यवस्तु) से शून्यत्व स्वभाव होने के कारण उस ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही सुनिश्चित होता है । यथा—सुषुप्तावस्था में कोई अन्य वस्तु नहीं होता । श्रुति भी कहती है—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" वह ब्रह्म एक होने से अद्वितीय है । वह ब्रह्म चिद् (चेतन) स्वभाववाला होने के कारण सर्वाधिष्ठानक व्योम (आकाश) के समान है । (शङ्करानन्दी टीका)

वह ब्रह्म सत् एवं असत् उभय वस्तु का साक्षी है । वह चित् स्वरूप होने के कारण सुख-दुःखादि का भी साक्षी है । हे सुरर्षभगण (देवगण) ! वह आत्मा परमप्रेमास्पद अद्वैत स्वरूप है । (सूतसंहिता)



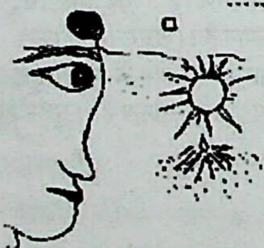
**ब्रह्मानन्दः रसः,**
**अहङ्कारः—अभिमानः,**
**रतिः—मनोऽनुकूलेऽनुभवः सुखस्य ।** (अग्नि पु. ३३९)

वेद–उपनिषदादि ग्रन्थों में जिस अक्षर, सनातन, व्यापक अजन्मा परब्रह्म परमेश्वर को "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म", "सच्चिदानन्दं ब्रह्म", "ज्योतिर्मयोऽयं पुरुषः" कहा है अर्थात् वह परमात्मा "अखण्ड, अद्वितीय, चेतनस्वरूप ज्योतिर्मय पुरुष है" ऐसा कहा है, वही सहज आनन्दभूत स्वरूप कभी-कभी व्यञ्जित होता है। उस आनन्द की अभिव्यक्ति का ही नाम चैतन्य, चमत्कार और रस है। आनन्द का प्रथम विकार अहंकार, अहंकार का विकारअभिमान और अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। सुख के मनोऽनुकूल अनुभव अर्थात् आनन्द की मनोरम अनुभूति को रति कहा जाता है। (अग्नि पुराण ३३९)

**ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहङ्कृतिं विना।**
**सम्प्रज्ञातसमाधिः स्यात्, ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ।।**
**एकान्तवासो लघुभोजनानि, मौनं निराशा करणावरोधः**
**मुनेरसौ संयमनं चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम् ।।**

जहाँ पर (जिस साधनाकाल में) वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता इन चारों भाव अनुगत होकर जब समाधि की स्थिति में होती है, तो वही सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। इसे और सुस्पष्ट किया जाता है—विक्षिप्त चित्त में उत्पन्न जो समाधि होती है, उसमें विक्षिप्त संस्कार प्रतिष्ठित होते हैं, इस कारण से वह समाधि अप्रधानीभूत होती है। अतः वह विक्षिप्त चित्तभूमिक समाधि के उपादेय नहीं होते। किन्तु जो समाधि एकाग्रचित्तभूमिक चित्त में समुद्भूत होकर सत्स्वरूप अर्थ को प्रकर्षेण प्रकट करती है, वह अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशों को क्षीण करती है, कर्मबन्ध अथवा पूर्व संस्कार पाश को शिथिल करती है और निरोधावस्था को उपस्थित करती है।

**यावत्पिण्डो गुडस्य स्फुरति मधुरिमैवास्ति सर्वोऽपि तावान्,**
**तावत्कर्पूरपिण्डः परिणमति सदामोद एवात्र तावान्।**
**विश्वं यावद्विभाति द्रुमनगरारामचैत्याभिरामम्,**
**तावच्चैतन्यमेकं प्रविकसति ततोऽन्ते तदात्मावशेषम् ।।** (शतश्लो. ६२)



**प्रमेयादित्रयं सार्धं,**
**भानुनाघटकुड्यवत्।**
**येन भाति स एवाहं,**
**प्रमेयादि विलक्षणः ।।** (अद्वैतानु.)

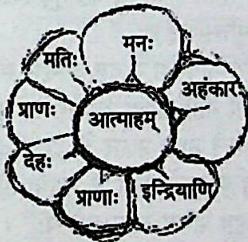
गुड़ के यावत् पिण्ड है तावत् मधुरिमारूप ही है, यावत् कर्पूर पिण्ड होता है तावत् वह आमोद को उत्पन्न करता है। यावत् विश्ववृक्ष, नगर, आराम (बगीचा) चैत्य (चबूतरा) रूप में अभिरामता दिखाई दे रहा है, तावत् एक अद्वितीय चैतन्यमात्र का प्रकाश है; क्योंकि अन्त में जो शेष बच जाय, वही अवशिष्ट आत्मा है, जो चैतन्यस्वरूप है। (शतश्लोक ६३)

जिस प्रकार प्रमेयादित्रय के साथ-साथ सूर्य के द्वारा घट कुड्यवत् प्रतीत होता है, अर्थात् प्रमेय घटवस्तु का प्रकाशक सूर्य जिस प्रकार है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् ज़िससे प्रकाशित होता है, वह प्रमेयादि से विलक्षण आत्मा मैं हूँ। (अद्वैतानु.)

यावत्सौख्यं एतान्ते निमिषमिहमनस्यैकताने रसे स्यात्,
स्थैर्यं यावत्सुषुप्तौ सुखमनतिशयं तावदेवाथ मुक्तौ।
नित्यानन्दः प्रशान्ते हृदि तदिह सुखस्थैर्ययोः साहचर्यं,
नित्यानन्दस्य मात्रा विषयसुखमिदं युज्यते तेन वक्तुम्॥

(शतश्लोकी-७४)

उत्तमादीनि पुष्पाणि वर्तन्ते सूत्रके यथा।
उत्तमाद्यास्तथा देहा वर्तन्ते मयि सर्वदा॥
यथा न स्पृशेत्सूत्रं पुष्पाणामुत्तमादिता।
तथानैकं सर्वगं मां देहानामुत्तमादिता॥ (अद्वैतानुभूति)




देहेन्द्रियप्राणमनो
बुद्ध्यज्ञानानि भासयन्।
अहङ्कारं तथा भामि,
चैतेषामभिमानिनम्। (अद्वैतानुभू. ३८)

इस जागतिक यावत्सुख में जब तक मन की एकतानता है, तब तक निमिष मात्र का रस (आनन्द) प्राप्त होता है। सुषुप्तिकाल में जब तक स्थैर्य होता है, सुख तभी तक प्राप्त होता है। मुक्ति में अतिशय आनन्द तावत् होता है यावत् मुक्ति की स्थिति होती है। परन्तु हृदय के प्रशान्त होने पर सुख और स्थैर्य का नित्यानन्द नित्य रूप से प्राप्त होता है। उस नित्यानन्द की मात्रा असीम है। विषय सुख का तो जब तक उससे सम्बन्ध है, तभी तक होता है। इसलिए उस सुख को क्षणिक सुख ही कह सकते हैं। (शतश्लोकी–७४)

जिस तरह अनेक प्रकार के फूलों को चुनकर उसे सुन्दर सूत्र (धागे) में पिरोकर मनोरम माला तैयार किया जाता है, उसी प्रकार मेरा यह देह उत्तम अङ्गों से सर्वदा निर्मित होता है। माला की उत्तमता

को उसके अन्तःप्रविष्ट सूत्र यथा स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार अनेक सुन्दर अङ्गों से निर्मित यह सुन्दर देह सर्वव्यापी मुझ आत्मा को कदापि स्पर्श नहीं करता है। यह आत्मा निर्लिप्त-निरञ्जन-अनवयव-सर्वग और निष्पाप एवं अनवद्य है और असंग है। (अद्वैतानुभूतिः ३०-३१)

देह, इन्द्रियों का संघात (समूह), प्राण, मन, बुद्धि तथा अज्ञान से भासमान होता हुआ जो अहंकार है को ही जीवात्मा अहं का आलम्बन जानता है। जबकि यथार्थ में ऐसा नहीं है। अहं का आलम्बन मात्र आत्मा ही हो सकता है; क्योंकि सर्वाश्रयत्व आत्मा में ही है।



देहत्रयमिदं नित्यमात्मत्वेनाभिमन्यते।
यावत्तावदयं मूढो नाना योनिषु जायते ।। (अद्वैतानुभूतिः–४३)

निद्रादेहजदुःखादि-
र्जाग्रद्देहं न संस्पृशेत्।
जाग्रद्देहजदुःखादिः
तथात्मानं न संस्पृशेत् ।।(अद्वैतानु. ४४)

देह तीन प्रकार के हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह। इन तीनों देहों में जीवात्मा आत्मा का उपचार (प्रयोग) करता है और यावत् उन शरीरों में आत्माभिमानी बना रहता है तावत् वह मूढ़ होता है और नाना योनियों में उत्पन्न होते रहता है तथा मरते रहता है। (अद्वैतानुभूति–४३)

निद्रा अवस्था में स्थित जीवात्मा को जो दुःख होता है अर्थात् स्वप्नावस्था में दृष्ट अनिष्ठ स्वप्न से उत्पन्न भयरूप जो दुःख होता है, वह दुःख जाग्रत् अवस्था में स्पर्श नहीं करता अर्थात् वह दुःख जागने पर मिथ्या प्रतीत होता है। उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में होनेवाले नाना प्रकार के देहज दुःख आत्मा का स्पर्श नहीं करता; क्योंकि यह आत्मा व्यापक है और वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर तदाकारता को प्राप्त होता है। श्रुति इसी बात को कहती है—"स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः"। वह आत्मा (ब्रह्म) इस शरीर की रचना अनन्तर नख-शिख पर्यन्त उसमें प्रविष्ट हो गया। इसलिए सुख-दुःखादि प्रकृति के विकारभूत शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं ऐसा जानना चाहिये। श्रुति आत्मा के सम्बन्ध में कहती है "स आनन्दमयः पुरुषः" वह आत्मा आनन्दमय पुरुष है। (अद्वैतानुभूति–४४)

विराडादि त्रयं भाति यस्मिन् साक्षिणि सत्यवत्।
स एव सच्चिनन्दलक्षणोऽहं स्वयंप्रभः ।।
गुणवृत्तित्रयं भाति परस्परविलक्षणम्।
सत्यात्मनि शिवे यस्मिन् स एवाहं निरंशकः ।। (अ.अ.–८०)

**अज्ञानिनो भवति दुःखमनेन क्लृप्तं,**
**सर्वेश्वरस्य न खलु प्रतिभासतोऽपि ।**
**सर्वज्ञतादिगुणजातममुष्य नास्य,**
**संसारिणः स्फुरति समन्वितस्य ।।** (संक्षेप शा. २/१७३)

**अज्ञानिनःनित्यमुक्तनिरतिशयानन्दस्वरूपस्फुरणशून्यस्य जीवस्य।** (मधुसू.टी.)

**अपांनाथे यथा तोयं वीचिरूपेण नृत्यति ।**
**चिति सिन्धौ तथा ब्रह्म जीवरूपेण नृत्यति ।।** (पूर्णज्योतिः)

परमार्थ बुद्धि से जिस साक्षी ब्रह्म में विराड्, हिरण्यगर्भ, वैश्वानर आदि अनेक नामरूप परिकल्पित कर सत्यरूप से व्यवहृत किये जाते हैं, सर्वसाक्षी सर्वप्रकाशक और स्वयं प्रकाशरूप सद्ब्रह्म वह मैं हूँ। जिस सत्यात्मा शिवस्वरूप ब्रह्म में गुणों (सत्त्व-रज-तम) की तीन वृत्तियाँ परस्पर में विलक्षण रूप से शोभा पाती है, वही अखण्ड ब्रह्म स्वरूप मैं हूँ। (अद्वैतानुभूति–८०)

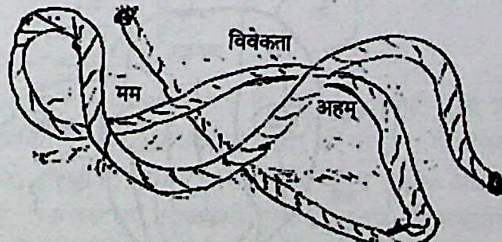
अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीवात्मा उसके सुख-दुःख से प्रभावित होकर मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा अनुभव करते हैं, परन्तु सर्वेश्वर प्रतिभासित (प्रतिबिम्बित) होते हुए भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं करते हैं। इसमें कारण यह है कि जीव का अन्तःकरण अविद्यात्मक है और जीव अविद्या के वशीभूत होता है, परन्तु सर्वज्ञादि गुणसम्पन्न ईश्वर उस अविद्या को अपने वश (अधीन) में किये हुए हैं। इसलिए संसारी जीव जगद्वस्तु से सम्बन्ध होते ही सुख-दुःख के स्फुरण से प्रभावित होते हैं। (संक्षेप शारीरिक २/१७३)

ऐसा इसलिए होता है कि वह अज्ञानी जीवात्मा नित्यमुक्त स्वभाव, निरतिशयानन्द जो उसका स्वस्वरूप है उसके स्फुरण से रहित होते हैं इसलिये जीव का वैसा स्वभाव होता है। (मधुसूदनी टीका)

अधिपति वरुण जलनिधि (समुद्र) में जिस तरह जल के तरङ्ग के रूप में नृत्य करते हैं, उसी प्रकार चित्समुद्र में ब्रह्म जीवरूप से नर्तन करते हैं। (पूर्णज्योति)

• • ✿ • •

**यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत् ।**




**छित्त्वा मायामयं पाशं, वनं गच्छति संयमी ।**
**सर्वं तस्य विनिःक्षिप्य, देहं गेहं परात्मनि ।।**(पूर्णज्योति)

जिस दिन सत्त्व गुण का उदय हो जाय और यह विवेक उत्पन्न हो जाय कि—इस जगत् का सम्बन्ध बन्धन है और यह आत्मा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है, उसी दिन उसी वक्त मानव को संन्यस्त हो जाना चाहिये । संसार के वस्तुओं में 'अहम्' और 'मम' का व्यवहारबुद्धि ही बन्ध-पाश है, जो बन्धरहित आत्मा को बाध कर जकड़ देता है और जीवात्मा मानव 'अहं-मम' के परिणाम स्वरूप कर्ता-भोक्ता आदि रूप से बँध कर उसके फलाफल का भागी बनता है । इसलिए वाराहोपनिषद् में कहा है—

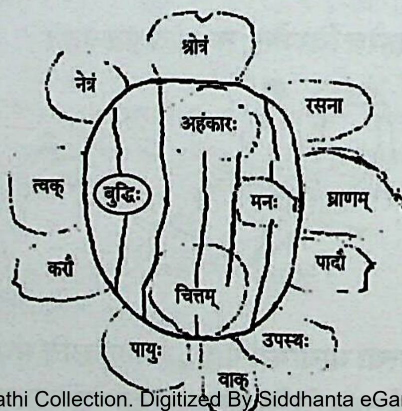
**द्वे पदे बन्धमोक्षाय, निर्ममेति ममेति च ।**
**ममेति बध्यते जन्तु र्निर्ममेति विमुच्यते ।।** (वाराहोपनिषद अ. २)

मम और निर्मम ये—दो ही पद हैं, जिसमें एक तो बाँधता है और दूसरा बन्धन काटता है । वस्तुओं में 'मम' बुद्धि जीवात्मा को बाँधता है, इसलिए पाश को काटने के लिये ब्रह्मविद्या–गुरु और श्रुति वाक्यों में समादर भावना की आवश्यकता होती है । ये जगत् के स्वरूप का निर्णय करने लिये तत्पर रहते हैं । जगत् क्या है ? कहते हैं—

**अस्ति भाति प्रियं रूपं, नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।**
**आदित्रयं ब्रह्म रूपं, जगद्रूपं ततो द्वयम् ।।**

अस्ति (सत्ता), भाति (प्रतीति), प्रिय (आत्मीयता) ये तीन ब्रह्म के रूप है और शेष–नाम और रूप जगत् के रूप हैं । जो जगत् के रूप हैं; वे मायिक हैं । अतः मायामय पाश को काट कर योगी लोग तप करने और आत्म साक्षात्कार के लिये वन की ओर प्रस्थान करते हैं । वह संसार के देह-गेह आदि सारी वस्तुओं को असत् जानकर त्याग देते हैं और त्याग कर परात्मा ब्रह्म चिन्तन में निमग्न हो जाते हैं। प्रतीक चित्र में पाश और उसमें उलझन को दर्शाया गया है । जिसे काटना-छेदना और खोलना कठिन है । इस अभिप्राय को कहने के लिये ही चित्र में पाश को दर्शाना आवश्यक था । इसलिए मानव-जीवात्मा को जब भी सांसारिक प्रपञ्च की मिथ्या प्रतीति हो जाय, उसी दिन इस देह-गेह को परात्मा में निक्षिप्त कर और गृहस्थाश्रम त्याग करके संन्यस्त हो जाना चाहिये । (पूर्णज्योतिः)

**जीवो भवेत्करणपूगवशीकृताचित् ।।** (सं.शा. २)



प्रतीक चित्र के माध्यम से कहा गया है कि—जीवात्मा करणों (ज्ञानेन्द्रियादिकों) से परिपूर्ण-परिपुष्ट देह संघात है । वे इन्द्रियाँ कौन-कौन सी हैं, जिससे परिपूरित होकर शरीर संघात (समूह) में अहं (आत्मा) का आलम्बन होता है ? कहते हैं—जीव पञ्चज्ञानेन्द्रि (नेत्र, श्रोत्र, जिह्वा, त्वचा और घ्राण) पञ्चकर्मेन्द्रिय (दोनों हाथ, दोनों पैर, पायु, उपस्थ और वाणी), अन्तःकरणचतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के संघात (समूह) रूप शरीर में स्वात्म निरूपित होकर जीवत्व को प्राप्त है । जीव का ज्ञान ससीम होने के कारण ससीम शरीर को अहंकाराश्रय मानता है और अपने शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उस आत्मा को नहीं जानता । इसलिये जीवत्वभाव को प्राप्त होता हुआ जनन-मरण के अनन्तचक्र में भ्रमते रहता है । (सं.शा. २)

• • ✿ • •

तव गाढमूढतमसा रचितं, जगदीश जीव वपुषा सकलम् ।
प्रतिभाति तावददृढं दृढवत्, समुदेति यावदबोधरविः ॥
न मुनिः प्रपश्यति किमप्यसुखम्, सकलं जिघत्सति जगत्स्वचिता ।
तत्र चित्तमात्मतमसा जनितं, परिकल्पयत्यखिलमेव जगत् ॥
न चित्तदृश्यमपि सत्यमिति, रसनाभुजङ्गसदृशं सकलम् ।
जगदिन्द्रजालमिति सिद्धमतः ॥ (सं.शा./२)

पिब
वत्स
कला-
ऽतीतम्




अद्वैतं
परमा-
ऽमृतम्
(अवधूतगीता १/४८)

भेदवादियों के लिये यहाँ सक्षेपशारीरककार कहते हैं—ओ मूढ़ तुम्हारी बुद्धि प्रगाढ़ अन्धकार (अज्ञान) से रचित है अर्थात् निर्मित है, इसलिए जगदीश (ब्रह्म) को जीवरूप में अलग-अलग शरीर (वस्तु) के रूप से मानते हो । जो क्षणिक है, उसे भी शाश्वत समझते हो । जबतक अज्ञान रवि का उदय तुम्हारे अन्तःकरण में उदित है, तब-तक तुम दृढ़भाव से उसी अनेकवाद को समझोंगे । परन्तु जब ज्ञानरवि का उदय होगा तो सम्पूर्ण अज्ञानमेघ को उच्छेद करने वाले अद्वैत ब्रह्म वहाँ उपस्थित हो जायेगा। और सकल संशय का उच्छेद हो जायेगा । मुनि-महात्मा-योगीजन सांसारिक किसी भी सुख को सुख नहीं मानते । वे लोग सम्पूर्ण जगत् वस्तु को अपने मन की कल्पनामात्र से उत्पन्न है, ऐसा देखता और

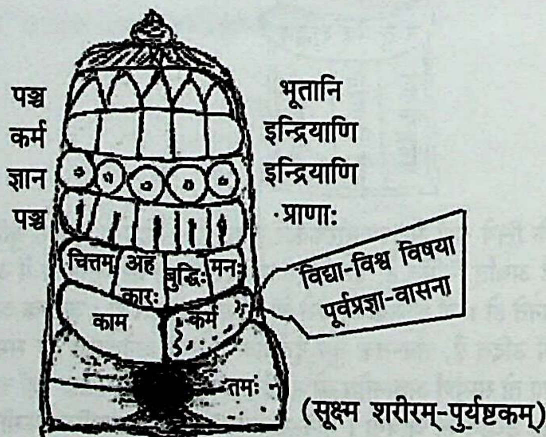
मानता है। वे तो सम्पूर्ण सृष्टि के वस्तु को परमात्मा का स्वरूप ही जानता है। वे अपने चित्तगत दृश्य को असत् स्वीकार कर सकल भौतिक मोहक वस्तुओं को रसनाभुजङ्ग (मृत्यु को उत्पन्न करनेवाला) तथा इन्द्रजाल के वस्तु के समान दृष्ट वस्तु को मिथ्या मानता है। (सं.शा./२)

उस परमात्म तत्त्व को जानने के लिये अवधूत स्वरूप ईश्वर कहते हैं—हे वत्स वह परमात्मस्वरूप आत्मा स्वयं से स्वतत्त्व में अवस्थित है, शुद्ध (अपापरूप) स्वरूपवाला है, अत: उस कलातीत–अद्वैत-परमामृत का पान करो। उस परमामृत के पान का क्या उपाय है ? कहते हैं—उस अमृत स्वरूप (ब्रह्म) का पान–षडङ्गयोग के अभ्यास से, मन के विनाश करने पर और गुरु के उपदेश का श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि करने पर ही होगा। उस अमृत के पान से स्वयं शुद्ध (सकलपाप रहित) हो जाओगे। अन्यथा शुद्ध होने का कोई उपाय नहीं है और ऐसा नहीं करने पर सदा अशुद्ध (पापसहित) जीवन रह जायेगा। (अवधूत गीता १/४८)

विद्या चार प्रकार की हैं—(१) शास्त्र विहिता (सम्मत) उपासनादिरूपा, (२) निषिद्धसमा-वीभत्सित शवादि विषया, (३) निषिद्धा–असच्छास्त्र विषया और (४) विहित समा-गंगादि दर्शनरूपा। इन विधाओं के चारों स्वरूपों को जानना चाहिये, अन्यथा धर्मपरायण जीवन की धारा बाधित होगी अर्थात् जो अविहित है भ्रान्तिवश उसे विहित व्यवहार का समझ जाना स्वाभाविक है। प्रतीक चित्र के माध्यम से पाठक विशेष चिन्तन कर सकते हैं।

जिस प्रकार विद्या के चार स्वरूप ऊपर कहे गये हैं; उसी प्रकार कर्म के भी चार स्वरूप हैं—(१) विहित–यागादिक कर्म, (२) अविहित–आहारादि रूप, (३) प्रतिषिद्ध–वधादिक कर्म और (४) अप्रतिषिद्ध–विहारादिक कर्म। कर्म को सम्यक् प्रकार से जानना जीवन के लिए उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार विद्या को जानना आवश्यक है। प्रतीक चित्र द्वारा इसी बातों को कहा गया है।

• • ❀ • •



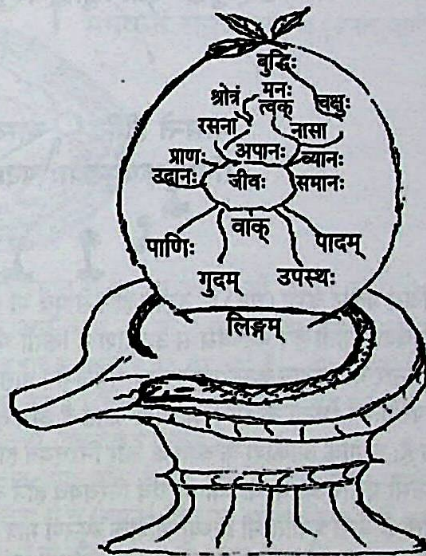
(सूक्ष्म शरीरम्-पुर्यष्टकम्)

कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि,
बुद्धीन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च।
प्राणादि पञ्चकमथो वियदादिकं च,
कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः ॥
(सं.शा. ३/१६)

अब पुर्यष्टक के सम्बन्ध में कहते हैं—(१) आकाशादि पञ्चभूत, (२) वागादि पञ्चकर्मेन्द्रिय, (३) श्रवणादि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, (४) प्राणादि पञ्चप्राण, (५) बुद्धि आदि अन्तःकरणचतुष्टय, (६) काम, (७) कर्म और (८) तम (अविद्या), इन आठ सामग्रियों से पुर्यष्टक निर्मित है। इसी को सूक्ष्मशरीर भी कहते हैं। पञ्चवशीकार ने कहा है—

• • ❁ • •

इह तावदक्ष दशकं
मनसा, सह बुद्धिः
सत्त्वमथ वायुगणः।
इति लिङ्गमेतद-
मुना पुरुषः,
खलु सङ्गतो
भवति जीव इति ॥
(सं.शा. ३/२०)




---

इस शरीर में अक्ष अर्थात् पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय इन दशों के साथ मन, बुद्धि और पञ्च प्राण इन सत्रह तत्त्वों से बना यह लिङ्ग शरीर है। इस लिङ्गशरीर की सङ्गति से पुरुष (आत्मा) जीव संज्ञक कहलाता है। इस विषय को पूर्णतया समझने के लिये प्रतीक चित्र बने हैं, जिसके सम्यक् अवलोकन से कोई भ्रान्ति नहीं रह जाती है। (सं.शा. ३/२०)

• • ❁ • •



प्राक्पश्चादस्ति कुम्भाद् गगनमिदमिति प्रत्यये सत्यपीदं,
कुम्भोत्पत्तावुदेति प्रलयमुपगते नश्यतीत्यन्यदेशम् ।
नीते कुम्भेन साकं व्रजति भजति वा तत्प्रमाणानुकारौ, इत्थं
मिथ्या प्रतीतिः स्फुरति तनुभृतां विश्वतस्तद्वदात्मा ॥ (शतश्लोक ६१)

यद्वत्पीयूषरश्मौ दिनकरकिरणै र्विम्बितैरेति सान्द्रं,
नाशं नैशं तमिस्रं ग्रहगतमथवा मूर्छितैःकांस्य पात्रे ।



तद्वत् बुद्धौ परात्मद्युतिभिरनुपदं विम्बिताभिः समन्तात्,
भासन्ते हीन्द्रियास्य प्रभृतिभि
रनिशं रूपमुख्याः पदार्थाः ॥



(शतश्लो. ५३)

जिस प्रकार कुम्भ (घट) के उत्पन्न होने से पूर्व भी आकाश था और घटध्वंस के बाद भी आकाश की सत्ता पूर्ववत् रहती है । घटध्वंस से आकाश में किसी भी प्रकार की विंकृति नहीं देखी जाती । घट उत्पत्ति कालानन्तर घट उत्पन्न हुआ यह प्रत्यय सर्वजनीन होता है । परन्तु घट को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर कुम्भ (घट) के साथ आकाश जाता है अर्थात् गमन करता है, यह जो प्रमाणानुकार प्रतीति है मिथ्या है; क्योंकि आकाश के व्यापक और निरवयव होने से सह गमनत्व या सहभजनत्व सम्भव नहीं है। ठीक उसी प्रकार आत्मा के व्यापक एवं निरवयव होने के कारण शरीरधारियों में आत्मा चलता है, खाता है, पीता है जैसी प्रतीति भी मिथ्या बौद्धिक स्फुरण मात्र है । (शतश्लोकी ६१)

जिस प्रकार पीयूषरश्मि (चन्द्रमा) में सूर्य किरणों के पड़ने पर उसका बिम्ब गाढ़ा हो जाता है तथा वही किरण अन्य ग्रहों पर पड़ने पर कहीं नाश, कहीं निशाभाव, कहीं तामिस्र (घोरान्धकार) को प्राप्त होता है अथवा जिस प्रकार कांश्य पात्र में सूर्य किरण पड़ने पर उसमें एक प्रकार की द्युति की प्रतीति होती है; उसी प्रकार जीवात्मा में आत्मद्युति के किरण के पड़ने पर प्रतिबिम्ब प्रकाश से इन्द्रियाँ विभिन्न स्वरूप के पदार्थ को भासित (प्रकाशित) करती हैं । (शतश्लोकी ५३)

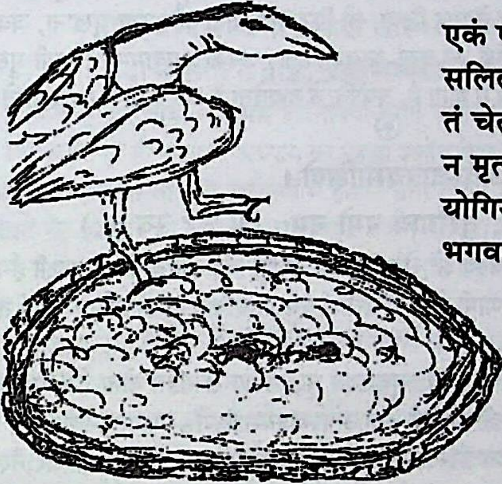
वेद–

१. सद्भावं साधयन्तीति वेदाः–विद् सत्तायाम् ।

२. विदन्ति वेदनहेतुभूताः वेदाः–विद् विचारणे ।

३. ब्रह्माधीनं परमात्मानं लभन्त इति वेदाः–विद् लाभे ।

४. परमात्मानं विदन्ति यैर्वेदनहेतवः–विद् ज्ञाने ।



एकं पादं नोच्चरति,
सलिलाददं स उच्चरन् ।
तं चेत्सततमृत्विजम्,
न मृत्युर्नामृतं भवेत्,
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति
भगवन्तं सनातनम् ॥ (सनत्सुजातीयम्)

वेद शब्द की व्युत्पत्ति– 'वेद'–विद् सत्तार्थकधातु से वेद का अर्थ—जो सद्भाव को साधे वह वेद है। 'विद्' विचारणार्थक धातु से वेद शब्द का अर्थ वेदन का जो हेतुभूत तत्त्व (ब्रह्म) उसका विचार जिसके द्वारा किया जाय, वह वेद है । 'विद्' लाभार्थक धातु से वेद का अर्थ है—वेद (ज्ञान) के अधीन परमात्मा को जिसके द्वारा प्राप्त किया जाय, वह वेद है । 'विद्' ज्ञानार्थक धातु से वेद का अर्थ–जिसके द्वारा सर्ववेदन का हेतु परमात्मा के ज्ञान की प्राप्ति हो, वह वेद कहलाता है ।

उस सनातन पुरुष भगवान् का योगीजन तप-योग-भक्ति अथवा ज्ञान के द्वारा दर्शन करते हैं, जो एक पद को तो स्थिर कर रखे है अर्थात् जिस चरण से वे (गमन)-विचरण अथवा क्रिया नहीं करते। उस पद का ऋत्विग् लोग दर्शन करते है और वह पद न तो मृत्यु और न ही अमृत होता है।

• • ❀ • •

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्षमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीर्निद्राश्मशाने वने ।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु, शय्यामही
सञ्चारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणि ।।

(वि.चू. ५३९)

"चिन्ताशून्य" पद्य भगवान् श्रीशङ्कराचार्य द्वारा रचित विवेक-चूड़ामणि ग्रन्थ का है। सर्वदा स्व-स्वरूप में स्थित रहने वाले महापुरुष के लिए सम्पूर्ण शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेध से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, फलस्वरूप उनके रहने की कोई सीमा रेखा बनाना असम्भव है, अत: भाष्यकार कहते हैं-

आत्मज्ञ होने के कारण सर्वत: चिन्ताशून्य पुरुष का भिक्षान्न ही भोजन तथा नदियों का जल ही पान होता है, क्योंकि उसमें दीनता का अभाव है । विधि-निषेध के ऊपर होने के कारण वे स्वतन्त्र हैं, अत: उनकी स्थिति निरङ्कुश होती है । निर्भय होने के कारण वे चाहे श्मशान हों या वन, सुखपूर्वक निद्रा लेते हैं । जब दिशाओं को ही वस्त्र रूप में मान लिया, तो फिर क्या धोना और क्या सुखाना, जब भूतल को ही शय्या बना लिया तो फिर पर्यङ्क की क्या आवश्यकता, उनका आवागमन विषयी पुरुषों की गलियों में नहीं, अपितु वेदान्त-वीथियों में होता है, क्योंकि वे ब्रह्मवेत्ता हैं और उसी में रमण करते हैं ।

• • ✿ • •

**अवस्थात्रयहीनाय अवस्थात्रयसाक्षिणे ।**
**चिदानन्दस्वरूपाय, तुरीयाय नमो नमः ।।(१४ स्व.कृ.)**

**अर्थ**—आत्मतत्त्व तीनों ही अवस्थाओं से रहित है, क्योंकि वह इन तीनों का साक्षी है । अत: चिदानन्दस्वरूप है, क्योंकि वह अपरिणामी है, ऐसे तुरीय तत्त्व परिशेषात् सबसे अलग चतुर्थ तत्त्व है, उसको बारम्बार नमन है ।

**अवस्थात्रयहीनाय**—तुरीय तत्त्व बाल्य, युवा एवं वृद्धावस्था से रहित होता है । ये अवस्थायें दृश्यमान जगत् के सभी वस्तुओं में देखी जाती है तथा अवस्थात्रयसाक्षिणे—जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति का भी वह साक्षी है; क्योंकि वह सच्चिदानन्दस्वरूप है । चिदानन्दस्वरूपाय—साधनान्तर नैरपेक्ष्येण स्वयंप्रकाशमानतयेतर पदार्थावभासक यत् तच्चित् और यही उसके साक्षित्व होने का कारण भी है; क्योंकि साक्षी कभी भी परम्परया किसी का द्रष्टा नहीं होता, आनन्दः—आङ् उपसर्गपूर्वक टुनदिसमृद्धौ (भ्वादि.) धातु से घञ् प्रत्यय कर आनन्द शब्द की सिद्धि होती है, जिसका तात्पर्य सर्वसमृद्ध्यर्थक होता है। आनन्दः सुखस्वरूपम् सुखं द्विविधम्—सातिशयन्निरतिशयञ्च। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति (बृ.उ. ४/३/२) निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव । आनन्दो, ब्रह्मेति व्यजानात् (तै.उ. ३/६) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ.उ. ३/१८)

अष्टावक्र जी ने भी—

**यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत् ।**
**आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर ।।**

जिस अधिष्ठान सत्ता में रज्जु में सर्प की तरह दृश्यमान प्रपञ्च अज्ञान-से कल्पित होकर भासित हो रहा है, वह आनन्द-परमानन्द बोध स्वरूप और कोई नहीं तुम्ही हो, ऐसा जानकर सुख से विचरण करो ।

भगवान् भाष्यकार ने विवेक-चूड़ामणि में—

**प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं, निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ।**

वह तत्त्व शान्त, आदि-अन्तरहित, अक्रिय और सदैव आनन्दस्वरूप है । स्वरूप पद लक्षण का वाचक है ।

**तुरीयायु नमो नमः**—अवस्थायें तीन मानी जाती है, जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति । इनकी अपेक्षा से आत्मतत्त्व को तुरीय कहते हैं । आत्मा में तुरीयत्व की कल्पना भी अविद्या के कारण ही वस्तुतः अवस्थातीत साक्षी के लिये तुरीयत्व की कल्पना साधक के बोधार्थ ही है, यथार्थ नहीं ।

**यदा चायं न बिभेति, यदा चास्मान्न बिभ्यति ।**

**यदा नेच्छति न द्वेष्टि, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।** (महाभा.शा. २५०)

**सम्बन्ध—यदा चायं**—यह पद्य शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के दो सौ इक्यावनवें अध्याय का पाँचवाँ श्लोक है । दो सौ पचासवें अध्याय का पहला श्लोक शुक उवाच है, जिसमें शुकदेव जी के प्रश्न करने पर भगवान् व्यास जी पाँच अध्यायों में इसका उत्तर देते हैं । शुकदेव जी के—यस्माद् धर्मात् परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन । यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान् प्रब्रवीतु मे ।। अर्थात् हे पिताजी ! इस लोक में जिस धर्म-से पर माने सर्वश्रेष्ठ कोई दूसरा धर्म नहीं है तथा जो सभी धर्मों से विशिष्ट है, विशेष रूपेण शिष्टों के द्वारा अनुष्ठित है, उसको आप मुझसे चाहिये ।

इस प्रश्न के उत्तर देने के क्रम में भगवान् व्यास जी ने कहा- हे पुत्र ! 'यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति' । यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।

**अर्थ**—बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला यह पुरुष जिस समय दूसरे प्राणियों से भयभीत नहीं होता और दूसरे प्राणी भी इससे भयभीत नहीं होते तथा जब यह अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं का परित्याग कर देता है, फलस्वरूप किसी से द्वेष भी नहीं करता, कारण द्वेष का कारण इच्छा ही है, उसी समय उसके द्वारा ब्रह्मभाव की प्राप्ति कर ली जाती है ।

**व्याख्या—च**—और, **अयं** = बुद्धि के द्वारा अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लेने वाला यह पुरुष, **यदा** = जिस समय, किसी-से भी, **न बिभेति** = भयभीत नहीं होता है, **च** = और, **यदा** = जिस समय **अस्मात्** = इस संयमित पुरुष से भी, **न बिभ्यति** = कोई भी प्राणी भय को प्राप्त नहीं होता, **यदा**= जिस समय यह पुरुष, **नेच्छति** = किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता, क्योंकि काठकश्रुति कहती—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमर्त्य भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ।। जिस समय हृदय में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का अभाव हो जाता है, उसी समय पुरुष को ब्रह्म का अनुभव हो जाता है; क्योंकि कामनाओं का उदय तब होता है, जब व्यक्ति अपने को अपूर्ण जानता है, वस्त्वपेक्ष होकर वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल जाता है, फलस्वरूप उसके हृदय में कामनाओं का उदय होता है और वह उसी कामनाओं की पूर्ति में लगा रहता है । **न द्वेष्टि**—जिस समय यह किसी-से द्वेष भी नहीं करता, राग-द्वेष दोनों ही असत्य में अभिनिवेश के कारण होता है । जो वस्तु अपने लिये अच्छी होती है, उसके प्रति राग होता है, और इसके विपरीत द्वेष एक की प्राप्ति में तो एक की निवृत्ति में राग होता है, इसी प्रकार एक की निवृत्ति में, तो दूसरे प्राप्ति में । **तदा**—उस समय उसे ब्रह्म-स्वरूप का सम्पद्यते—सम्यक् अनुभव हो जाता है ।

ब्रह्मानुभूति में बाधक क्या है, क्यों नहीं स्वरूप का अनुभव होता है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर भगवान् व्यास कहते हैं।

**कामबन्धनमेवैकं, नान्यदस्तीह बन्धनम् ।**
**कामबन्धनमुक्तो हि, ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। (९/२५२)**

**अर्थ**—इस संसार में बन्धन का कोई कारण है, तो वह है 'काम' इससे भिन्न तो दूसरा कारण हो ही नहीं सकता, जो इस 'काम' अर्थात् कामना रूपी बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह साक्षात् ब्रह्म ही है

**व्याख्या—इह**—परिदृश्यमान प्रतिक्षण परिवर्तनशील विनाशी इस संसार में, एकम् एव निश्चित रूप से एक ही बन्धनम्—बाँधनेवाली वस्तु है, और वह काम-(कामना) है, इच्छा है। 'काम' का तात्पर्य "इदं मे स्यात् इदं मे स्यात् इति इच्छा कामशब्दिता" यह वस्तु मुझे मिल जाय; इस तरह की जो चाहना हुआ करती है, उसे ही काम या कामना कहते हैं।

भगवान् श्रीशंकराचार्यजी ने गीताभाष्य में 'काम' व्याख्यावसर में 'कामयन्ते इति कामाः" (१६/११) अर्थात् पुरुष जिन शब्दादि विषयों की कामना करता है, वे शब्दादि विषय ही काम हैं। वहीं (उसी अध्याय में)

**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।**
**कामः क्रोधस्तया लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्येजत् ।। (१६/२१)**

**शाङ्करभाष्य**—त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ इदं द्वारं नाशनम् आत्मनो यद् द्वारं प्रविशन् एव नश्यति आत्मा कस्मैचित् पुरुषार्थाय योग्यो न भवति इति एतद् अत उच्यते द्वारं नाशनम् आत्मनः इति।

नरक की प्राप्ति में द्वारभूत त्रिविध कामादि आत्मा का नाश करने में कारण हैं, जिस द्वार में प्रवेश करने मात्र से आत्मा विनाश को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् किसी पुरुषार्थ के योग्य वह नहीं रहता। एतस्मात् कारणात् भगवान् ने कहा ये आत्मा का विनाश करते हैं, अतः नरक के द्वार हैं। सम्पूर्ण आसुरी सम्पदा का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। अकं दुःखं भवन्ति नरान् नरकस्थितान् मनुष्यान् येभ्यः कामदिभ्यः तदेव कामादि द्वारं मार्गः। आत्मा की उपलब्धि का जो द्वार था, वही आत्मा का विनाश कर नरक अर्थात् नीचयोनि की प्राप्ति का द्वार हो गया, यही आत्मा का नाश करना है, अतः मुमुक्षु को इनका त्याग कर देना चाहिये।

भगवान् भाष्यकार ने सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह में—"काम एव यमः साक्षात्" "यमस्य कामस्य च तारतम्यम्, विचार्यमाणे महदस्ति लोके। हितं करोत्यस्य यमोऽप्रियः सन् कामस्त्वनर्थं कुरुते प्रियः सन्॥

यमोऽसतामेव करोत्यनर्थं सतां सु सौख्यं कुरुते हितः सन्। कामः सतामेव गतिं निरुन्धन् करोत्यनर्थं ह्यसतांनुकाकथारा॥ काम ही साक्षात् यम है, यदि इनकी आपस में तुलना की जाये, तो यम की अपेक्षा काम ही इस संसार में बलवान् है, यमराज तो अप्रिय होकर पुरुष का हित करता है, किन्तु दुष्ट मित्र की तरह काम प्यारा बनकर विनाश कर देता है।

यम तो असाधु पुरुषों के लिये हि अनर्थ का दुःख का कारण होते हैं, साधु पुरुषों के नहीं, किन्तु काम तो ज्ञान को ढककर साधु पुरुषों तक का विनाश कर देता है, फिर असाधु पुरुषों की तो बात ही क्या।

कामबन्धनमुक्तो हि–जो कामनारूपी बन्धन से मुक्त है, तो इस काम विजय अर्थात् कामबन्धन से छूटने का क्या उपाय है ? उत्तर में भगवत्पाद कहते हैं—

**सङ्कल्पस्य परित्याग उपाय सुलभो मतः ।।**
**श्रुते दृष्टेऽपि वा भोग्ये यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि ।**
**समीचीनत्वधीत्यागात्कामो नोदेति कर्हिचित् ।।**
**कामस्य बीजं सङ्कल्पः सङ्कल्पादेव जायते ।**
**बीजे नष्टेऽकुर इव तस्मिन्नष्टे विनश्यति ।।**

काम बन्धन-से मुक्त होने का सरल-से-सरल उपाय है कि साधक संकल्प का भली-भाँति अर्थात् पूर्णरूपेण परित्याग कर दे । वह त्याग किस प्रकार-से करे ? इस पर कहते हैं- ऐहिक-आमुष्मिक चाहे जो भी वस्तु देखने, सुनने या अनुभव में आती हो, उन सबमें समीचीनत्व बुद्धि का अर्थात् यह अच्छी है; यह बुरी है का त्याग कर दे, बस फिर कभी भी कामनाओं का उदय नहीं हो सकता, क्योंकि यह अच्छा है; यह बुरा है ऐसा चिन्तन ही संकल्प है, जोकि काम की बीज है, जब बीज ही नष्ट हो गया, तो फिर अंकुर कहाँ होगा । अनर्थ परम्परा की ही निवृत्ति हो जायेगी। और वह जो साक्षात् ब्रह्म है, अनुभव में आ जायेगा।

• • ❁ • •

**तृष्णा बद्धं जगत्सर्वं, चक्रवत्परिवर्तते ।**
**सर्वं संसारसूत्रं हि तृष्णा सूच्या निबध्यते ।।** (महाभा० शा० ११७)

**अर्थ**—तृष्णा-से बंधा यह सम्पूर्ण जगत् सर्वदा चक्र के समान घूमता ही रहता है । यह सारा संसार क्या है ? एक धागा है, जो तृष्णारूपी सूची (सूई) में बड़ी अच्छी तरह से पिरोई हुई है, सूई जिधर-जिधर जाती है, धागा भी उसके पीछे-पीछे उधर ही जाती है । तृष्णा के कारण ही व्यक्ति देव, मनुष्य तीर्यक् योनियों में घूमता रहता है । (महाभा०शा० ११७)

• • ❁ • •

**वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।**
**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।११।।**
**तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।**
**पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्याश्रुतगृहीतया ।।१२।।**

**अर्थ**—तत्त्व को जाननेवाले तत्त्वज्ञमुनि जिस अद्वितीय अखण्डानन्दस्वरूप ज्ञान को तत्त्व कहते हैं । कोई उसे ब्रह्म, कोई परमात्मा, कोई भगवान् विभिन्न-विभिन्न नाम रूपों से स्व-स्वभाव के अनुसार स्मरण करते हैं । **शब्द्यते शब्दतः कथ्यते** । शब्दों के द्वारा वर्णन करते हैं (कहते हैं) ।।११।

**अर्थ**—श्रुतगृहीतया—भागवत के श्रवण से प्राप्त ज्ञान वैराग्ययुक्त भक्ति (परमप्रेम) से श्रद्धालु मुनिगण स्वहृदय में उस परमतत्त्व को देखते हैं, अनुभव करते हैं ।।१२।।

• • ❁ • •

"अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचः"

यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति तपोभिर्ब्रह्मणः पदम्।

दानैर्भोगानवाप्नोति ज्ञानाद् ब्रह्माधिगच्छति ।। (सू.सं. २/१६/५८)

अशरीरो महानात्मा सुखदुःखैर्न बाध्यते ।

क्लेशमुक्तः प्रसन्नात्मा मुक्त इत्युच्चेत बुधैः ।। (सू.सं. २/१६/६४)

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिटं वरिष्ठम् ।।११।।

अर्थ—यज्ञों के द्वारा मनुष्य देवत्त्व को प्राप्त करता है, तप से वह ब्रह्माजी के पद को भी प्राप्त कर लेता है, दान-से उसे भोगों की प्राप्ति होती है, किन्तु ज्ञान-से वह ब्रह्मस्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अर्थ—महान् अर्थात् श्रुतिपूज्य सर्वव्यापक नित्य प्राप्त आत्मा कभी भी सुख एवं दुःखों से बाधित (हर्षित या दुःखित) नहीं हो सकता, जबतक की उसका शरीर के साथ सम्बन्ध न हो। शरीर जड़ है, उसे सुख-दुःख कहाँ और आत्मा चेतन है, अच्छेद्य है, अदाह्य है, तो फिर सुख-दुःख होता किसे है ? क्यों है ? चिज्जड़ के सम्बन्धजन्य अहंकार से युक्त जीव को।

अर्थ—यह अमृतस्वरूप सर्वावभासक ब्रह्म ही पुरस्ताद सामने है। पश्चात् पीछे भी ब्रह्म ही है। दाहिने और बायें ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही ऊपर और नीचे है। यह सम्पूर्ण जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

समुद्र में कोई बहुत नीच चला जाय तो उसके चारों ओर ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाहिने-बायें, दसों दिशाओं में एक ही जल विद्यमान रहता है, वैसे सर्वव्यापक ब्रह्म के विषय में समझना चाहिये।

तात्पर्य है कि यद् यच्छृणोति श्रोत्राभ्यां तत्तद् ब्रह्मेति भावयेत्।

जो कुछ कानों-से सुने, नेत्रों से देखे, नाक-से सूँघे, जिह्वा-से आस्वाद ले, त्वचा-से स्पर्श करे, वह सब ब्रह्म ही है; ऐसा विचार करे।

• • ❀ • •

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमसङ्गः परमेश्वरः ।

सदा मत्संनिधानेव चेष्टते सर्वमिन्द्रियम् ।। (२/२०)

१. दृश्यस्य वास्तवत्वाभिमानात्मिका ।

२. साभिनिवेशष्यवदारहेतुः ।

३. देहाभास जगदवभासहेतुः ।

१. युक्तिशास्त्रजनित विवेकः ।

२. तत्त्वसाक्षात्कारः ।

३. प्रारब्धकर्म नाशः ।

तस्याभिधनाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ।।

**अर्थ**—देखता हुआ, श्रवण करता हुआ, छूता हुआ, ग्रहण करता हुआ भी; सर्वदा जिसे यह निश्चय बना रहता है कि मैं अकर्ता, अभोक्ता, असङ्ग परमेश्वर हूँ, सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ मेरे सांनिध्य से चेष्टाशील है, वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता, वह कभी विषयों से लिप्त नहीं होता, न कर्म का बन्धन ही उसे होता।

**अर्थ**—१. दृश्यमान् जगत् के वास्तव होने के अभिमान की स्वीकृति।

२. अभिनिवेशपूर्वक व्यवहार का कारणत्व।

३. देह एवं जगत् के अवभास का हेतु। देह, जगत् का चेतन प्रतीत होना।

**अर्थ**—१. शुद्धान्तःकरण में प्रस्फुटित युक्ति एवं शास्त्र जन्य विवेक की प्राप्ति।

२. तत्त्व का साक्षात्कार।

३. प्रारब्ध कर्म का नाश।

ब्रह्म के अभिध्यान, उसकी योजना तथा ब्रह्मभाव से अन्त में इस विश्वमाया की निवृति होती है।



**१. सालोक्यरूप—तपःश्रद्धावताम्।**

**२. सामीप्यरूपा—ऊर्ध्वरितसाम्।**

**३. सारूप्यरूपा—ऐश्वर्यविशिष्टोपासकस्य।**

**४. सायुज्यरूपा—सगुणं अहं ग्रहणोपासकस्य।**

**५. स्वरूपावस्था (कैवल्यमुक्ति)—निर्विशेषसाक्षात्कारवतः।**

**सम्बन्ध**—विश्व माया कि निवृत्ति का निरूपण कर माया निवृत्ति के पश्चात् होने वाली मुक्ति के भेद का निरूपण करते हैं।

**अर्थ**—१. अपने इष्टदेवता के लोक की प्राप्ति। यह मुक्ति तपस्या एवं श्रद्धा से युक्त पुरुषों को मिलती है।

२. अपने इष्टदेवता के लोक में उनके समीप उपस्थित रहना सामीप्य मुक्ति है। यह मुक्ति उन महात्माओं को मिलती है, जो ऊर्ध्वरिता हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्य का सम्यक् पालन किया है।

३. इष्ट देवता के सदृश रूप, ऐश्वर्यादि की प्राप्ति को सारूप्य मुक्ति कहते हैं। यह परमात्मा के ऐश्वर्य विशिष्ट रूप के उपासकों को मिलता है।

४. उपास्य देवता के साथ तादात्म्य होना सायुज्यमुक्ति है। यह सगुण देवता की अहंकारपूर्वक की गई उपासना वालों को मिलती है।

५. स्वस्वरूप में अवस्थित होना कैवल्यमुक्ति (केवल एक ब्रह्म तदतिरिक्त का बाध) यह सम्पूर्ण विशेषणों से रहित ब्रह्मसाक्षात्कार करनेवाले पुरुषों को मिलती है।



**कैवल्यमुक्तिः - सुखदुःखवर्जिता।**

**षड्भावविक्रियाहीना शुभाशुभवर्जिता।**

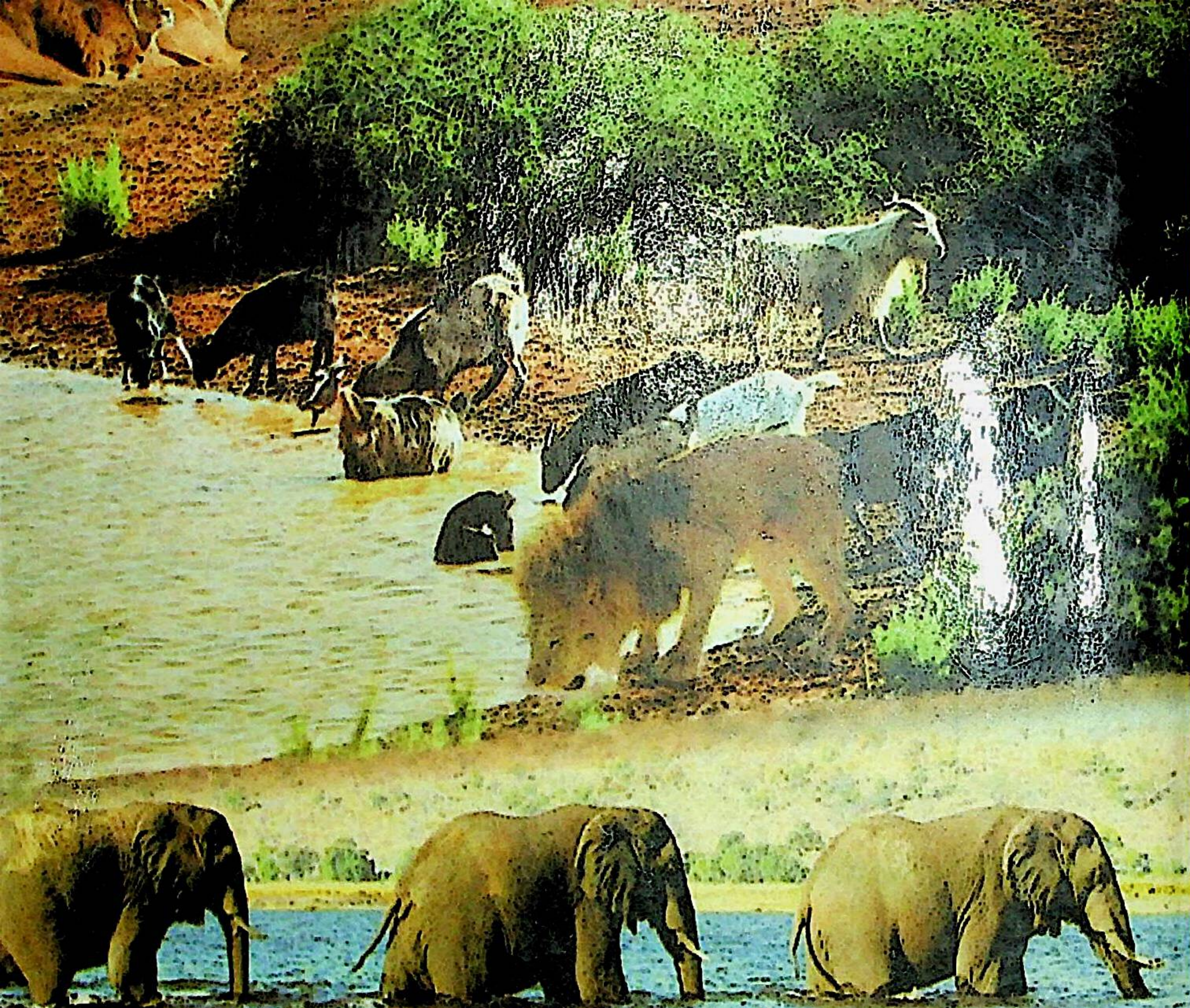
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ता सत्यविज्ञानरूपिणी।।
केवलं ब्रह्मरूपोक्ता सर्वदा सुखलक्षणा।
न हेया नाप्युपादेया सर्वसम्बन्धवर्जिता।।
न दृष्टा न श्रुता विष्णो न चाऽऽस्वाद्या न तर्किता।
सर्वावरणनिर्मुक्ता लक्ष्यलक्षणवर्जिता।
सर्वेषां प्राणिनां साक्षादात्मभूता स्वयंप्रभा।।
प्रतिबन्धविनिर्मुक्ता सर्वदा परमार्थतः।
अविचारदशायां तु प्रतिबद्धा स्वमायया।।
एषैव परमा मुक्तिः प्रोक्ता वेदार्थवेदिभिः।

**अर्थ-** ज्ञानस्वरूप कैवल्यमुक्ति-विषयसंयोगवियोगजनित सुखदुःखादि वर्जित है। यह षड्भावविकारों (षड्भावविकाराः-जायतेऽस्ति विपरणिमते विवर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति) से रहित है। पुण्य-पापजन्य शुभाशुभ फलों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। सत्यविज्ञानरूपिणी कैवल्यमुक्ति राग-द्वेषादि सम्पूर्ण द्वन्द्वों से मुक्त है। वह केवल ब्रह्मरूप कही गई है और सर्वदा सुखस्वरूप (आनन्दस्वरूप) है। अपना स्वरूप होने से त्यागने में अशक्य है और नित्य ही प्राप्त होने-से ग्राह्य भी नहीं है। सर्वसम्बन्धरहित होने से ममतादिजन्य दुःखों से रहित है। न तो वह आँखों से देखा जा सकता है, न कानों से सुना जा सकता है। वह रसना का भी विषय नहीं है। व्यापक होते हुए भी वह तर्क के द्वारा समझा नहीं जा सकता, वह तर्क का विषय भी नहीं है।

वह अविद्या के आवरण से मुक्त होते हुए भी केवल बहुश्रुत या मेधा-के द्वारा विज्ञेय नहीं और नहीं किसी के आश्रय ही है। ब्रह्मस्वरूप कैवल्य मुक्ति वाच्य-वाचक, लक्ष्य लक्षकादि भावों से सर्वथा अस्पृष्ट है। स्वयंप्रकाश स्वरूप है, सम्पूर्ण प्राणियों का साक्षात् आत्मा ही है। कैवल्य मुक्ति का कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है। सर्वदा परमार्थ है। विचार के अभाव दशा में अपनी माया से ही प्रतिबद्ध हो जाता है। वेदान्तविद् महात्मा गण कैवल्यमुक्ति को ही परमा (सर्वश्रेष्ठ) मुक्ति कहते हैं।








सम्पर्क सूत्र

# पवन कुमार

498/28 साउथ सिविल लाइन,

मुज्जफरनगर, उत्तर प्रदेश पिन कोड : 251001

फोन नं. : 09359984709

काशी मुमुक्षु भवन सभा, विट्ठौ चौक, अस्सी, वाराणसी

फोन नं. : 09359984709